पुराण पुरुष
योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में

ग्रन्थकार योगाचार्य श्री अशोक कुमार चट्टोपाध्याय अध्यात्म जगत में एक विश्ववरेण्य व्यक्तित्व हैं। ये 'World Kriyajoga-Master' है। समग्र भारतवर्ष में धर्म निर्विशेष रूप से हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, बौद्धों, जैनों एवं बांग्ला, हिन्दी, उड़िया, असमिया, तेलगू, मराठी, गुजराती, मलयालाम भाषाभाषियों में इनके शिश्य अनुगामी भरे पड़े हैं। भारतवर्ष के बाहर भी यथा अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्राँस, स्पेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया द० कोरिया, बांग्लादेश सह अन्य अनेक देशों में इनके बहुत से भक्त शिष्य हैं। भारतीय सनातन धर्म के ध्रुवतारा योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय की योगसाधना, जो 'क्रियायोग' के नाम से सुपरिचित है, के प्रचार व प्रसार के उद्देश्य से समग्र भारत सह पृथ्वी के विभिन्न देशों का अक्लान्त भाव से इन्होनें भ्रमण किया है। इनके जीवन का एक ही उद्देश्य है और वह है योगिराज के आदर्श, उनकी योगसाधना एवं उनके उपदिष्ट ज्ञान भण्डार को पृथ्वीवासियों के समक्ष प्रस्तुत कर देना ताकि वे सत्यलोक एवं सत्य पथ का संन्धान पा सकें। इसी उद्देश्य से अपने असाधारण पाण्डित्य के बल इन्होंने रचना की है बांग्ला भाषा में विभिन्न ग्रंन्थों की यथा–'पुराण पुरुष योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी', 'प्राणामयम् जगत', 'श्यामाचरण क्रियायोग व अद्वैतवाद', 'योग प्रबन्धे भारतात्मा', 'सत्यलोके सत्यचरण', 'के एइ श्यामाचरण' एवं सम्पादन किया है पाँच खण्डों में प्रकाशित 'योगिराज श्यामाचरण ग्रन्थावली' का। भारत के विभिन्न भाषाओं यथा हिन्दी, उड़िया, तेलगू, मराठी, गुजराती, तमिल सह अंग्रेजी एवं फ्राँसीसी

प्रकाशक :
अलोक चटर्जी
योगिराज पाब्लिकेशन
''ऊषालोक''
२६ए/१, एस. बी. नियोगी गार्डेन लेन,
कलकत्ता–७०० ०३६
फेक्स : ९१-३३-५७७ ५९८६
ई-मेल : yogiraj@Cal-12.vsnl.net.in
ओयेव साईट : http://w w w.yogiraj.com

Publisher :
Alok Chatterjee
Yogiraj Publication
"Ushalok"
26A/9, S.B. Neogi Garden Lane,
Calcutta-700 036
Fax : 91-33-577 5986
E-mail : yogiraj@Cal-12.vsnl.net.in
Website : http://w w,w.yogiraj.com

प्रथम हिन्दी संस्करण - एवसन्त पंचमी, २ फरवरी १९८४
अष्टम हिन्दी संस्करण - डिसेम्बर, २०००
नवम हिन्दी संस्करण - जानवरी, २००२

ISBN 81-900381-5-X

मूल्य : एक सौ बीस रूपये मात्र

मुद्रण :
रॉयल् हाफ्टोन कँ०
४, सरकार बई लेन
कलकत्ता-७०० ००७

जिल्द :
स्वरूप बाईन्डर्स
४३, महेन्द्र गोस्वामी लेन,
कलकत्ता-७०० ००६

Scanned by CamScanner

—तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

अनुक्रम :

प्रस्तावना

महामहोपाध्याय स्वर्गीय गोपीनाथ कविराज महाशय एवं अन्य अनेक महानुभावों की आन्तरिक इच्छा थी कि मैं अपने पितामह दिवंगत श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय की पूरी जीवनी लिखूँ। जीवनी लिखने के प्रति सबों का आग्रह इसलिए भी था कि मेरे पास पूज्य स्वर्गीय पितामह की स्वहस्त-लिखित २६ डायरियाँ हैं एवं मैं बराबर अपने पिता के निकट रहा हूँ; एवं उनका स्नेहपात्र था।

पौराणिक युग के समस्त ऋषि एवं मुनि गृहस्थ थे, उन्होंने गृहस्थाश्रम में रहकर साधना द्वारा जिस तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त की थी। वह इन दिनों अबतक हजारों वर्षों के भीतर भी उपलब्ध नहीं; किन्तु लाहिड़ी महाशय ने गृहस्थ आश्रम का आजीवन पालन करते हुए तथा सरकारी सेवा में कार्य-रत रहकर पेन्शन प्राप्त करने तक और अन्त में प्राइवेट नौकरी करते हुए भी, इन सब के बीच साधना द्वारा जिन सब प्रत्यक्ष अनुभूतियों एवं दर्शन, श्रवण आदि के माध्यम से जिस आध्यात्मिक जगत का सन्धान किया; वह निःसन्देह इस युग में अन्य किसी के द्वारा सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि योगमार्ग में प्रत्यक्ष अनुभूति-सम्पन्न साधक इस युग में महात्मा कबीरदास के पश्चात् एकमात्र लाहिड़ी महाशय ही हुए हैं। अनेक लोगों की ऐसी धारणा थी—विशेष रूप से उनके शिष्यों के बीच ऐसी मान्यता थी कि कबीरदास ने ही इस जन्म में उत्तम ब्राह्मण-कुल में जन्म ग्रहण किया है हालांकि इसका कोई साक्षात या ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी कबीरदास की वाणी एवं लाहिड़ी महाशय की लिपिवद्ध अनुभूतियाँ जो उनकी हस्तलिखित डायरियों में प्राप्त होती हैं उससे लगता है, यही धारणा सही है। कबीरदास मरते समय तक गृहस्थ थे। और लाहिड़ी महाशय भी गृहस्थाश्रमी थे। कबीरदास ने कहा है— 'झीनी-झीनी चदरिया बीनी रे।" उनका पालन-पोषण जुलाहे के घर में हुआ, वे ताँत बुनने का काम किया करते। किन्तु हमेशा साधना की परावस्था में रहा करते। यही स्थिति लाहिड़ी महाशय की भी थी। वे हमेशा क्रिया की परावस्था में रहकर सारा काम करते। यह बड़ी

ही आश्चर्यजनक अवस्था है। इसी अवस्था की ओर संकेत करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्ज्जुन।" 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि। जिन्होंने उनका दर्शन किया है और उनके सान्निध्य में रहे हैं तथा उनके चरणों में आश्रय प्राप्त किया है। ऐसे अनेक व्यक्तियों द्वारा उनकी इस अवस्था के बारे में सुना है; हालांकि मैं स्वयं उनका सगा पौत्र हूँ एवं इस परम पवित्रकुल में जन्म लिया है; किन्तु उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाया। उनके महाप्रयाण के नौ वर्ष पश्चात् मेरा जन्म हुआ, पता नहीं, पूर्वजन्म में भी उनके साथ कोई सम्पर्क था या नहीं, फिर भी लगता है एक आध्यात्मिक सम्बन्ध अवश्य था। जिन्हें देखा नहीं और जिनकी संगत में रहा नहीं तथा जिनके साथ प्रत्यक्षतः कोई परिचय नहीं, उनके प्रति इतना अनुराग, इतनी श्रद्धा; भक्ति क्यों है, यह तो अन्तर्यामी ही जानते हैं। वे मेरे जीवन के जीवन थे; वे ही हमारे आराध्यदेव हैं और वही मेरे सर्वस्व हैं।

बार-बार लोग यही आग्रह करते रहे हैं कि मुझे लाहिड़ी महाशय का सम्पूर्ण जीवन-चरित लिखना ही होगा; किन्तु खेद का विषय है कि मैं साहित्यिक नहीं हूँ, किस प्रकार लिखना चाहिए, यह भी नहीं जानता। इसके पूर्व अनेक लोगों ने उनकी जीवनी लिखी है और अनेक मासिक पत्र-पत्रिकाओं में भी यदाकदा प्रकाशित हुई है; वह सब किम्वदन्ती जैसी ही हैं। लेकिन मुझे उनके चरणों का ही भरोसा है।

"विश्व तुम्हारी पूजा करता, यही बात मन में मँडराती
मेरी पूजा बिना तुम्हारी पूजा तो अपूर्ण रह जाती
तुम तो मेरे ईश्वर प्रभु हो, मैं हूं दास तुम्हारा
मेरी पूजा बिना रहे बाकी स्तवन तुम्हारा।"

उनकी मूर्ति के समक्ष यदि प्रतिदिन गीता-पाठ न करूँ तो लगता है जैसे वे रुष्ट हो गए हैं। ईश्वर ने ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि वे जिस प्रकार मेरे प्रिय हैं उसी प्रकार मैं उनका प्रिय पौत्र हूँ। इसीलिए उनके विषय में आलोचना करना मेरे पक्ष में अनाधिकार चेष्टा नहीं होगी एवं दो एक बात न कहने से भी काम नहीं चलेगा। मुझे आशा है कि वे निश्चय ही अपने प्रिय पौत्र को क्षमा करेंगे।

मैंने देखा कि मेरे द्वारा पितामह की पूरी जीवनी लिखना मेरे लिए सम्भव नहीं; क्योंकि प्रथमतः मुझे लिखने का अभ्यास नहीं है। इसके अलावा समय भी नहीं निकाल पाता। कुछ समय आध्यात्मिक साधना में बीत जाता है अपराह्न में तीन घन्टे, पाठ भजन, कीर्तन इत्यादि में बीत जाते हैं। प्रतिदिन कुछ चिठ्ठियों का उत्तर देना पड़ता

है। लोगों का आना-जाना, भेंट-मुलाकात, कथावार्ता, बातचीत, आलोचना-चर्चा आदि में काफी समय बीत जाता है परमहंस योगानन्द की Autobiography of yogi (योगी कथामृत) एवं शंकरनाथ राय के 'भारत के साधक' के अन्तर्गत पितामह की संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित होने से सारे विश्व के लोग आते रहते हैं एवं नाना प्रकार की चर्चा करते हैं।

१९७९ के नवम्बर महीने में पितामह की जीवनी लिखने के सम्बन्ध में उत्साह एवं तत्परता के साथ कलकत्ता गया एवं वराहनगर स्थित 'शान्ति-नीड़' के श्री अशोक कुमार चट्टोपाध्याय के पाँच तल्ले स्थित निवास-स्थान पर १८ दिन तक अज्ञातवास में रहा। काशी से पितामह की स्वहस्तलिखित समस्त डायरियाँ एवं अन्यान्य जो आवश्यक पुस्तकें थीं; सभी साथ लेता गया और श्रीमान् अशोक को समस्त तथ्य जुटाकर दिया और अनेक मौखिक बातें, जिन्हें मैं जानता था, वह भी संक्षेप में लिखवा दिया। पितामही, पिता-माता, दो बुआ एवं पितामह के बहुत पुराने शिष्यों के मुख से जो कुछ सुना है, स्मृति के आधार पर जहाँ तक जितना सम्भव हुआ वह भी संक्षेप में लिखा दिया। श्रीमान् अशोक ने उन सब का चयन एवं संकलन करके जीवनी के आकार में अत्यन्त परिश्रम के साथ लिखा है। तत्पश्चात 'विश्वभारती' के अध्यापक डॉ० शिवनारायण घोषाल शास्त्री ने प्रस्तुतग्रन्थ का यथासाध्य सशोधन किया है। दोनों ही मेरे स्नेहपात्र हैं; अतः अत्यन्त निष्ठा से अपने इस कार्य का सम्पादन किया है इस सम्बन्ध में मुझे कोई सन्देह नहीं।

पितामह ने अपने गुरुदेव के निकट जिस अमूल्य योग-साधना को प्राप्त किया और उनके आदेशानुसार संसार को प्रदान किया, वह सब प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है; अनुमान का नहीं। यहाँ पाण्डित्य के लिए कोई गुंजाइश या अवकाश नहीं।

अगर कोई गूँगा या बहरा है तो वह भी आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश कर सकता है। एवं प्रत्यक्ष अनुभूति के माध्यम से ईश्वर तत्त्व का अन्तरंग और बहिरंग पक्ष, सब कुछ देख-सुन और समझ सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। हजारों वर्ष पहले आर्य ऋषियों ने जिस साधना-मार्ग को दिखाया; कालान्तर में वह लुप्त हो गया। कुछ-कुछ साधना-प्रणाली बीज मंत्र के रूप में सुरक्षित है; किन्तु समय के उलट-फेर से साधना की क्रियाएँ लुप्त हो गईं; केवल बीज मंत्र रह गए। परिणामतः साधना की क्रियाओं के लुप्त हो जाने से बीज मंत्र निष्क्रिय एवं मृतप्राय हो गए। उस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। किन्तु उन क्रियाहीन बीजमंत्रों को वर्तमान काल में गुरु, शिष्य के कान में दे देते हैं और इस तरह कान फूँकने से ही दीक्षा हो गई। अतः

क्रिया अथवा प्रक्रिया का यथार्थ परिचय न होने के कारण न तो शिष्य का उपकार होता है और न गुरु का। इस प्रकार मंत्रों की जानकारी से वंश-परम्परा द्वारा गुरुगीरी की जा सकती है अथवा मठाधीश और महन्त हुआ जा सकता है। और साधारण सरलमना लोगों को आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है। धर्म के नाम पर यह खिलवाड़ और व्यावसायिकता की स्थिति को अपने देश में देखकर कबीर ने अत्यन्त दुख के साथ कहा है—

कान फूँकने का गुरु और है,
बेहद का गुरु और,
बेहद का गुरु जो मिले
पहुंचा देवै ठौर।

ठौर का अर्थ है धाम। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने उसी धाम की चर्चा की है—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''। अर्थात् जहाँ जाने या पहुँचने पर फिर पुनरावंतन नहीं होता, वही मेरा परम धाम है। 'मम', 'धाम' इन शब्दों के गहरे अर्थ को जिस प्रकार लाहिड़ी महाशय ने समझाया है, वह प्रत्यक्षदर्शी साधक के अतिरिक्त कौन समझ सकता है। महाभारत का युद्ध अठारह दिनों में समाप्त हुआ था; किन्तु प्रवृत्ति एवं निवृत्ति इन दो पक्षों का युद्ध अनन्त काल से जारी है। जन्म-जन्मान्तर में भी समाप्त होने वाला नहीं—तो फिर इसकी निष्पत्ति का उपाय क्या है?

इस उपाय के लिए जिस साधन पद्धति अर्थात् जिस कर्मयोग के आधार पर उसकी निष्पत्ति हो सकती है उसे लाहिड़ी महाशय ने अपने गुरु के निकट से प्राप्त करके संसार को दिया है। इस प्रवृत्ति एवं निवृत्ति पक्ष का पारस्परिक युद्ध सब के भीतर चल रहा है। यदि प्रवृत्ति-पक्ष विजयी होता है तो फिर मनुष्य का अत्यन्त मूल्यवान जीवन निष्फल है, विफल है। प्रवृत्ति पक्ष का अर्थ है—बहुत कुछ की मांग और निवृत्ति पक्ष का अर्थ है—खाने-पहनने का यथा साध्य निम्नतम प्रयोजन, अर्थात् अल्प में ही सन्तुष्टि। इसीलिए देखा जाता है कि दुर्योधन बिना युद्ध के सुई की नोक बराबर भूमि भी नहीं देगा; किन्तु दूसरे पक्ष में युधिष्ठिर पाँचों भाइयों के लिए पाँच गाँव पाने से ही खुश। अर्थात् एक पक्ष आसक्तिमय है और दूसरा पक्ष अनासक्त है।

सभी विषयों में इस प्रकार अनासक्त नहीं होने से साधना में विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। 'मैं अनासक्त हूँ' यह मौखिक रूप से कहने पर तो अनासक्त नहीं हुआ जा सकता। आखिर अनासक्त होंगे कैसे? इस प्रश्न की भूमिका में पहले यह समझना होगा कि

आसक्ति आती है कहाँ से ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से होती है ? यह एक सुविदित तथ्य है कि प्रत्येक जीव-देह में प्राण स्थिर रूप में वर्तमान है। उस स्थिर प्राण के चंचल होने पर मन की उत्पत्ति होती है जिसे जीव का चंचल मन कहा जाता है। इस चंचल मन को ही जीव मन कहा जाता है। इस चंचल मन को ही जीव, मन के रूप में जानता-मानता है। उसी चंचल मन से ही आसक्ति की उत्पत्ति होती है। तो फिर आसक्ति शून्य होने के लिए मन को निर्मना स्थिति में लाना होगा। अर्थात् मनःशून्य होना होगा। किस उपाय से मनःशून्य हुआ जा सकता है अर्थात् मनन तत्त्व का किस प्रकार नाश किया जाय, उसका या साधन-कौशल गीता एवं पातंजल योग-दर्शन में स्पष्ट रूप से वर्णित है। किन्तु वर्तमान काल में उस साधन-कौशल को प्रत्यक्ष करने वाले जैसे लोगों का अभाव है।

इन समस्त शास्त्रों एवं ग्रन्थों की व्याख्या या टीका अनेक विद्याव्रती श्रेष्ठ विद्वानों एवं पण्डितों ने प्रस्तुत की है। दार्शनिक व्याख्या, बौद्धिक व्याख्या, शास्त्रीय व्याख्या जैसी आदि अनेक व्याख्याएँ हैं किन्तु साधना द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवगत अथवा उपलब्धिगत व्याख्याएँ प्रायः किसी ने नहीं प्रस्तुत की है। जिन समस्त महायोगियों अथवा महापुरुषों ने साधना के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है उन्होंने; सम्भवतः जान-बूझकर ही कुछ भी आभास नहीं दिया; क्योंकि वे जानते थे कि जो साधन-सापेक्ष एवं अनुभवगम्य है उसे मौखिक रूप से अवथा लिखकर समझाने से, कौन समझेगा ? जिस प्रकार चीनी स्वयं न खाकर या चखकर, क्या दूसरों की बात सुनकर चीनी खाने का स्वाद समझ में आ सकता है? कालान्तर में यह विज्ञानसम्मत साधन-कौशल लुप्त होने के उपक्रम से जुड़ गया। लाहिड़ी महाशय के गुरुदेव जिन्हें वे बाबाजी कहा करते एवं उनकी स्वहस्त लिखित दैनिकी में केवल 'बाबाजी' यही लिखा है. इससे अधिक हमें और कोई परिचय प्राप्त नहीं होता, उन्हें अपने कौशल या चमत्कार से रानीखेत ले जाते हैं और दीक्षा प्रदान करते हैं। पूर्वजन्म से ही उनके साथ गुरु-शिष्यका सम्पर्क था, यह स्पष्ट एवं भली भाँति समझ में आता है। दीक्षा-प्राप्त करने के पश्चात् लाहिड़ी महाशय जब काशी में थे तब गुरुदेव के साथ उनकी आध्यात्मिक बातचीत हुआ करती, जो उनकी डायरी से परिष्कृत रूप में प्रकट होता है और लाहिड़ी महाशय ने अपने गुरु 'बाबाजी' से लुप्त प्राय उस विज्ञानसम्मत साधन पद्धति एवं कौशल को पुनः प्राप्त करके संसार को प्रदान किया।

साधारणतः देखने में आता है कि अधिकांश लोग हठयोग का ही अभ्यास करते हैं और वे कई आसनों-मुद्राओं आदि का अभ्यास करके ही यह सोचते हैं कि योगाभ्यास कर रहे हैं। यद्यपि इनके अभ्यास से शारीरिक उपकार अवश्य होता है, किन्तु इस उपाय द्वारा शरीरस्थ आत्मा का कोई सन्धान नहीं मिलता और मन भी स्थिर नहीं होता और मन की स्थिरता के बिना साधन-क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसके लिए राजयोग की आवश्यकता है। केवल मन की स्थिरता से ही सफलता नहीं प्राप्त होगी या मन की चंचलता बहुत कुछ कम हो जाने से भी काम नहीं चलेगा। इस सन्दर्भ में जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं होता; ब्राह्मी स्थिति प्राप्त नहीं होती और भ्रूमध्य के स्थान पर कूटस्थ चैतन्य का दर्शन नहीं प्राप्त होता, तबतक मनुष्य-जीवन सफल नहीं होता—

'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥'

इसके लिए राजयोग चाहिए—हठयोग एवं लययोग का एक साथ समावेश प्रयोजनीय है। राजयोग द्वारा मन स्थिर होगा; लययोग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होगा एवं इन सब साधनों का अभ्यास करने से शरीर में जो क्लान्ति या थकान आती है उसे दूर करने के लिए हठयोग की आवश्यकता है। एक आसन से बहुत देर तक अभ्यास करने में जो जड़ता आ जाती है, वह हठयोग के द्वारा दूर होती है।

हम ईश्वर को वैकुण्ठ में खोजते हैं, क्षीरसागर में ढूढ़ते हैं, तीर्थ, मन्दिर और मस्जिद में तलाशते हैं; किन्तु अपने शरीर के भीतर भ्रूमध्य के स्थान पर जो सदैव विराजमान है, उसका पता नहीं जानते और उसे ढूँढ़ने, खोजने का आग्रह भी नहीं जाग्रत होता, जब कि इस देह-पुर के भ्रूमध्य-स्थान में वह प्रत्यक्ष देवात्मा विराजमान है। उसके दर्शन करने की बात सभी ऋषियों ने एक वाक्य में व्यक्त किया है और उसकी साधना-पद्धति और कौशल प्राप्त करने का मार्ग प्रदर्शित किया है; किन्तु कालान्तर में वह लुप्त हो गया। उसका प्रधान कारण साधन-सापेक्षता है। क्योंकि इस साधन को सम्पन्न करने में कुछ समय एवं धैर्य की जरूरत होती है, जिसे कोई करना नहीं चाहता। उसका भी एक मुख्य कारण यह है; इन दिनों कुछ ऐसा युग-प्रचलन ही है कि अनेक गुरु इस प्रकार प्रचार करते हैं कि सर पर हाथ रखते ही समाधि लग जाती है, मन स्थिर होता है और क्या-क्या बहुत कुछ होता है। इस वजह से कोई समय नष्ट नहीं करना चाहता। किन्तु तनिक गहराई से विचार करने पर सभी समझ सकते हैं कि जिसे प्राप्त करने के लिए

पृथ्वी या संसार की सारी सत्ता-सम्पदा के त्याग की आवश्यकता है, उसे इतनी सहजता से कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? यह बात सभी को माननी होगी कि इस देह-मन्दिर में ऐसा एक देवता है जो चित्-स्वरूप में जीवात्मा के नाम से भ्रूमध्य-स्थान में विराजमान है। ऐसी एक सत्य वस्तु का सन्धान न करके व्यर्थ ही भरमते, भटकते रहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के बारे में हम सुनते आए हैं कि इन तीनों देवों को भी पर्दे की आड़ में रहकर जो नित्य नचाते हैं, वे किसी दिन भी बाहर नहीं आते, और आएँगे भी नहीं फिर भी उन्हें खोजना या सत्य-वस्तु का संधान करना ही तो जीवन का परम आनन्द है। हम आर्य-धर्मावलम्बी भारतवासी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव या महेश को मानते आए हैं; किन्तु संसार के अन्य लोग इन सब देवताओं का नाम तक नहीं जानते। लेकिन, सृष्टि, स्थिति, लय तथा सत्व, रजः तमः इन गुणों की कोई उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि ये तीनों स्थितियाँ एवं गुण कहां नहीं हैं यानी सभी वस्तुओं में सर्वत्र इनकी व्याप्ति है। इनके कार्यों शक्तियों के अनुसार साकार मूर्ति की कल्पना दार्शनिक तत्त्व के माध्यम से की गई है। यदि किसी प्रकार मन स्थिर हो जाता है तो इन रूपों का दर्शन प्राप्त होता है। यह मन की स्थिरता की एक अवस्था अवश्य है और कुछ आभास भी मिलता है; किन्तु यह मायिक है, भ्रमात्मक है। क्योंकि ये रूप यदि सत्य एवं नित्य होते तो किसी भी देश के निवासी या धर्मावलम्बी व्यक्ति मन के स्थिर होते ही इनका दर्शन प्राप्त करते; किन्तु ऐसा नहीं होता; बल्कि उनका जिन विषयों के प्रति बोध जाग्रत है या उनकी जो धारणा है, उसी का ही दर्शन होता है; लेकिन भ्रूमध्य के स्थान पर मन स्थिर होने पर जिस जीवात्मा या कूटस्थ ब्रह्म का दर्शन होता है, वह सब के लिए सुलभ होगा और संसार के समस्त साधकों को भी उसका दर्शन प्राप्त होगा। वहाँ कोई भिन्नता या विलगाव नहीं है। परमात्मा तो हमारी पहुँच या सीमा के बाहर है किन्तु जीवात्मा अथवा कूटस्थ ब्रह्म हमारी सीमा और पहुँच के भीतर है। यही 'घट-घट विराजे राम' का दर्शन है। इतनी बड़ी एक सत्य वस्तु का सन्धान हम क्यों नहीं कर पाते ? इसका कारण है, मन की चंचलता—तो फिर मन चंचल क्यों होता है। प्राण चंचल है, इसलिए मन भी चंचल है. प्राण की चंचलता का नाम ही मन है। यदि किसी प्रकार प्राण को स्थिर किया जा सके तो मन भी स्थिर होता है। फिर किसी उपाय के द्वारा यदि मन को स्थिर किया जाए तो फिर प्राण भी स्थिर होता है। मन की अपेक्षा प्राण कुछ स्थूल है। हम स्वेच्छा पूर्वक प्राण को कुछ क्षण के लिए अवरुद्ध कर सकते हैं; किन्तु मन का

अवरोध अत्यन्त कठिन है। इसीलिए प्राण को स्थिर करने का श्रेष्ठ उपाय प्राणायाम है। नदियों में गंगा, मंत्रों में प्रणव और तीर्थों में जिस प्रकार काशी श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार जितने भी साधन या उपाय हैं उनमें प्राणायाम श्रेष्ठ है और यह शास्त्र-सम्मत है, सर्वमान्य है।

प्राणायाम अनेक प्रकार के हैं, उनमें सुषुम्ना के अन्तर्गत जो प्राणायाम है, वह श्रेष्ठ है। यह प्राण ही मुख्य प्राणवायु के रूप में इस देह के भीतर रमण करता है। शरीर के पाँच स्थानों पर रहने के कारण इसके पाँच नाम हैं—प्राण, अपान समान, उदान और व्यान; ये पाँच वायु यदि शरीर में समान रूप से स्थित रहें तो फिर मन स्थिर रहता है। यदि किसी कारणवश कोई विकार उत्पन्न होता है तो ये चंचल हो जाते हैं। जिस प्रकार वात, कफ पित्त ये यदि तीनों समान रूप से रहें तो फिर शरीर में कोई रोग नहीं रहता और यदि किसी कारणवश विकार उत्पन्न हो जाए तो फिर उन कारणों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे ठंड लगने पर कफ आश्रय ले लेता है—इत्यादि। जिससे यह पंचवायु स्थिर रहे उसी का साधन या उपाय लाहिड़ी महाशय ने हमें प्रदान किया है। प्राणायाम के द्वारा प्राण एवं अपान वायु स्थिर होते हैं; नाभि क्रिया द्वारा प्राण वायु स्थिर होता है और महामुद्रा द्वारा उदान तथा व्यान वायु स्थिर होते हैं। इस प्रकार पंचवायु के स्थिर होने से ही मन स्थिर होता है और मन स्थिर होने से ही आत्म-साक्षात्कार होता है। आत्म साक्षात्कार, योनिमुद्रा द्वारा होता है। समस्त इन्द्रिय-द्वार बलपूर्वक रुद्ध करके मन को चारों ओर से समेट कर भ्रूमध्य में स्थापित करके निर्दिष्ट मार्ग से अभ्यास करते-करते उस अविज्ञेय आत्मा का दर्शन पाकर साधक कृत-कृत्य हो जाते हैं। 'रथे च वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' अर्थात् इस शरीर रूपी रथ में स्थित उस वामन देव अथवा अंगुष्ठ-प्रमाण पुरुष का दर्शन करके जन्म को सफल करते हैं। इस पुरुष का जो दर्शन प्राप्त करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता; वे हमेशा के लिए मुक्त हो जाते हैं। पुरुषोत्तम योग के यही वह पुरुष हैं जिनका दर्शन पाकर साधक का जीवन कृतार्थ हो जाता है। कबीर दास ने बड़े सुन्दर ढंग से इस रहस्य को व्यक्त किया है

"मरते-मरते जग मरा, मरना न जाना कोय।
ऐसा मरना कोई न मरा, जो फिर ना मरना होय॥
मरना है दुइ भांति का जो मरना जाने कोय।
रामदुआरे जो मरे, फिर ना मरना होय॥"

अर्थात् इस संसार में प्रति दिन लोग मर रहे हैं; किन्तु हाय, अफ़सोस है कि ऐसा मरण किसी का नहीं हुआ, कि पुनः मृत्यु न हो। संसार में

मृत्यु दो प्रकार की होती है एक तो साधारण मृत्यु जो नित्य हो रही है और एक है असाधारण मृत्यु जिसे 'रामदुआर' की मृत्यु कहते हैं अर्थात् राम के दरवाजे पर मृत्यु। साधारण आदमी सोचते हैं, यह किसी राम-मन्दिर के समक्ष मरने को बात है। किन्तु यह 'रामदुआर' क्या है। इसी रहस्य को लाहिड़ी महाशय ने बताया है कि 'रामदुआरे' अर्थात् भ्रूमध्य के स्थान में कूटस्थ प्राण एवं मन को स्थापित करके जो उस परम पुरुष का दर्शन करते-करते देह का त्याग कर देते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यह अत्यन्त वास्तविक, और सच्ची साधना है सिर्फ बात ही नहीं है। जो जीवन भर अभ्यास कर सकते हैं उन्हीं के पक्ष में यह सम्भव है। यही तो क्रियायोग की साधना का उद्देश्य और फल है। इस प्रकार की मृत्यु प्रत्यक्ष आँखों से देखा है, इसीलिए इतनी दृढ़ता के साथ कहने में सक्षमता का अनुभव कर रहा हूं। यह केवल सुनी हुई ऐसी-वैसी बात नहीं है; बल्कि आँखों देखा दृश्य है कितनी अद्भुत थी वह मृत्यु। अपने पिता की मृत्यु मैने अपनी आँखों से देखा; और भी कितने लोगों ने देखा। उन्होंने समस्त प्राणवायु को सम्यक प्रकार से भ्रूमध्य के स्थान पर खींचकर मन को वहाँ पूरी तरह स्थापित करके देह-त्याग किया। उस समय भ्रूमध्य के स्थान पर इतना कम्पन हो रहा था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। लग रहा था, जैसे कोई एक गोली भीतर से ठेलती हुई बाहर निकली आ रही थी। उस वक्त वे मूर्त्तिवत स्निग्ध तथा प्रशान्त थे। सुन्दर स्निग्ध देह कितनी सुदर्शन थी; और समस्त शरीर लाल गुलाब के टटके फूल जैसा खिला हुआ हो गया।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक स तं पर पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

वह इतना अपूर्व दृश्य था, जैसे साक्षात् महादेव सोए हों। भ्रूमध्य का स्थान थरथर काँप रहा है। उसी समय मेरे पितामह के एक शिष्य वंशीधर खत्री ने मुझसे कहा—"देखिए, सत्य बाबू, गीता के अष्टम अध्याय के दसवें श्लोक से मिला लीजिए। इसे ही 'रामदुआर' कहते हैं; यही ब्राह्मी-स्थिति है।"

यह 'रामदुआर' एक दिन की चेष्टा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए समस्त जीवन या आजीवन योग-साधना की आवश्यकता है। इसीलिए गीता में कहा गया है—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।" स्वधर्म अर्थात् आत्मधर्म अथवा आत्मधर्म स्वरूप क्रियायोग का अनुशीलन करते-करते यदि मृत्यु होती है तो वह अच्छी है; किन्तु परधर्म अर्थात् देह

धर्म यानी इन्द्रिय धर्म भयावह है; क्योंकि उसमें जन्म एवं मृत्यु अनिवार्य है।

लाहिड़ी महाशय ने अध्यात्मराज्य या क्षेत्र में प्रवेश करने का मार्ग जिस प्रकार दिखाया है वैसा सम्प्रति किसी द्वारा संभव नहीं।

उनके गुरुदेव बाबाजी महाराज के सम्बन्ध में अनेक लोगों ने अनेकों काल्पनिक कथाएँ गढ़ रक्खी हैं। संभवतः अपनी मर्यादा-वृद्धि के लिए ही ये कल्पनाएँ गढ़ी गई हैं। पितामह के जीवन-काल में कई महानुभावों ने उनसे बाबा जी के दर्शन करने का आग्रह व्यक्त किया था। उनमें पितामह के साले के पुत्र तारकनाथ सान्याल भी थे। मैंने तारकनाथ बाबू के मुँह से सुना है कि लाहिड़ी महाशय ने कहा था कि बाबा जी महाराज दर्शन नहीं देंगे तब भी हम चेष्टा करेंगे। उन्होंने चेष्टा भी की थी; किन्तु दर्शन नहीं मिला। तारकनाथ बाबू अत्यन्त निष्ठावान एवं उन्नत प्रकार के श्रेष्ठ क्रियावान थे।

इसके अतिरिक्त रामपदारथ नाम के और एक भक्ति परायण उन्नत प्रकार के क्रियावान के मुँह से सुना है कि मेरे पिता ने एक आसन से चौदह घण्टा क्रियायोग की साधना करके 'बाबा जी महाराज' का दर्शन प्राप्त किया था। यह उस समय की घटना है जब पितामह जीवित थे। पितामह अचानक बाबा जी महाराज को इस प्रकार सूक्ष्म शरीर में देखकर अवाक् हो गए और जिज्ञासा प्रकट की कि "आप इस समय हठात् क्यों ?"

बाबा जी महाराज ने उत्तर दिया—"तिनकौड़ी खूब स्मरण कर रहा था।"

इस घटना के पश्चात् पितामह ने पिताजी को मना किया था कि इस प्रकार बाबा जी को कष्ट न दिया जाए। इन सब बातों की जानकारी जब रामपदारथ से प्राप्त हुई; तब पिताजी जीवित थे। इस बात की सत्यता के बारे में जब मैंने उनसे पूछा—तब उन्होंने कहा—"किसने बताया ?" मैंने रामपदारथ का नाम लिया फिर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया बल्कि उल्टे विरक्त हुए। पिता जी अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के थे और स्वयं को इतना लुका-छिपाकर रखते कि उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। इस समय मैं चार बाबा जी के बारे में जानता हूं—और भी कितने बाबा हैं, कह नहीं सकता। अनेक लोग कहते हैं—"अभी तो बाबा जी का दर्शन करके आया। और वही लोग मेरे पास क्रियायोग साधन की दीक्षा प्राप्त करने के लिए आग्रह भी करते हैं। मैं उन्हें उत्तर देता हूं—"जब स्वयं बाबा जी महाराज के साथ भेंट कर आए तब उनसे क्रिया-साधन की दीक्षा न लेकर मेरे पास क्यों आए ?"

इस प्रकार कुछ लोग स्वयं को प्रतिष्ठित करने के लिए कृष्ण-सदृश महापुरुष बाबा जी महाराज को लघु बनाते हैं।

जिस अमर विज्ञानसम्मत सहज योग साधन को लाहिड़ी महाशय ने हमें दिया है उसका अल्पांश भी यदि कोई करे तो उसका महान कल्याण होता है; इसमें कोई सन्देह नहीं। वस्तुतः यह भगवत वचन भी है—"स्वल्पमस्य, धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" इससे मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक दुख से त्राण मिलता है। लाहिड़ी महाशय के जीवन का यह प्रधान विषय है कि उन्होंने उस अपूर्व साधन को प्राप्त करके केवल स्वयं ही धन्य नहीं हुए बल्कि उनकी कृपा से और भी अनेक व्यक्ति धन्य हुए हैं। परम शान्ति प्राप्त की है, परम गति प्राप्त की है। यह सब अपनी आँख से देखा है लाहिड़ी महाशय ने बिना किसी कृपणता के उस महान योगसाधन को परवर्ती लोगों को प्रदान किया है। विज्ञानसम्मत इस 'क्रिया योग साधन' को जिसे उन्होंने संसार को प्रदान किया है, वह 'ज्ञान विज्ञान सहितं' है; इस सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह नहीं; वह अतुलनीय है। प्रत्यक्ष अनुभव दर्शन श्रवण इत्यादि के माध्यम से उन्हें जो प्राप्त था, उसे बिना किसी प्रकार की कृपणता के हमें प्रदान किया है जिसे कबीरदास की भाषा में इस प्रकार कहा गया है—

लिखालिखी का बात नहीं
देखा देखी की बात
दुलहा दुलहिन मिल गए
फीकी पड़ी बरात।

अर्थात् लिखालिखी की बात नहीं, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है उदाहरण देते हुए कहते हैं कि विवाह के समय कितने वरयात्री या बाराती, बाजे, रोशनी आदि की सजावट के साथ बारात में शामिल होते हैं; किन्तु ज्योंही वर-कन्या का मिलन होता है उसके बाद ही सभी अपने-अपने स्थान की ओर लौट जाते हैं अर्थात् साधक जब प्रकृति-पुरुष अथवा जीवात्मा और परमात्मा के साथ मिलने में समर्थ हो जाते हैं, तभी क्रिया की परावस्था में पहुँच जाते हैं। यह अवस्था स्वयं बोधगम्य है। गीता की अनेकों व्याख्याएँ उपलब्ध हैं; देखने में आता है कि वे सभी शास्त्रीय, बौद्धिक अथवा दार्शनिक तत्त्वों पर आधारित व्याख्यायें हैं किन्तु अनुभवगत व्याख्या एकमात्र लाहिड़ी महाशय ने ही प्रस्तुत किया है अथवा उनके आश्रित, अनुयायी साधकों ने किया है। किन्तु मूल में वही है। गीता के श्री 'भगवानुवाच' इसका अर्थ उन्होंने किया है—"कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है।" कितनी अपूर्व व्याख्या है,

सचमुच मन में तृप्ति और शीतलता का अनुभव होता है। महाभारत के १८ दिन व्यापी युद्ध में श्री कृष्ण ने अर्जुन को रथ पर बैठा कर साक्षात् रूप से उपदेश दिया था; किन्तु इस देह-रथ की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का युद्ध १८ जन्म में भी समाप्त होने वाला नहीं। श्री कृष्ण उस देह को त्याग कर चले गए; किन्तु उसके भीतर जिन कृष्ण का अस्तित्व वर्तमान है वे तो अब भी प्रत्येक देह-रथ में वर्तमान हैं। और चिरकाल तक रहेंगे। क्योंकि वे अविनाशी हैं। उनकी वर्तमानता के कारण ही हम सब कुछ अनुभव करते हैं; वे ही इस देह-रथ के भीतर बैठकर उपदेश कर रहे हैं। भगवान ने ही फिर कहा है—"हे अर्जुन मैं भी नहीं रहूंगा, तुम भी नहीं रहोगे।" तो फिर रहेगा क्या? 'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।' अर्जुन के प्रति लक्ष्य करते हुए कह रहे हैं, हे जगतवासी, उस ईश्वर की शरणागति प्राप्त करो, उसके प्रसाद या उसकी अनुकम्पा से ही परम शान्ति एवं शाश्वत-पद की प्राप्ति होगी। जो ईश्वर हमारे भीतर वर्तमान है उसकी शरण किस प्रकार प्राप्त की जाए? उसके लिए मन को किस प्रकार तैयार करना चाहिये।

यही सब कुछ लाहिड़ी महाशय ने संसार को दिया है। उन्होंने आजीवन गृहस्थ आश्रम में रहकर आदर्श गृहस्थ के रूप में साधना के जिस उच्च स्तर को प्राप्त किया था, वह हजारों वर्ष के भीतर देखने में नहीं आता। न जाने कितने दण्डी, सन्यासी, त्यागी एवं गृहस्थ उनका आश्रय पाकर धन्य हुए हैं। उसकी कोई सीमा नहीं। जिन लोगों ने उनका दर्शन किया है निकट से देखा है, उन लोगों के मुँह से सुना है कि कोई अपरिचित व्यक्ति भी उनके दर्शन मात्र से नतमस्तक हो जाता। केवल इस एक श्लोक के माध्यम से ही उनकी जीवनी या उनके जीवन-चरित्र का परिचय दिया जा सकता है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षीभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरु तं नमामि॥

यही उनका जीवन्त एव सदीप्त जीवन है। उनका सार उपदेश है—"क्रिया करो एवं क्रिया की परावस्था में रहो।" बाहरी वेश परिवर्तन, किसी प्रकार का बाह्याडम्बर गोष्ठी या दल-गठन यह सब वे पसन्द नहीं करते थे बलिक कहा करते थे कि सड़े-गले पोखर में ही दल-दल होता है।

देखा जाता है कि ईश्वर ने जगत की रचना के साथ साथ लाखों प्रकार के प्राणियों की भी रचना या सृष्टि की है। अपने द्वारा रचित

Scanned by CamScanner

सभी जीवों को ही उन्होंने तैरने की शिक्षा देकर भेजा है। कोई जीव-जन्तु जल में गिर पड़ने से आसानी के साथ अच्छी तरह तैरकर बाहर निकल आता है। उन सबके प्रति ईश्वर सदय, दयावान रहे, किन्तु अपनी सर्वापेक्षा उत्कृष्ट रचना मनुष्य के प्रति वे निर्दय एवं निष्ठुर हो गए, उसे तैरने की शिक्षा नहीं दी; किन्तु उन्होंने ऐसा क्यों किया निश्चित रूप से इसका कोई उद्देश्य है। वह यह है कि उन्होंने मनुष्य से कहा कि तुम्हें तैरना सीख कर पार करना होगा; क्योंकि तुम्हें विवेक बुद्धि दी है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार मां कितने कष्ट से रसोई बनाती है और अपनी सन्तान को जतन से खाना परोस देती है। सन्तान के लिए यदि अपने हाथ से खाना सम्भव नहीं तो वह उसे अपने हाथ से उसके मुँह में दे देती है; किन्तु सन्तान को तो स्वयं उसे गले के नीचे उतारना होगा। जैसे किसी एक के भोजन करने लेने पर दूसरे का पेट नहीं भरता उसी प्रकार प्राणकर्म ईश्वर-साधन स्वयं को ही करना पड़ेगा दूसरों के करने से नहीं होगा।

केवल भाषा-ज्ञान अथवा लिखने का अभ्यास रहने से ही इस प्रकार का ग्रन्थ नहीं लिखा जा सकता। इसके लिये साधन-लब्ध अनुभव एवं अनुभूति की आवश्यकता है। यद्यपि श्रीमान अशोक कुमार चट्टोपाध्याय लेखक नहीं हैं फिर भी उन्हें यह ग्रन्थ लिखने को कहा। इसका कारण यह है कि वे एक उन्नत क्रियावान होने के नाते समस्त विषयों को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। मेरे अन्यतम क्रियावान शिष्य डॉ० शिवनारायण घोषाल शास्त्री ने इस ग्रंथ का संशोधन किया है। अन्त में सम्पूर्ण ग्रन्थ मैंने स्वयं देखकर प्रसन्नता का अनुभव किया है। वर्धिष्णु क्रियावान श्रीसुबोधचन्द्र मुखोपाध्याय एवं श्री प्रवीर कुमार दत्त ने स्वेच्छापूर्वक ग्रन्थ के प्रकाशन का समस्त भार वहन किया है एवं श्री अशोक कुमार को हर प्रकार का सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। अपने इन सभी स्नेह-पात्रों और क्रियावानों के प्रति हृदय से आशीर्वाद व्यक्त करता हूँ। इस सतहत्तर वर्ष की उम्र में मेरे द्वारा यह महत् कार्य सम्पन्न करना सम्भव नहीं होता। उनकी कृपा से ही यह सम्भव हुआ।

—श्री सत्यचरण लाहिड़ी

28.1.1905 ---- 22.1.1987

भूमिका

भारतमाता रत्नप्रसवित्री है। इसका आँचल उज्ज्वल, जगमगाते, जीवन्त रत्नों से भरा पड़ा है। भारत की पुण्य भूमि पर सैकड़ों ऐसे महायोगियों, महापुरुषों एवं महात्माओं का आविर्भाव हुआ है जिन्होंने मातृभूमि के गौरव में वृद्धि की है और लाखों व्यक्तियों को सत्यान्वेषण का मार्ग दिखाकर उन्हें धन्य किया है। उन तमाम महान आत्माओं, महात्माओं के जीवन की कीर्तिगाथा आज भी कानों में गूँजती है। उनके अमूल्य चिन्तन और श्रेष्ठ अनुकरणीय चरित्र ने हमारे साहित्य एवं ज्ञान के भण्डार को समृद्ध किया है। हमारा विश्वास है कि ऐसी महान आत्माएँ अतीतकाल में भी थीं आज भी हैं और कल भी रहेंगी। सामाजिक चेतना एवं जीवन पद्धति के अनुकूल महापुरुष एवं महात्मागण त्रस्त एवं भ्रान्त लोगों के जीवन का मार्ग आलोकित करते हैं। ऐसी ही युगानुकूल पथ प्रदर्शन की भूमिका में भारत माता की एक और कृती सन्तान योगिराज महातमा श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय का आविर्भाव हुआ था। अनेक महापुरुषों का जीवन चरित्र रचे जाने के बावजूद क्या इस महात्मा की जीवनी लिखने का प्रयोजन है? हाँ, क्योंकि इस महापुरुष ने साधारण मनुष्य की तरह आडम्बरहीन गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए तथा गृहस्थ के सभी कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक सूक्ष्म रूप से पालन करते हुए, आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर मानव समाज के निकट एक उज्ज्वल दृष्टान्त रखा है जिसके लिए वह इस महापुरुष का ऋणी और चिरकृतज्ञ है। इसके पहले अनेक लोगों ने ही इस महात्मा की जीवनी के सम्बन्ध में छोटे-छोटे ग्रंथों की रचना अवश्य की है; किन्तु किसी ने भी अबतक उनके सम्पूर्ण जीवन चरित की रचना प्रस्तुत नहीं की। इसी को दृष्टि में रखकर इस महान गृही योगी के अन्यतम पौत्र पूज्यपाद श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय के आदेशानुसार इस महापुरुष के जीवन चरित को लिपिबद्ध करने का साहस जुटाया है। किन्तु उन्होंने बार-बार सावधान किया है कि इस जीवन चरित में सभी सही तथ्यों एवं तत्वों का सन्निवेश होना चाहिए; किसी गलत तथ्य या तत्त्व एवं लेखक द्वारा कल्पित आधारहीन बातों

का उल्लेख न हो। जसा कि पहले के अनेक ग्रन्थों में ही उल्लेख किया गया है।

अनेक ज्ञानी-गुणी एवं क्रियावान व्यक्ति, पूज्यपाद श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय के निकट अनेक दिनों से यह अनुरोध करते आ रहे हैं कि वे अपने जीवन-काल में योगिराज श्यामाचरण की एक सम्पूर्ण एवं तथ्यात्मक जीवनी की रचना करें, अन्यथा उनकी अनुपस्थिति में सारे सही तथ्य विलुप्त हो सकते हैं। किन्तु वे वृद्धावस्था एवं समयाभाव के कारण यह कार्य सम्पन्न नहीं कर पाए। इसीलिए उन्होंने सन्तानतुल्य इस लेखक को लिखने का आदेश दिया।

मैंने उनके निकट निवेदन किया कि ऐसे महायोगी की जीवनी लिखना क्या मेरे पक्ष में सम्भव होगा ? बौना चला चाँद को छूने जैसी स्थिति है ! जिस प्रकार क्षुद्र दूब घास विशाल वटवृक्ष की ऊँचाई को नहीं माप सकती उसी प्रकार मेरे पक्ष में भी इस महायोगी की सही एवं प्रामाणिक जीवनी लिखना असम्भव जैसा महसूस हो रहा है।

पूज्यपाद श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय ने अभय प्रदान करते हुए एक अनोखी बात कही। उन्होंने कहा—'तुम चिन्ता क्यों करते हो, काम शुरू कर दो, इसके बाद जिनकी जीवनी है, वही रचना कर लेंगे। 'मैं कर रहा हूँ' इस भावना के त्याग से ही देखोगे कि वे अपना काम स्वयं ही कर लेंगे।''

इसीलिए उनकी अभयवाणी का स्मरण करके मनोबल दृढ़ हुआ एवं उस महायोगी के श्रीचरणकमल के भरोसे लिखने के कार्य में तल्लीन हो गया। श्रीकृष्ण की कृपा से जिस प्रकार पंगु भी ऊँचे पर्वत को लाँघने में समर्थ होता है उसी प्रकार इस महायोगी की कृपा से उन्हीं की जीवनगाथा की चर्चा करने में साहस प्राप्त किया। कभी कभी हाथ में कलम लेकर बैठा रहता हूँ, कुछ भी लिख नहीं पाता; किन्तु उनका स्मरण करते ही लेखनी चलने लगती है। इस प्रकार अनेक दिन एवं महीने पार हो गए और चौदह महीने बीत गए।

किसी राजनीतिज्ञ; समाजशास्त्री; कवि लेखक अथवा अन्यान्य महान व्यक्तियों की जीवनी लिखना अपेक्षाकृत सहज हैं; क्योंकि उनके जीवन में प्रायः हर दृष्टि से ही बाह्य अभिव्यक्ति होती है या उनके कार्य कलाप अत्यधिक परिचित होते हैं; किन्तु अध्यात्म जगत में योगी पुरुषों का जीवन ठीक इसके विपरीत-होता है। वहाँ बाहरी अभिव्यक्ति या कार्यकलाप का कोई संकेत नहीं होता। पूर्वोक्त व्यक्तियों की जीवनी तथ्यात्मक होती है; किन्तु महायोगियों की जीवनी अतीन्द्रिय तत्व पर आधारित होती है। इसीलिए उनकी जीवनी लिखना अत्यन्त कठिन

है। योगीगण प्रयोजनवश जिन सभी अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन किया करते हैं उनकी अपेक्षा वे जिस आदर्श की स्थापना कर जाते हैं अथवा मुक्तिपथ की खोज के लिए मनुष्य के सम्मुख जिस साधना मार्ग को प्रशस्त कर जाते हैं वह गुह्य से भी गुह्यतम है; जिस मार्ग का अनुसरण करने पर मनुष्य अपने चरम एवं परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है—उनके जीवन चरित्र का वह पक्ष ही श्रेष्ठ समझकर विवेचित होता है; क्योंकि उनके न रहने पर भी उनके द्वारा स्थापित आदर्श अथवा साधनामार्ग अनेक शताब्दियों तक गतिशील रहता है। इसीलिए इस ग्रन्थ में विशेष रूप से योगिराज द्वारा प्रदर्शित यथार्थ विज्ञान सम्मत साधन तत्त्व या साधना के मर्म तथा आदर्श के प्रति यथा सम्भव प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

सामान्य लोगों की धारणा है कि जो योगी जितना अधिक एवं बड़ी-बड़ी अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन कर सकते हैं वे उतने ही महान् हैं। किन्तु हमारी धारणा है कि सारे योगी ही अनेक अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन करने में सक्षम होते हैं। उस मानदण्ड से विचार करना और उनकी क्षमता को आँकना उनका अपमान है। तत्त्ववेत्ता योगियों को समझने के लिये वह सही मानदण्ड नहीं है। बल्कि जो योगी बिना किसी वस्तु के त्याग-परित्याग द्वारा थोड़े समय में सहज सरल योग-साधना करके साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में समर्थ हो पाए हैं वे ही सच्चे आदर्श योगी हैं। वस्तुत: उनका आदर्श ही मानव समाज में अधिक से अधिक स्वीकृति पाने की या ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करता है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को संसार अत्यन्त प्रिय है। इसलिए सांसारिकता के प्रति उसमें आसक्ति भाव प्रबल होता है। शास्त्रों द्वारा स्थापित एवं समादृत चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को ही श्रेष्ठ कहा गया है। इसीलिए वह गृहस्थधर्म का पालन करते हुए ईश्वर की साधना करना चाहता है। यह उसका स्वभाव जन्य एवं सहज मार्ग है। जो महात्मा इन गृहस्थ व्यक्तियों की तरह जीवन यापन करके घर-संसार से जुड़े लोगों के दैनिक जीवन के संघर्ष की रोशनी में उनका पथ प्रदर्शन करते हैं। उनके आदर्श को ही गृहस्थ व्यक्ति जीवन का सम्बल मान कर निरूपित करते हैं। उस दृष्टि से इस महायोगी का आदर्श सभी गृही या गृहस्थ व्यक्तियों के निकट आदरणीय एवं ग्रहण योग्य है। प्राचीन काल में ऋषियों ने भी ऐसा ही किया है।

पूज्यपाद श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय ने योगिराज की हस्तलिखित छब्बीस डायरियों से सभी तथ्यों का आकलन करके तथा

अपने परिवार के अनेक तथ्यों एवं योगिराज के जीवन की सही घटनाओं का विवरण देकर इस ग्रन्थ को समृद्ध किया है। वस्तुतः उनके सक्रिय सहयोग के बिना योगिराज के जीवन के तमाम सही तथ्यों को प्राप्त करना संभव नहीं था। इसीलिए इस अमूल्य अवदान के लिए श्रद्धावनत चित्त से उनका स्मरण करता हूं।

इस ग्रन्थ में महायोगी के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं, आदर्शों एवं साधनतत्त्व या साधना के मर्म को सटीक एवं सही ढंग से प्रस्तुत करने की दिशा में प्रायः सौ वर्ष पहले योगिराज कृत तमाम शास्त्रों एवं ग्रन्थों की दुष्प्राप्य व्याख्याओं का सग्रह करके तथा उनकी स्वहस्त लिखित छब्बीस डायरियों का विशेष रूप से अवलोकन करके उन्हें सुचारु रूप से संकलित करने का प्रयास किया गया है जो इस ग्रन्थ का मूलाधार है। इसके अतिरिक्त योगिराज का अपने जिन भक्तों के साथ पत्राचार हुआ करता था—उनके ऐसे पत्रों का संग्रह करके तथा इसके पहले अनेक छिट-पुट घटनाओं, उपदेशों एवं तमाम साधनातत्त्वो का संकलन करके मूल्यवान सामग्री का यथास्थान उपयोग किया गया है। और साथ ही योगिराज के पौत्र पूज्यपाद श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय द्वारा प्राप्त उनके पारिवारिक इतिहास एवं आदर्श का इस ग्रन्थ में सन्निवेश किया गया है। अतः उन सभी मार्ग-निर्देशकों एवं पुराने दुर्लभ पत्रों को प्रदान करने एवं प्रकाशित करने की अनुमति देने वाले महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डॉ० शिवनारायण घोषाल शास्त्री, श्री सुबोध चन्द्र मुखोपाध्याय, श्री प्रवीर कुमार दत्त, श्री अशोक कुमार सेन आदि सभी महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के लिए नाना प्रकार से सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। महायोगी के श्री चरणों में यही प्रार्थना निवेदित है कि वे इन सभी सहृदय सहयोगियों एवं भक्तों का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से कल्याण करें।

योगिराज की डायरियों एवं विभिन्न पत्रों से ली गई सामग्री एवं वक्तव्य को सीधे ज्यों का त्यों विन्यस्त किया गया है, उनमें किसी प्रकार का संशोधन या परिवर्त्तन न करके उद्धरण चिन्ह के भीतर मोटे अक्षरों में मुद्रित किया गया है ताकि उन तमाम वक्तव्यों का महत्त्व बराबर क़ायम रहे एवं भविष्य में किसी प्रकार की विकृति न आने पाए। प्रायः देखा जाता है, कि महायोगियों के सीधे-प्रत्यक्ष कथ्यों-वक्तव्यों को भावी साधक बड़ी मुश्किल से प्राप्त करते हैं क्योंकि कालान्तर में अक्सर वे विकृत रूप में उपलब्ध होते हैं। आशा करता हूँ यह प्रयास भक्त साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रसंग के अनुकूल प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न शास्त्रों से उद्‌धृत जिन समस्त श्लोकों अथवा मंत्रों आदि का उल्लेख किया गया है एवं उनकी जो व्याख्यायें प्रदान की गई हैं वे सभी योगिराज कृत व्याख्याओं अथवा उनके ही सैद्धान्तिक आदर्शों के अनुसार दी गई हैं। इसके अलावा कभी-कभी कई बातों का बार-बार उल्लेख किया गया है; इस पुनरुक्ति दोष से बचना संभव नहीं था; क्योंकि महायोगियों की अनुभूति एवं उनकी साधना के मर्म को खोलने या व्यक्त करने के लिए कोई और उपाय या विकल्प नहीं था। आशा है, इसके लिए पाठक क्षमा करेंगे।

"गुरु कृपाहि केवलम्।"

—श्री अशोक कुमार चट्टोपाध्याय

पुराण पुरुष

यो

गि

रा

ज

श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी

पुराण-पुरुष

योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी

प्रथम परिच्छेद

आविर्भाव

'श्यामाचरण इधर आओ।'

पहाड़ की घाटी में प्रतिध्वनित होती हुई यह आवाज लौटकर श्यामाचरण के कानों से टकराती है, और श्यामाचरण चौंक पड़ते हैं।

घने जंगल से घिरे इस पहाड़ी इलाके में किसने नाम लेकर पुकारा, आखिर नाम जाना भी तो कैसे? फिर श्यामाचरण ने देखा कि पहाड़ की चोटी पर एक सौम्यमूर्ति संन्यासी खड़े हैं और वे ही उनका नाम लेकर पुकार रहे हैं।

अनायास ही कार्य-कारण से रहित इस अविश्वसनीय घटना के प्रति श्यामाचरण का मन एक विचित्र आशंका से आन्दोलित हो उठा और फिर सन्दिग्ध तथा संशयपूर्ण स्थिति में श्यामाचरण आगे की ओर चल पड़े। पहाड़ की चोटी पर पहुँचकर देखते हैं कि एक महामुनि, सिद्ध महात्मा मधुर मुस्कान के साथ उन्हें अपने निकट बुला रहे हैं। महर्षि की आँखों में पितृ-स्नेह झलक रहा था। जिस प्रकार दीर्घकालीन प्रवास के पश्चात् पुत्र के वापस आने पर कोई पिता आनन्द से विभोर हो जाता है उसी प्रकार आनन्द-विभोर, प्रसन्न चित्त महामुनि श्यामाचरण को सम्बोधित करते हुए उनका स्वागत कर रहे हैं।

और फिर महर्षि ने कहा—"श्यामाचरण क्या बात है? क्या तुम मुझे पहचान नहीं पाए? क्या तुम्हें यह भी याद नहीं कि तुम इस जगह

पहले कभी आए हो ? यह व्याघ्र-चर्म और कमण्डल क्या तुम इन्हें भी पहचान नहीं पा रहे हो ? सभी कुछ भूल गए क्या ?"

श्यामाचरण कुछ भी पहचान नहीं पाए और कहा—'मैं तो कभी भी यहाँ नहीं आया ।'

'सुनो श्यामाचरण यह सब कुछ महामाया का खेल है ! उन्होंने ही तुम्हारी स्मृति पर आवरण डाल रक्खा है ।' फिर मुनिवर ने धीरे से श्यामाचरण को स्पर्श किया । पलक झपकते ही श्यामाचरण के सामने समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अदृश्य हो गया और तत्काल उन्हें अपने पूर्वजन्म की बातें याद आ गईं ।

इसके पश्चात् ही श्यामाचरण की आँखों में आँसू छलक आए और वे तुरन्त मुनिवर के चरणों पर लोट जाते हैं । उन्हें लगा कि आज उन्होंने अपने जन्म-जन्मान्तर के आत्मीय जन को पुनः पा लिया ।

युगों से सन्तप्त, दुखी गृहस्थ मनुष्य अपने अन्तर्देवता के निकट प्रार्थना निवेदित करते हुए कहता है कि—"हे महान ! अन्तर्यामी ! तुम ऐसा रास्ता दिखाओ जिस पर चलकर हम सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए तुम्हारी प्राप्ति की साधना कर सकें; क्योंकि सांसारिक जीवन से अलग रहकर तो हम साधना कर नहीं सकते । इसलिए हे महान ! तुम कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक भेजो, जो स्वयं गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए अन्य गृहस्थ व्यक्तियों को ईश-प्राप्ति का सहज और सच्चा मार्ग दिखा सके । अब तक मनुष्य द्वारा प्राप्त अनुभव एवं ज्ञान के बावजूद यही देखा गया है कि जो भी मार्ग-दर्शक के रूप में आते हैं वे या तो गृह-त्यागी एवं संन्यस्त होते हैं या फिर गृहस्थाश्रमी के रूप में दूसरों पर निर्भर रह-कर जीवन-यापन करते हैं; किन्तु साधारण गृहस्थाश्रमी की तरह स्वयं उनके बीच रहकर, उनसे जुड़कर जो सही रास्ता दिखा सकता है ऐसे पथ-प्रदर्शक का इस युग में नितान्त अभाव है ।"

—और सम्भवतः इतने दिनों बाद अन्तर्देवता ने उनकी प्रार्थना सुन ली है । इसीलिए आज कृष्णनगर (बंगाल) के समीप स्थित घुरणी गाँव का प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति असीम आनन्द में निमग्न है । गाँव के सभी स्त्री-पुरुष मंगल स्वरों में वैदिक मंत्रोच्चार के द्वारा आवाहन करके उस महा-ज्योति अथवा वृहत ज्योति का दर्शन करते हैं जो देव-शिशु का रूप धारण करके इस धरती पर अवतीर्ण होती है । उसी देव-शिशु की अमर वाणी है कि मैं तुम लोगों के बीच रहूँगा, तुम्हारी जैसी ही स्थिति में रहूँगा । जो तुम से दूर जाकर या अलग होकर पुनः तुम्हारे बीच आकर मार्ग-प्रदर्शन करते हैं, मैं उन लोगों जैसा मार्ग नहीं दिखाऊँगा बल्कि तुम सब गृहस्थ प्राणी जिस प्रकार सांसारिक जीवन में रहकर

दुःख, कष्ट, गरीबी, शोक एवं क्लेश सहन करते हुए जीवन-निर्वाह करते हों; मैं भी उन्हीं स्थितियों में रहकर तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति की साधना का मार्ग दिखाऊँगा।'

बगाब्द १२३५ (फ़स्ली सन्) १६ आश्विन (क्वार) के अपरपक्ष की सप्तमी तिथि मंगलवार (अंगरेजी तारीख ३० सितम्बर १८२८ ई०) को इस देव-शिशु ने घुरणी ग्राम के निवासी गौरमोहन लाहिड़ी (सरकार) के घर उनकी दूसरी पत्नी मुक्तकेशी देवी के गर्भ से जन्म लिया। गौर-मोहन की पहली पत्नी से दो लड़के चन्द्रकान्त और शारदाप्रसाद तथा एक लड़की स्वर्णमयी, ये तीन सन्तानें जीवित थीं। पहली पत्नी का तीर्थ यात्रा के सिलसिले में रास्ते में ही स्वर्गवास हो गया था। पत्नी की मृत्यु के कुछ दिन बाद ही गौरमोहन ने दूसरा विवाह कर लिया। प्रायः पाँच वर्ष पश्चात् दूसरी पत्नी ने सुलक्षणा नाम की एक कन्या को जन्म दिया। इस प्रकार गौरमोहन के, दोनों पत्नियों द्वारा कुल तीन बेटे और दो बेटियाँ थीं।

बंगाल का शान्तिपुर नदिया जनपद भक्ति से प्लावित एक ऐसी स्रोतस्विनी है जो अपनी भक्ति-साधना और भागवत जीवन की धारा में स्वयं भी प्रवाहित होता रहा है और दूसरों को भी अपनी आनन्द-धारा में बहाता-तैराता रहा है। आज महाप्रभु चैतन्य की उसी लीला भूमि नवद्वीप की पवित्र धरती पर एक और देव-शिशु, सन्तप्त पीड़ित एवं सांसारिक कष्टों से जर्जर गृहस्थ लोगों को रास्ता दिखाने आया है। जो अनेकों महात्माओं, मनीषियों एवं महामना पण्डितों की चरण-धूलि एवं स्मृति से निरन्तर धन्य होती रही है। उसके आंचल में फिर एक और महामानव किलकारियाँ भर रहा है। यहाँ के वातावरण में प्रसन्नता की एक लहर हिलोर ले रही है, आकाश-वातास में हर्षोल्लास की खिलखिलाहट मुखर हो उठी है। यहाँ की धरती, मिट्टी और प्रकृति ने स्नेह की स्निग्धता और श्यामलिमा के साथ उस देव-शिशु का अभिनन्दन किया।

सारा गाँव जैसे किसी पुण्य तीर्थ-स्थान के रूप में परिणत हो गया है और गाँव भर के तमाम स्त्री-पुरुष, स्वस्थ-सुन्दर कान्तिमान और गौरवर्ण उस नवजात शिशु के दर्शनार्थ लाहिड़ी के घर की ओर उमड़ पड़े। सारा घुरणी ग्राम आनन्द-सागर में तैर रहा था। गौरमोहन ने सब का मुँह मीठा किया और सभी आगत व्यक्तियों से शिशु के प्रति शुभकामना एवं स्नेहाशीष प्रदान करने का निवेदन किया।

सदाचारी, निष्ठावान तथा धर्मपरायण गौरमोहन प्रतिदिन पूजा-पाठ, धर्म-चर्चा एवं सत्संग को ही लेकर व्यस्त रहा करते थे।

योग-मार्ग की साधना के प्रति उनका विशेष झुकाव था। आसपास के इलाके में वे एक सच्चे, सत्यनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में परिचित थे। उनका शास्त्र-ज्ञान अत्यन्त गहरा था। सभी देव-देवियों के प्रति भी उनकी अपार श्रद्धा थी। उनकी पत्नी मुक्तकेशी देवी अत्यन्त निष्ठा एवं आस्था के साथ प्रतिदिन गृह-देवता शिवजी की पूजा किया करतीं। शिवपूजा किए बिना जल तक नहीं ग्रहण करतीं। द्वार पर किसी भिखारी के आने पर यथासाध्य जो भी होता वे उसे भिक्षा-स्वरूप देतीं। वे अत्यन्त सरलहृदया, दयामयी और सुशीला नारी थीं इसीलिये मुहल्ले के सभी लोग उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते। ऐसे ही धर्म-प्राण माँ-बाप की गोद में देवशिशु (योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी) का आविर्भाव होता है। ऐसी ही योगमूर्ति के आविर्भाव के सन्दर्भ में योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण का कथन है :—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।
—श्रीमद्भगवद्गीता : ६।४१।४२

अर्थात् योगभ्रष्ट व्यक्ति, शुचि एवं श्री सम्पन्न या श्रीमन्तों के घर अथवा ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। ऐसा जन्म जगत में दुर्लभतर है।

कभी-कभी ऐसा भी समय आता है, जब देश हर दृष्टि से भरा-पूरा और श्री-सम्पन्न होता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत की उन्नीसवीं शताब्दी भी वैसी ही एक समृद्ध शताब्दी थी। भारतीय सूर्य उस समय मध्य आकाश में प्रकाशमान था। इस काल में जिस प्रकार अनेकों महात्माओं और प्रवुद्ध मनीषियों का आविर्भाव हुआ था उसी प्रकार राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी भारत ने पूर्णता प्राप्त की थी। यह सही है कि उस समय के लोग भी अर्थ के पीछे भाग रहे थे, किन्तु आजकल की तरह धर्म या समाज-बोध से शून्य नहीं थे। वे धर्म के प्रति आस्थावान थे और उसका अनुशासन भी मानते थे। दीर्घकाल तक मुस्लिम शासन एवं उसके पश्चात् अँगरेजी शासन में भारतीय सनातन धर्म कुछ अस्त-व्यस्त हो गया और वह विखराव की स्थिति में था। अमीर-गरीब दोनों वर्गों को समान रूप से प्रलोभन देकर अनेक सनातन धर्मावलम्बी लोगों को प्रायः बलपूर्वक इस्लाम या ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया जाता था। ऐसे संक्रान्तिकाल में महान आत्माओं के

आविर्भाव की प्रयोजनीयता थी। और तत्कालीन संकटापन्न स्थिति का ही परिणाम था कि उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के सभी प्रान्तों में धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि अन्य क्षेत्रों में ही अनेकों महामानवों का आविर्भाव हुआ। धार्मिक क्षेत्र में नवद्वीप और काशी का अवदान अद्वितीय है।

उन दिनों नवद्वीप में ही नहीं बल्कि पूरे भारत के अनेक हिन्दू परिवारों में यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार देवी-देवताओं के नाम पर बच्चों के नामकरण की प्रथा थी और ऐसा विश्वास था कि इस प्रकार के नामकरण द्वारा बच्चों को पुकारने के साथ-साथ भगवान का नाम-कीर्तन भी होता रहेगा। और मुक्तकेशी देवी के धीरे-धीरे बढ़ते हुए प्यारे बेटे का नाम सभी ने स्नेह-प्यार से श्यामाचरण रख दिया। अपनी दिनचर्या के क्रम में मुक्तकेशी देवी कभी शिशु को लोरियाँ गा-गा सुलातीं और कभी शिव मन्दिर के समीप बिठाकर तन्मयता के साथ पूजा करतीं। पूजा के समय शिशु भी आँख मूँदकर शिव जैसी ध्यान समाधि लगाए बैठा रहता या फिर जब कभी वे नदी के किनारे रेत के ऊपर बिठाकर अपने घर का काम करतीं। तब वहाँ भी शिशु सारे बदन में रेत मले शिव की तरह रूप बनाए आँखें मूंदे बैठा रहता। विलक्षणता तो यह थी कि उस देव-शिशु में सामान्य शिशु-सुलभ चंचलता कम ही दीखती। हमेशा खोया-खोया-सा भाव, उदास दृष्टि देखकर ऐसा लगता जैसे वह किसी कल्पना या भाव-लोक में विचरण कर रहा है और असीम अनन्त सत्ता के साथ योग-सूत्र स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। ऐसी स्थिति में शिशु के हाव-भाव स्वभाव, मुद्रायें आदि देखकर अनेक सयाने लोगों का अनुमान था कि यह शिशु कोई साधारण शिशु नहीं है।

लाहिड़ी परिवार के गृह-देवता शिव थे। बाहर की ओर मकान से लगा हुआ शिव-मन्दिर स्थापित था। एक दिन की घटना है कि मुक्तकेशी देवी शिशु को बगल में बिठाकर शिवजी के ध्यान में तन्मय हैं और शिशु भी मां का अनुकरण करते हुए आँखें मूंदे बैठा है। उसी समय अचानक एक विशालकाय जटाजूट धारी सौम्यमूर्ति संन्यासी मन्दिर के सामने आकर खड़े हो गए और मुक्तकेशी देवी को बेटी कहकर पुकारा। अकस्मात् ध्यान-भंग होने पर मुक्तकेशी देवी ने भयभीत होकर शिशु को तुरन्त गोद में ले लिया।

संन्यासी ने कहा—'डरो मत बेटी! मैं संन्यासी हूं। मुझे देखकर तुम्हें डरने की तो कोई बात ही नहीं।

मुक्तकेशी तब भी भय से निस्तब्ध खड़ी रहीं। संन्यासी ने उन्हें फिर आश्वस्त करते हुए कहा—"सुनो, तुम्हारा यह बेटा साधारण

मानव-शिशु नहीं है । मैंने ही उसे योगबल द्वारा तुम्हारे पुत्र के रूप में हजारों सन्तप्त, संत्रस्त और सांसारिक प्रपञ्चों तथा यंत्रणाओं से घिरे दु:ख से जर्जर गृहस्थ लोगों को गोपन साधना का मार्ग-दर्शन करने के लिए भेजा है यह शिशु स्वयं गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए सब को योग-साधना की ओर आकर्षित करेगा । डर की कोई बात नहीं । मैं परछाईं की तरह हमेशा शिशु के साथ रहूंगा । वह मेरी ही छाया में आजीवन अपनी अन्तर्ज्योति विखेरता रहेगा । इसके बाद ही वह सौम्य मूर्ति धीरे-धीरे डग भरते हुए वहाँ से दूर चली गई ।

द्वितीय परिच्छेद

शिक्षा एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश

गौरमोहन के सभी पूर्व-पुरुष धर्म-प्राण थे। वे समयानुकूल बीच-बीच में तीर्थाटन के लिए जाया करते; किन्तु आज की तरह उस समय तीर्थ-स्थानों की यात्रा इतनी आसान और सुविधाजनक नहीं थी; क्योंकि तब भारत में ट्रेनों या रेलगाड़ियों की कोई व्यवस्था नहीं थी। तीर्थयात्रियों को पैदल अथवा नाव द्वारा ही तीर्थ-यात्रा के लिए जाना पड़ता था। रास्ते में चोरों एवं डाकुओं का डर भी था; फिर भी लोग तीर्थाटन के लिए जाते। गौरमोहन के पिता भी तीर्थयात्रा के उपलक्ष्य में एक-दो बार सपरिवार काशी जा चुके थे। इसलिए गौरमोहन का काशी से परिचय कुछ नया नहीं था। गौरमोहन की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। घुरणी में ज़मींदारी के बावजूद उन्होंने किन कारणों से काशी में बसने का निश्चय किया, कहा नहीं जा सकता। तब भी जिन दो कारणों से वे काशी में बसने का निर्णय करते हैं, उनमें जानकारी के अनुसार पहला कारण यह है कि जब श्यामाचरण की उम्र पाँच वर्ष की थी तभी गौरमोहन की दूसरी पत्नी मुक्तकेशी देवी का देहान्त हो गया; किन्तु उनका देहान्त काशी में हुआ या घुरणी में इसकी कोई सही जानकारी प्राप्त नहीं होती; और फिर इस घटना के पश्चात् ही गौरमोहन के मन में संसार के प्रति एक विरक्ति का भाव पैदा हो गया था। दूसरा कारण धार्मिक भावना की प्रबलता तथा काशी से पूर्व-परिचय भी हो सकता है; किन्तु अनुमानतः तीसरा कारण यह भी उभरता है कि उस समय लाहिड़ी-परिवार एक भाग्य-विपर्यय से आक्रान्त था। नदी के किनारे उनका मकान स्थित होने के कारण एक बार भीषण बाढ़ में मकान के साथ-साथ जमीन का एक बहुत बड़ा हिस्सा नदी के गर्भ में समा गया। इस घटना के आधार पर कुछ लोगों की दृष्टि में वे भाग्य की तलाश में ही काशी आए और वहीं बस गए। किन्तु यह विश्वसनीय एवं संगत कारण नहीं लगता; क्योंकि इस प्रकार के भाग्य-विपर्यय या दुर्दिन में भी साधारणतः कोई अपने पूर्व-पुरुषों के वास स्थान या डीह

को नहीं छोड़ता। विशेष रूप से गौरमोहन के पक्ष में ज़मींदारी के बावजूद यह कोई सुखद प्रसंग नहीं था। ऐसी स्थिति में वे फिर नये मकान का निर्माण करवा सकते थे। इसलिए यही अनुमान किया जा सकता है कि प्रथमोक्त दो कारणों में जिस किसी एक कारण से उनमें धार्मिक भावना बलवती होती है और काशी से पूर्व-परिचय तो था ही; इस वजह से भी उन्होंने काशी में बसने का निर्णय किया। वस्तुतः जो भी कारण हो; वे सपरिवार लम्बे जलमार्ग से नौका द्वारा काशी आए। वहाँ पहले से ही उनके ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रकान्त ने मदनपुरा के सिमन चौहट्टा में एक मकान खरीद रखा था। काशी आने पर पूरा परिवार उसी मकान में रहने लगा।

घुरणी ग्राम की उस बाढ़ में गौरमोहन की भूमि-सम्पदा के साथ साथ उनके गृह-देवता शिव का मन्दिर भी नदी के गर्भ में समा गया था। सम्भवतः १८४० ई० में स्थानीय किसी एक शिवभक्त ने नदी के गर्भ से शिवजी की प्रतिमा को निकालकर नये मन्दिर में स्थापित किया। जल से निकालने के कारण ही उन्हें जलेश्वर का नाम दिया गया। अब वह स्थान घुरणी ग्राम के शिवतल्ला के रूप में विख्यात है और सर्वसाधारण की सम्पत्ति के रूप में परिणत हो गया है।

लम्बे अर्से तक काशी में निवास के कारण इधर घुरणी में प्रबन्ध एवं देखभाल के अभाव में ज़मींदारी भी हाथ से जाने लगी।

श्यामाचरण की उम्र पाँच वर्ष पार करते ही गौरमोहन लड़के की शिक्षा के प्रति चिन्तित रहने लगे। वे स्वयं विद्वान व्यक्ति थे; इसलिए विद्या और शिक्षा के मूल्य को अच्छी तरह समझते थे। किन्तु उस समय मुख्य समस्या तो यह थी कि कट्टर हिन्दू परिवारों में अनेक शिक्षित परिवार भी अँग्रेजी-शिक्षा के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। इस परिस्थिति में भी गौरमोहन ने ज़मींदारी की बिगड़ती हुई स्थिति को दृष्टि में रखकर अपने पुत्र के पक्ष में उपार्जनमुखी शिक्षा को ही अधिक महत्त्व दिया; क्योंकि उस समय अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति के लिए नौकरी पा लेना अत्यन्त सरल और सुगम था। गौरमोहन के मन में भाषा के प्रति कट्टरता का भाव नहीं था। इसलिए उन्होंने समय और युग के अनुकूल भाषा में शिक्षा प्राप्त करने के लिए लड़के को गरुड़ेश्वर मुहल्ले में भूकैलाश के राजा जयनारायण घोषाल द्वारा स्थापित जयनारायण अँग्रेजी स्कूल में भरती करवा दिया। इसके पश्चात् श्यामाचरण बारह वर्ष की उम्र में गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के अन्तर्गत अँगरेजी स्कूल में प्रवेश करते हैं। बाद में यह सरकारी स्कूल कॉलेज के रूप में परिणत हो जाता है। और उन्होंने

१८४८ ई० तक अर्थात् ८ वर्षों तक इसी कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की थी ।[१] इसकी कोई सही जानकारी प्राप्त नहीं; किन्तु वे एक उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति थे। इसका प्रमाण अवश्य मिलता है। क्योंकि परवर्तीकाल में उन्होंने अनेक छात्रों की शिक्षा का भार ग्रहण किया था। इससे समझा जाता है कि वे एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। उन्होंने अँगरेजी, बाँग्ला, उर्दू, हिन्दी भाषाओं के अतिरिक्त, फारसी भाषा भी सीखी थी। इसके अलावा उन्होंने नागभट्ट नामक एक महाराष्ट्रीय शास्त्रज्ञ पण्डित के सान्निध्य में संस्कृत के साथ वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था।

कॉलेज में अध्ययन के दौरान ही १८ वर्ष की उम्र में १८४६ ई० में उनकी शादी हो जाती है। उस समय जिन समस्त बंगाली परिवारों ने काशी में अपना निवान-स्थान बना लिया था, उनमें गौरमोहन की तरह ही हवड़ा जिले के बेलूर अंचल से आगत पण्डित देवनारायण सान्याल वाचस्पति भी थे। वे एक निष्ठावान ब्राह्मण थे और काशी के पण्डितों में उनकी अच्छी ख्याति और प्रतिष्ठा थी। गौरमोहन के साथ उनकी काफ़ी अन्तरङ्गता थी। दोनों ही अच्छे मित्र थे। सुना जाता है कि तैलङ्ग स्वामी केवल निष्ठावान ब्राह्मण सान्याल के घर की ही भिक्षा ग्रहण करते। वाचस्पतिजी गौरमोहन के मकान के निकट ही खालिस-पुरा मुहल्ले में रहते थे। निकटता के कारण ही वे बीच-बीच में गौरमोहन के घर आया करते और आपस में शास्त्र-चर्चा और आलोचना-प्रत्या-लोचना का क्रम चलता रहता। वाचस्पति की पत्नी का देहान्त हो चुका था। वे स्वयं तीन लड़कों और एकमात्र छोटी लड़की काशीमणि की देख-रेख और लालन-पालन करते। काशीमणि, पिता के साथ गौरमोहन के घर आती और वहीं खेलती। घर की महिलायें उससे मजाक में कहतीं—'तुम किससे शादी करोगी ?' तब वह छोटी बच्ची सौम्य और सुन्दर श्यामाचरण की ओर उँगली उठाकर दिखा देती। संयोग से इसी नव वर्षीया श्यामवर्णा काशीमणि के साथ श्यामाचरण का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ।

श्यामाचरण का स्वास्थ्य काफी अच्छा था। व्यायाम के साथ वे तैरने में भी निपुण थे। प्रारम्भ से ही परिश्रमी एवं गम्भीर प्रकृति के थे। वे समवस्यकों के साथ कभी भी बेकार गपशप में अपना समय

---

१. यह स्कूल सम्भवत: वाराणसी का प्राचीनतम स्कूल है। इस समय यह स्कूल रामापुरा और रेउरी तालाब के बीच बड़े रास्ते पर सदानन्द बाजार में स्थित है।

नहीं गँवाते थे। वे कभी भी किसी अनुचित या अन्यायपूर्ण कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं होते थे। हर मामले में विवेक से काम लेते। यहाँ तक कि खाना भी न मिलने पर माँगकर नहीं खाते थे।

१८५१ ई० में प्रायः २३ साल की उम्र में उन्होंने सरकारी नौकरी कर ली। वे ग़ाजीपुर में Public works Department, Military Engineering works के अन्तर्गत क्लर्क के रूप में भर्ती हो गए थे। उस समय सेना में रसद पहुँचाना और सड़क इत्यादि का निर्माण करना इस विभाग का मुख्य कार्य था। इसके पश्चात् कार्य के सिलसिले में मिर्जापुर बक्सर, कटुंवा, गोरखपुर, दानापुर, रानीखेत एवं काशी आदि स्थानों में उनका स्थानान्तर या तवादला होता रहा। सर्विस के अन्तिम दिनों में वे बैरकमास्टर (इस समय S. D. O.) के पद पर प्रतिष्ठित थे।

जब वे ग़ाजीपुर में कार्य-रत थे, उस समय उनका वेतन अत्यन्त अल्प ही था। इसलिए वे व्यक्तिगत खर्चे की पूर्ति के लिए सेना विभाग के कई अँगरेज अफ़सरों को हिन्दी और उर्दू सिखाया करते थे और उससे प्राप्त राशि से ही अपना गुज़ारा करते। वेतन की राशि वे काशी-स्थित परिवार के निर्वाह के लिए हर महीने भेज दिया करते थे। १८५२ ई० में ग़ाज़ीपुर का कार्यालय काशी में स्थानान्तरित होने के कारण उन्हें भी काशी आना पड़ा। उसी वर्ष ३१ मई को उनके पिता श्री गौरमोहन का स्वर्गवास हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् भाइयों में आपसी गृह-कलह आरम्भ हो गया। शान्तिप्रिय एवं धर्म-प्राण श्यामाचरण हमेशा ही अशान्ति एवं झगड़े-फ़साद से दूर रहने की कोशिश करते।. विशेष रूप से उनके द्वारा भविष्य में जिस महत् उद्देश्य की पूर्ति होने वाली है; हालांकि अब तक उन्हें उस उद्देश्य या कार्य का कोई आभास या संकेत नहीं मिला है फिर भी उसके प्रकाश में पहले से ही निर्धारित कर्म-संस्कार उन्हें शान्ति-प्रियता की ओर ही आर्कषित करेगा। क्योंकि जो व्यक्ति शान्ति की वाणी सुनाने और प्रचारित करने के उद्देश्य से आया है वह कभी भी अशान्ति के वातावरण में नहीं रह सकता। लेकिन साथ ही हर दृष्टि से एक सद्‌गृहस्थ के आदर्श की स्थापना भी करनी होगी। लोक-शिक्षा प्रदान करने के लिए हर प्रकार से स्वयं अपने आचरण के अनुकूल ही कार्य करना पड़ता है। मनीषियों का आदेश है कि 'पहले धर्म या विचार को अपने जीवन में उतारो' फिर दूसरों को वैसा आचरण करने की शिक्षा दो।' श्यामाचरण के जीवन में भी सामान्य गृहस्थ लोगों के गृह-कलह की तरह ही गृह-विवाद या कलह के प्रसंग उभरे थे। कुछ दिनों तक गृह सम्बन्धी विसंगतियों के बीच रहने के बाद अन्त में वे सिमन चौहट्टा में एक दोमंजिला मकान के एक

हिस्से को किराये पर लेकर वहीं सपरिवार रहने लगे। उस समय सामान्य वेतन और गृह-शिक्षक का कार्य ही उनका एक मात्र सहारा था। इसी सामान्य आय के आधार पर उनकी गृहस्थी चलती। यह भी उनकी लोक-शिक्षा का एक पक्ष है। अर्थात् गरीब गृहस्थ रहकर भी किस प्रकार धीरे-धीरे जीवन को संगठित करके साधना की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है—यह भी उन्होंने लोक-शिक्षा के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। महापुरुषों के जीवन में ऐसे तमाम व्यतिक्रम उपस्थित होते रहते हैं। साधारण मनुष्य जिस कार्य को नहीं कर पाते वह पहले महापुरुषों द्वारा साधना के क्रम में उनके अपने जीवन में सम्पादित होता है। अगर ऐसा न हो तो साधारण व्यक्ति उनके जीवन-दर्शन या आदर्श को कैसे स्वीकार करेगा। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ऐसा ही उपदेश दिया है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवतते॥" गीता : ३।२१

अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति जो कार्य करते हैं अन्य लोग भी वैसा ही करते हैं। वे जिस कर्त्तव्य का पालन करते हैं, लोग भी उसी का अनुवर्त्तन या अनुकरण करते हैं।

● ● ●

विवाह के दीर्घकाल पश्चात् अर्थात् लगभग १६/१७ वर्षों बाद इसी किराये के मकान में १८६३ ई० में जगन्नाथ देव की स्नान-यात्रा के दिन उनके ज्येष्ठ पुत्र तिनकोड़ी लाहिड़ी का जन्म हुआ। श्यामाचरण की पत्नी काशीमणि देवी अत्यन्त शान्तमना, दयामयी एवं सुगृहिणी थीं। पति के अर्थ-संकट के समय भी वे अत्यन्त धैर्य पूर्वक पूरी गृहस्थी को सँभाले रहतीं। उनकी सूझ-बूझ और गृह-व्यवस्था की निपुणता के कारण ही सामान्य आय का कुछ हिस्सा अर्थ-संचय के रूप में हो पाया था और १८६४ ई० में उन्होंने उसी संचित राशि से गरुड़ेश्वर में एक मकान खरीदा और वहीं रहने लगे। यहीं १८६५ में रथ-यात्रा के दिन उनके दूसरे पुत्र दुकोड़ी लाहिड़ी का जन्म हुआ और फिर इसी मकान में

Scanned by CamScanner

१८६८ ई० में बड़ी लड़की हरिमती तथा १८७० में मझली लड़की हरिकामिनी और १८७३ ई० में छोटी लड़की हरिमोहिनी का जन्म हुआ। इसी मकान में श्यामाचरण का सारा शेष जीवन व्यतीत हुआ था।

काशीमणि देवी कभी अपना समय बेकार नहीं गवाती थीं। उनमें तनिक भी आलस्य का भाव नहीं था। प्रातःकाल सबसे पहले द्वार पर आये भिखारी को स्वय अपने हाथ से भीख देतीं। उनका विश्वास था कि दरिद्र या लक्ष्मी-हीन व्यक्ति के दरवाजे पर भिखारी नहीं आते। इसीलिए यदि किसी दिन भिखारी देर से आते तो वे चिन्तित हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त पति की अल्प आय के कारण घर का सारा काम-काज वे स्वयं करती थीं। घर पर अतिथि और आने-जाने वाले परिचित अक्सर आते रहते थे। वे स्वयं अपने हाथ से खाना पकाकर लोगों को तृप्ति पूर्वक भरपेट खिलाती थीं। उन दिनों स्त्री-समाज में कुछ ऐसा ही प्रचलन था कि जो तमाम औरतें लिखना-पढ़ना सीखती हैं, वे अगले जन्म में वेश्या के रूप में जन्म लेती हैं। इन्हीं रूढ़ियों के कारण काशीमणि देवी शिक्षा से वंचित रहीं; किन्तु श्यामाचरण स्वयं एक शिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति थे। शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे। इसीलिए वे पत्नी को रात्रि में अवकाश के समय कुछ लिखना-पढ़ना भी सिखाया करते थे। इसके पश्चात् तो देखा गया कि काशीमणि देवी धर्मग्रन्थों का स्वयं पाठ करतीं। इस पुण्यवती नारी ने अपने पति द्वारा प्रदर्शित योग-मार्ग की साधना द्वारा दीर्घायु प्राप्त की। वे भी साधना के उच्च स्तर तक पहुँचने में सक्षम थीं। काशीमणि देवी ने प्राय: ९४ वर्ष की उम्र में बंगाब्द १३३७, चैत्र ११ (अँगरेजी १९३० ई०) को चैतन्यमयी स्थिति में ही परलोक गमन किया।

श्यामाचरण अत्यन्त परिश्रमी एवं कर्मठ व्यक्ति थे। हर प्रकार के लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों के प्रति उनमें काफी उत्साह था। उनके ही प्रयास और परिश्रम तथा रामकाली चौधरी, गिरीश चन्द्र दे और काशीनाथ विस्वास आदि तत्कालीन काशी के गण्यमान्य, प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सहयोग से एक स्कूल की स्थापना हुई थी।* श्यामाचरण दिन भर तो कार्यालय के कार्यों में व्यस्त रहते। फिर वहाँ से मुक्त होने पर गृह-शिक्षक का कार्य करते और फिर गृह-कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् अनेकों जन-कल्याणमूलक कार्यों में भी व्यस्त रहा करते थे। यही कारण है कि इस प्रकार की परिश्रम-परायणता और दृढ़ चित्तता के साथ उन्हें भविष्य में कठिन योगाभ्यास का परिश्रम भी क्लान्त नहीं कर

* जो अब बंगाली टोला इन्टर मीडिएट कालेज के रूप में है।

सका। उन्होंने जीवन में अपने आचरण के माध्यम से यह प्रमाणित कर दिया कि संसार में रहकर या गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए दृढ़चित्तता एवं संकल्प के साथ साधना करने पर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मुण्डकोपनिषद की घोषणा है कि नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' (३।२।३) अर्थात् वीर्यवान पुरुष ही आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। और श्यामाचरण का जीवन-दर्शन ही उसका एक जीवन्त प्रमाण है।

बंगाली टोला में स्कूल की स्थापना के बाद वे ही उस स्कूल के सेक्रेटरी नियुक्त हुए और अपने जीवन-काल तक उसी पद पर रहकर सुचारु रूप से उसका संचालन करते रहे। उनकी इच्छा थी कि सही शिक्षा प्राप्त करके जीवन में सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करें। इसीलिए वे स्कूल की प्रगति के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे। स्कूल के छात्रों की पढ़ाई सुचारु रूप से चल रही है या नहीं अथवा स्कूल की सम्पत्ति का संरक्षण ठीक ढंग से हो रहा है या नहीं। इन सभी बातों के प्रति उनकी दृष्टि रहती। शिक्षक ठीक से अपने कार्य का सम्पादन कर रहे हैं या नहीं। इस सन्दर्भ में वे अचानक स्कूल का परिदर्शन करते। एक दिन रात में अकेले ही स्कूल की ओर गये और देखा कि स्कूल का दरवान सो रहा है। वह अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक ढंग से नहीं कर रहा है। और दूसरे दिन उस पर एक आने का जुर्माना किया गया।

उस समय स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रचलन नहीं था। किन्तु उन्होंने सोचा कि नारी-शिक्षा की भी विशेष प्रयोजनीयता है। इस प्रसंग में उन्होंने कई गण्यमान्य व्यक्तियों की सहायता से एक बालिका विद्यालय की भी स्थापना की। किन्तु अभिभावक अपनी लड़कियों को स्कूल भेजने के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। इन्हीं कारणों से वह स्कूल बन्द हो गया।

२४ मार्च १८६० ई० में नेपाल के महाराजा ने अपने चौथे पुत्र राजकुमार नरेन्द्र कृष्ण सा उर्फ खाला को पढ़ाने के लिए योगिराज को गृह-शिक्षक के रूप में नियुक्त किया। फिर ४ मार्च १८६६ ई० को नेपाल की महारानी ने उन्हें शिक्षण-कार्य के लिए नियुक्त किया। इस प्रकार देखा जाता है कि उन्होंने एक लम्बे समय तक नेपाल के राज-परिवार में गृह-शिक्षक के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त यह भी देखने में आता है कि तत्कालीन काशी निवासी और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यवसायी हरशंकर प्रसाद सिंह ने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए उन्हें पाँच रुपया मासिक वेतन पर ५ अप्रैल १८६७ ई० को गृह-शिक्षक के रूप में नियुक्त किया।

काशी के लब्धप्रतिष्ठ वकील राममोहन दे लाहिड़ी परिवार के विशिष्ट स्नेह-पात्र थे। वे पाँच भाई-बहन थे। पितृहीन होने के कारण

श्यामाचरण ने उनकी शिक्षा तथा विकास के लिये काफी अनुकूल स्थितियों की व्यवस्था की थी। इसके पश्चात् राममोहन ने वकालत के द्वारा प्रचुर अर्थ उपार्जन किया। महापुरुषों की शुभकामनाएँ फलवती और प्रभावशाली होती हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर राममोहन के पुत्र तारामोहन भी काशी के सुप्रसिद्ध वकील थे। उनके दामाद डा० एस० सी० देव इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अँगरेजी के विभागाध्यक्ष और ख्याति प्राप्त साहित्यिक तथा दार्शनिक थे। इनके भाई-बहन सब ने श्यामाचरण से योग की दीक्षा प्राप्त की थी वे कहा करते थे कि गुरुदेव से हमें जो स्नेह-प्यार मिला है वह माँ-बाप के सान्निध्य में भी नहीं प्राप्त हुआ।

तृतीय परिच्छेद

दीक्षा और साधना

सामान्य लोगों की आँखों से दूर कितनी ही ऐसी अलौकिक घटनाएँ होती रहती हैं। जिसकी किसी को खबर तक नहीं होती। विधाता का विचित्र विधान नाना प्रकार से संचालित होता रहता है। साधारण व्यक्ति की दृष्टि तो परिणाम या फल की ओर ही रहती है; क्योंकि उनकी दृष्टि में फल का आस्वादन ही श्रेय और प्रेय है; उसकी प्राप्ति से ही वे स्वयं को धन्य मानते हैं। राख से ढँकी धीरे-धीरे सुलगती आग को अब प्रज्वलित होने का सुयोग मिला। पहले ग्रहण या त्याग? ग्रहण या स्वीकार के बिना त्याग सम्भव नहीं। किसी को कुछ देने के पहले दाता को स्वीकार या ग्रहण करना पड़ता है। श्यामाचरण एक महान व्रत लेकर आये हैं। उन्हें सांसारिक व्यक्तियों के लिये एक अपूर्व एवं कौशलपूर्ण तथा सहज और सुगम योगमार्ग को प्रशस्त करना होगा। इसी कारण वे गृहस्थ लोगों के प्रति प्रतिश्रुतिबद्ध हैं। अतएव, जिस मार्ग या साधना के द्वारा वे असंख्य लोगों को मुक्ति-मार्ग दिखायेंगे। वह पहले उन्हें प्राप्त करना होगा। विधाता ने जिस निर्दिष्ट कार्य के लिये जिस व्यक्ति को निर्धारित किया है या भेजा है, वह कार्य उसे करना ही होगा। उससे अलग या भिन्न वह कुछ नहीं कर सकता। इस बार विधाता ने उस ओर ही श्यामाचरण का हाथ पकड़ कर खींचा।

२३ नवम्बर १८६८ ई० को रानीखेत के लिए श्यामाचरण को तवादले का आदेश मिला। यहाँ हेड क्लर्क के रूप में उनकी नियुक्ति होने पर उनके वेतन में भी कुछ वृद्धि हुई। अपने परिवार को काशी में रखकर वहाँ की स्वच्छन्दता एवं सुख-सुविधा को छोड़कर २७ नवम्बर १८६८ ई० को श्यामाचरण दूर रानीखेत की ओर अपने कार्य-स्थल के लिए रवाना हुए। उन दिनों रेलगाड़ी के अभाव में एक्का अथवा दूसरी सवारियों की सहायता से कई दिन बाद वे रानीखेत पहुँचे और अपना कार्य-भार सम्भाला। भारतवर्ष के उत्तर की ओर रानीखेत हिमालय की गोद में ५९८० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। काठगोदाम से ५० मील दूर

रानीखेत आज की तरह आबादी वाली जगह नहीं थी। चारों ओर जंगल, जन-शून्य और उत्तर की ओर हिमवन्ती पर्वतमाला गर्व के साथ आकाश-भेदी उच्चता के साथ खड़ी है। अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य एवं विशिष्ट छटा से सुशोभित रानीखेत को देखकर मन में ध्यानमग्न देवाधिदेव भगवान शिव की मूर्ति का बिम्ब उभर आता है। अत्यन्त कठोर हृदय रखने वाला व्यक्ति भी यहाँ आकर धर्मप्रवण हो जाता है। यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य में एक असीम विचित्रता का दर्शन होता है। कहीं-कहीं साधुओं के कुटीर हैं जो शिव-स्वरूप तपस्वियों की विचरण-भूमि है। वे इस निर्जन परिवेश में परमात्मा के ध्यान में निमग्न रहते हैं। देवत्मा हिमालय प्राचीनकाल से ही भारतवासियों की अन्तरात्मा द्वारा समादृत एवं पूजित होता आ रहा है। इसकी ख्याति सारे विश्व में फैली है। भक्तों का विश्वास है कि यहाँ देवाधिदेव महादेव का निवास है। यह स्थान ध्यानमग्न ऋषि जैसा प्रतीत होता है।

सैनिकों के लिए रास्ता तैयार किया जायेगा जिसके द्वारा उनके लिए रसद भेजी जायेगी तथा एक सेना निवास की स्थापना होगी। इस कारण यहाँ एक नया ऑफिस खोला गया है। रहने के लिए मकान न बनने तक तम्बू में ही रहना पड़ता है। ऑफिस में कोई विशेष कार्य नहीं था। निरीक्षण तथा कुछ पत्र भेजना ही उनका कार्य था। परिणामतः प्राकृतिक सौन्दर्य को घूम-घूम कर देखने और उसका उपभोग करने के लिए उन्हें काफी अवकाश मिल जाता था।

एक दिन श्यामाचरण सशस्त्र सिपाहियों और चपरासियों को साथ लेकर कार्यालय के रुपयों-पैसों के साथ पहाड़ी निर्जन रास्ते से जा रहे थे। इसी समय अचानक उन्होंने सुना जैसे कोई उनका नाम लेकर पुकार रहा है। श्यामाचरण ने पहाड़ के ऊपर की ओर देखा। और देखा कि एक संन्यासी उन्हें बुला रहे हैं। संन्यासी कुछ तेजी से नीचे की ओर उतरते हुए श्यामाचरण के सामने आकर खड़े हो गए। संन्यासी का सुडौल पुष्ट शरीर था, घुटनों तक लम्बी बाहें थीं। और शान्त-स्निग्ध दृष्टि में विचित्र आकर्षण था। चेहरे पर मधुर मुस्कान बिखर रही थी। श्यामाचरण ने समझा, शायद लुटेरों का कोई सरदार है और उसके दल के लोग कहीं पास ही छिपे हैं। वे सतर्क हो गए।

संन्यासी ने कहा—"श्यामाचरण डरो मत। मुझे मालूम था कि तुम इसी रास्ते से जाओगे। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा। तुम जल्द ही आफिस का कार्य पूरा करके मेरी कुटिया में आओगे, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।" यह कहकर संन्यासी दूर पहाड़ के ऊपर स्थित कुटी की ओर निर्देश करते हुए चले गए।

इसके बाद श्यामाचरण आफिस का कार्य शीघ्रतापूर्वक पूरा करके तम्बू में लौट आए। श्यामाचरण सोचने लगे कि संन्यासी के पास जायें या नहीं। फिर सोचा आख़िर संन्यासी ने उनका नाम कैसे जाना! श्यामाचरण को पता था कि हिमालय के इस निर्जन प्रदेश में अनेक अच्छे साधु-संन्यासी भी रहते हैं। इसीलिए, स्वभावत: धर्मप्राण श्यामाचरण की इच्छा उस संन्यासी से परिचय प्राप्त करने के लिए प्रबल हो उठी और शीघ्र ही संन्यासी-दर्शन के उद्देश्य से रवाना हो गए।

पहाड़ के चढ़ाव-उतार वाले रास्ते पर चलने से मैदानी इलाकों में रहने वाले लोगों का क्लान्त हो जाना स्वाभाविक है। पहाड़ से लगा जो पतला रास्ता चोटी की ओर गया है वे अकेले उसी रास्ते से होकर चलने लगे। इस अपार्थिव सौन्दर्यमय प्रदेश में, ध्यानासीन धूर्जटी के तपोवन में कितने महायोगी ध्यानमग्न हैं। उनके पुण्य-दर्शन की आकांक्षा के साथ युग-युग से कितने लोगों का आवागमन जारी है।

काफ़ी दूर तक जाने के पश्चात् क्लान्त श्यामाचरण सोचते हैं कि जाना उचित होगा या नहीं। इधर यदि शाम तक तम्बू की ओर लौट न सके तो जंगली हिंस्र जानवरों से घिरे इलाके में भय भी है। धीरे-धीरे पहाड़ के अन्तराल में सूर्यदेव अस्ताचल की ओर जाने की तैयारी कर रहे हैं। एक पत्थर पर बैठकर श्यामाचरण विश्राम करने लगे। कहीं भी किसी जन या मानव का संकेत नहीं। ऐसे निर्जन स्थान में किसी के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। थोड़ी ठण्ड पड़ रही थी। जंगली रास्ता, चारों ओर घना जंगल, उसके भीतर से वे आगे की ओर बढ़ चले। मन में सन्देह जगा कि कहीं ग़लत रास्ते से तो नहीं आ गए। सामने हिमालय का विचित्र सौन्दर्य प्रसारित है। जिसे देखकर आँखें शीतल हो जाती हैं। जहां तक दृष्टि जाती है पहाड़ पर पहाड़ की लहरदार श्रेणियाँ क्षितिज में विलीन हो गई हैं। लगता है, हिमालय का यह अरण्य ही देव-मानव की निवास भूमि है। यह हिमालय ही तो साधुओं-महात्माओं की तपस्या का क्षेत्र है। नीचे दो पहाड़ों के बीच से निकलकर हिमालय के चरणों को धोती हुई एक नवनीत तन्वंगी निर्झरिणी प्रवाहित है। ऐसा लगता है जैसे वह देवाधिदेव के अंग से धुले चरणामृत को धरती की ओर बहा ले आ रही है। झरने की धारा गगास नदी की गोद में दौड़कर कूद पड़ती है। हवा में निरन्तर उस जल की कलकल एवं छलछल की ध्वनि गूंज रही है। जैसे वनदेवी अदृश्य रूप से कहीं जलतरंग बजा रही हो। प्रवाह के मार्ग में ढेर सारे शिलाखण्ड चुपचाप सर उठाए उस संगीत को सुन रहे हैं। चीड़ एवं पाइन के वृक्ष प्रहरी की तरह अपनी संगीन ऊँची किए हुए सारे पहाड़ पर अधिकार जमाए

बैठे हैं। उसी की वन-नीलिमा के अन्तराल में ऊपर की ओर जाती हुई पगडण्डी अध्यात्म के प्यासे पथिक श्यामाचरण के चित्त को हाथ बढ़ाकर अनजाने मार्ग की ओर बुला रही है।

अकस्मात, उन्हें फिर वही परिचित कंठ-स्वर सुनाई पड़ा— "श्यामाचरण इधर आओ।" उन्होंने देखा कि पर्वत के शिखर पर वही संन्यासी खड़े हैं और उन्हें बुला रहे हैं। संदिग्ध मन से किसी अज्ञात नशे के आकर्षण में श्यामाचरण हाँफते-हाँफते शिखर पर पहुँच गए। देखा कि संन्यासी उनकी ओर देखकर धीरे-धीरे मुस्करा रहे हैं। घर से बिछुड़ा हुआ पुत्र जैसे अनेक दिनों के बाद पिता की स्नेहसिक्त स्निग्ध आँखों की छाया में आकर खड़ा हो। निर्निमेष दृष्टि से चुपचाप श्यामाचरण देखते रहे। संन्यासी को दण्डवत प्रणाम किया।

संन्यासी ने कहा—"श्यामाचरण तुम मुझे पहचान नहीं पा रहे हो क्या? क्या तुम्हें याद नहीं पड़ता कि तुम कभी यहाँ आए हो?" गुफ़ा के भीतर रखी बाघ की छाल और कमण्डल इत्यादि दिखाकर कहा—'क्या तुम इन्हें भी नहीं पहचान पा रहे हो?

श्यामाचरण ने कहा—'मैं यहाँ इससे पहले कभी भी नहीं आया; इन्हें मैं पहचानता नहीं, और किसी के होंगे?'

संन्यासी ने कहा—"सुनो, श्यामाचरण यह सब महामाया का खेल है उन्होंने ही तुम्हारी स्मृति पर आवरण डाल रक्खा है।' संन्यासी ने धीरे से श्यामाचरण को स्पर्श किया। श्यामाचरण के शरीर में जैसे बिजली दौड़ गई हो। उन्हें अपने पूर्वजन्म के साधनामय जीवन की याद आ जाती है। उनकी समझ में आ गया कि ये महामुनि ही उनके पूर्वजन्म के गुरु हैं।

संन्यासी ने कहा—"तुम पूर्वजन्म में यहीं रहकर साधना करते थे यह व्याघ्रचर्म, यह कमण्डल और सभी वस्तुएँ तुम्हारी थीं। इन्हें मैंने यत्न के साथ रख दिया है। यहीं साधना करते-करते तुम्हारे जीवन का अन्त हो जाता है। उसके बाद घुरणी ग्राम में गौरमोहन के पुत्र के रूप में तुम्हारा जन्म होता है। तब से ही सभी विषयों में तुम्हारे प्रति मेरी दृष्टि रही है। तुम्हें इस पहाड़ी इलाके में मैं ही बदली करवा के लाया हूँ योग की दीक्षा देने के लिये। तुम्हारे लिए मैं यहाँ चालीस वर्षो से प्रतीक्षा-रत हूँ।"

श्यामाचरण ने बचपन से ही महातीर्थ काशीधाम में रहकर अनेक साधुओं को देखा है। साधुओं के सम्बन्ध में उनकी वास्तविक जानकारी थी। इसके अतिरिक्त तीव्र बुद्धि, विचार-शक्ति एवं विद्यावत्ता के कारण हृदय के आवेग-संवेग काफी संयत थे। अतएव जब तक वे

इस साधु के साथ अनेकों विषयों की आलोचना करके उनकी उक्तियों या कथन की वास्तविकता के सम्बन्ध में सन्देह-रहित नहीं हो गए तब तक उनसे योग की दीक्षा लेने के लिए राज़ी नहीं हुए।

इसके पश्चात् मुनिवर ने उन्हें योग-दीक्षा प्रदान की। श्यामाचरण निस्पन्द समाधिस्थ हो गए। अब तक पीछे पहाड़ के अन्तराल में सूर्यास्त हो गया। इसके बाद सान्ध्यकालीन आकाश के तारे चुपचाप अनन्त में आरती का दीप सजाकर झिलमिलाने लगते हैं। चारों ओर स्वर्गलोक एवं मर्त्यलोक में एक शब्दहीन प्रशान्ति सुशोभित है। श्यामाचरण की तरह प्रकृति भी ध्यानमग्ना निस्पन्दा योगिनी जैसी प्रतीत हो रही है। चारों ओर के पहाड़ ज्योत्सना-स्नात देवाधिदेव का ज्योतिर्मय रूप धारण किए हुए हैं। लगता है, चन्द्रदेव ध्यानमग्न सौम्य-शान्त शिवसुन्दर को आरती कर रहे हैं। सारी धरती के अंग-अंग में उस चिर सुन्दर का अनन्त प्रकाश उद्भासित है।

फिर धीरे-धीरे आकाश में उषा का धुंधला प्रकाश फूटने लगा। आकाश में रात भर जगी तन्द्रिल आँखों से तारे देख रहे हैं। पश्चिमी आकाश में पहाड़ों के बीच चन्द्र अस्त हो गया। क्षितिज तक सफ़ेद भाप या शुभ्रवाष्प जैसा कुहासा फैला है। क्रमशः उस झीने-पतले कुहासे के मौन आवरण को सरका कर पूरब की ओर लालिमा फूट पड़ती है। तारे तुरन्त छिप गए। पूरब के आकाश में रोशनी का कमल खिल उठता है। विधाता की रूप-सृष्टि की यह एक अपूर्व महिमा है।

"जय शिव शम्भो, हर हर महादेव।" उपस्थित संन्यासियों के समवेत कंठ से शिव-ध्वनि उठती है और पहाड़ों से होकर प्रतिध्वनित होती हुई श्यामाचरण के कानों से टकराती है। जड़-जगत की वह ध्वनि नवीन साधक के मन में बहुत भीतर तक प्रवेश करती हुई आनन्दमय प्रतिध्वनि की सृष्टि करती है।

देवाधिदेव का ध्यान टूटा। श्यामाचरण उठकर खड़े हो गए। ऊपर सुन्दर, नीला आकाश, ठंडी हवा का मधुर स्पर्श तथा वृक्षों पर पक्षियों का कलरव, सब कुछ अद्भुत् आनन्दमयता की सृष्टि कर रहे थे। श्यामाचरण अपने वास-स्थान की ओर लौट पड़े। मन में जैसे परम प्राप्ति का कोई अपार्थिव आनन्द घर कर गया हो।

उनकी इस दीक्षा का स्थान रानीखेत से प्रायः १५ मील दूर द्वाराहाट पर्वत श्रेणी के अन्तर्गत द्रोणगिरि अथवा दुनागिरि पर्वत पर स्थित है।

दीक्षा के माध्यम से महायोगी के योगज संस्कार के विकास या जागरण से भारत की अध्यात्म-साधना का एक और अध्याय आरम्भ

हुआ। इस यौगिक शक्ति-सम्पदा की पुनःप्राप्ति से केवल उन्हीं के जीव एवं शिव की अभिन्नता का मार्ग प्रशस्त हुआ—ऐसी बात नहीं; बल्कि उसके साथ ही लाखों मनुष्यों की भी मुक्ति का मार्ग खुल गया। उनकी दीक्षा-प्राप्ति के साथ आगामी काल के मनुष्यों का भी भाग्य जागा। लाखों व्यक्तियों को साधना-मार्ग प्राप्त होगा और कितने साधक तो उनका ही आश्रय ग्रहण करेंगे; पुनः भारत के घर-घर में गीता की वाणी गूँजेगी और गीता-ज्ञान का प्रचार होगा। ऋषियों द्वारा प्रदर्शित दुर्लभ प्राचीन योगाभ्यास का मार्ग पुनः जन-समाज में आसानी से प्रशस्त होगा। इन समस्त भावी कार्यों की सम्भावनाएँ उनकी दीक्षा के साथ ही उजागर होने लगीं। इसीलिए, उनकी दीक्षा के दिन से ही संसार में कर्मयोग की साधना एवं जीवन का एक नया द्वार खुल गया।

दीक्षा के पश्चात् ही श्यामाचरण प्रत्येक दिन आफिस का कार्य जल्दी-जल्दी पूरा करते। और गुरु के पास आकर गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर उन्होंने कठोर साधना के माध्यम से अपनी जीवन-साधना प्रारम्भ की। थोड़े ही दिनों की साधना के पश्चात् ही पूर्व-जन्म की संचित योग-विभूति का विकास होने लगा। और अनेक अनास्वादित आनन्द एवं अज्ञात रहस्यमयता के बिम्ब उनके ध्यान-नेत्र में उभरने लगे—वे साधना एवं गुरु-प्रेम में तल्लीन हो गए। जीवन-यात्रा के मार्ग में दो दिन पूर्व जिनसे कोई परिचय नहीं था अब वे ही श्यामाचरण के जीवन में एक नये संसार का परिचय देकर उनके घनिष्ठ आत्मीय हो गए। जैसे आत्मीयता, निःस्वार्थ प्रेम एवं निर्मल स्नेह ने रूप धारण कर लिया हो। और बाबा जी अब उनके कितने प्रिय और अपने हो गए।

श्यामाचरण अपने गुरुदेव को बाबा जी कहकर सम्बोधित करते। इसीलिए परवर्ती काल में उनके अगणित शिष्यों ने भी उन्हें बाबा जी की संज्ञा दी थी। साधना के नशे में आत्मविस्मृत श्यामाचरण गृहस्थ-संसार, पत्नी, पुत्र-कन्या, सब को भूलकर इस प्रकार साधना में विभोर हो गए कि वे किसी भी कीमत पर गुरु का साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। पूर्व-जन्म में श्यामाचरण ने इसी गुफ़ा में रहकर कठोर साधना की थी। परिणामतः, वर्तमान जन्म में थोड़े ही दिनों की गहरी साधना के माध्यम से वे साधना के एक उच्च स्तर पर पहुँच कर घर-बार सब कुछ भूल गए। इसी बीच एक दिन बाबा जी उनसे कहा कि वे कुछ दिनों के भीतर इस गुफ़ा को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जायेंगे। क्योंकि आहिस्ता आहिस्ता यहाँ लोगों की आबादी बढ़ने लगी है और साधुओं के रहने के लिए यह जगह अनुपयुक्त होती जा रही है। विशेष रूप से वे जिस

कार्य के लिए इतने दिनों तक यहाँ टिके रहे, वह कार्य भी सम्पन्न हो गया। बाबा जी ने जिस कौशल के साथ उन्हें यहाँ बुलाया था, वह भी उन्हें विस्तार-पूर्वक बतलाया। इस दुर्गम पर्वत अंचल में अन्य एक क्लर्क के आने की बात थी; किन्तु बाबा जी की इच्छा-शक्ति के प्रभाव से अधिकारियों ने उसके बदले श्यामाचरण को भेज दिया। बाबा जी ने और भी बतलाया कि जिस कार्य के लिए तुम्हें यहाँ लाया गया था वह पूरा हो गया। अब तुम्हें घर लौट जाना होगा। वहाँ तुम्हें बहुत कुछ करना है। किन्तु श्यामाचरण घर लौटना नहीं चाहते। सौभाग्य से उन्हें पुनः अपने प्रिय गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त हुआ है, वे चाहते हैं कि शेष जीवन गुरु के सान्निध्य में कठोर योग-साधना में रत रहकर बिताएँ। श्यामाचरण ने इस प्रकार अपनी इच्छा व्यक्त की।

बाबा जी ने कहा—"श्यामाचरण, ऐसा नहीं होता। तुम पूरी तरह एक गृहस्थ की हैसियत से गृहस्थाश्रम में रहकर कठोर साधना के साथ एक उज्ज्वल आदर्श की स्थापना करोगे। तमाम लोग तुम्हारी प्रतीक्षा में हैं। उन सभी सद्‌गृहस्थों को तुम मुक्ति-मार्ग दिखाओगे। तुम उनके प्रति, प्रतिश्रुतिवद्ध हो, उसे भूलने से काम नहीं चलेगा। सांसारिक मनुष्य, संसार में रहकर ही ईश्वर की साधना करना चाहता है। क्योंकि संसारी मनुष्य के जीवन में अनेकों समस्याएँ हैं। और उनके पास अधिक समय नहीं है। इसलिए तुम्हें उनके जीवन में सहज, सरल, आडम्बर-हीन एवं अल्प समय में ही फलदायक इस योग साधना का मार्ग प्रशस्त करना होगा। तुम्हारा आगमन इस धरती पर इसीलिए हुआ है। यह बात हमेशा याद रखनी है।"

श्यामाचरण ने निवेदन किया कि सांसारिक कार्य-व्यस्तता के बीच कठोर साधना कैसे की जा सकेगी? ये बात उनके लिए असंभव-सी प्रतीत हो रही है, उसके लिए समय कहाँ मिलेगा।

बाबा जी ने कहा—"नहीं, श्यामाचरण तुम गृहस्थी में जाकर देखो तो तुम्हें काफ़ी समय मिलेगा। समयानुसार तुम्हारा स्थानान्तर काशी में हो जाएगा और तुम सुखी रहोगे। तुम स्वयं गार्हस्थ्य जीवन में रहकर ही साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करोगे। तभी तुम्हारे आदर्श को सांसारिक व्यक्ति स्वीकार करेंगे। और यह भी जान लो कि संसार को कोई त्याग नहीं सकता। उससे कोई कभी अलग रह ही नहीं सकता। मनुष्य चाहे जहाँ भी रहे, संसार उसके साथ रहेगा। इसके अतिरिक्त सांसारिक लोगों ने ही इस दुनिया को इतना सुन्दर बना रक्खा है, इतना वैभव-विलास दे रक्खा है। इनके न होने से पृथ्वी इतनी सुन्दर नहीं होती। सांसारिक जीवन के आभाव में ईश्वर की सृष्टि नष्ट हो जाती।

सभी इस संसार में जन्म लेते हैं। ईश्वर की साधना केवल संसार-त्यागी या विरक्त लोगों के लिए नहीं हो सकती। देखो! मैं संन्यासी होकर भी जिस पात्र के द्वारा जल पीता हूं वह भी संसारी व्यक्ति का ही अवदान है।" दयाशील बाबा ने और भी कहा कि—"आज संसारी मनुष्य ईश्वर-साधना के बारे में अत्यन्त निरुपाय है। तुम स्वयं संसार में रहकर उन्हें सही रास्ता दिखाओगे। भय की कोई बात नहीं, तुम घर लौट जाओ। यथा समय बीच-बीच में तुम मुझे देख सकोगे और जब भी तुम मुझे देखना चाहोगे, देख सकोगे। संसार में सद्गृहस्थों की प्रतिष्ठा हो।" उसके बाद बाबा जी ने पास बैठे कुछ लोगों की ओर संकेत करते हुए कहा—"तुम्हें इन लोगों को दीक्षा प्रदान करनी होगी। तुम्हारे लिए ही इतने दिनों तक इन्हें रोक रक्खा है।"

श्यामाचरण ने कहा—आपके रहते हुए ये लोग मुझसे क्यों दीक्षा लेंगे।

बाबाजी ने हँसकर कहा—"हमारे साथ उनका कोई सम्बन्ध या लेन-देन नहीं है। तुम्हारे साथ ही उनका सम्बन्ध है, इसलिए तुम्हें ही दीक्षा देनी होगी।" दीक्षा किस प्रकार दी जाती है यह उन्होंने बता दिया। उसके बाद उनलोगों को दीक्षा प्रदान की गई। इस प्रकार बाबाजी ने सहज योग साधना की विभिन्न प्रक्रियाओं और दीक्षा प्रदान करने के सम्बन्ध में श्यामाचरण को व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की और उन्हें घर वापस भेज दिया। क्योंकि परवर्ती काल में लोक-शिक्षा के लिए अथवा लोगों को मुक्ति-मार्ग दिखाने के लिए यह सब उन्हें ही करना होगा।

रानीखेत में उस समय जाड़े का मौसम प्रारम्भ हो गया था बाबा जी के निर्देश के अनुसार श्यामाचरण ने रानीखेत से अपने तबादला या स्थानान्तर के लिए (१७ दिसम्बर १८६८ ई०) उच्च अधिकारियों के निकट आवेदन-पत्र प्रेषित करते हुए लिखा कि शीत-प्रधान पहाड़ी अंचल उनके स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है। साथ ही डाक्टर का सर्टिफिकेट भी पत्र के साथ संलग्न था। कई दिनों के भीतर ही आवेदन मंजूर कर लिया गया।

एक भरी-पूरी, लहराती नदी की तरह ही श्यामाचरण भी क्रियायोग की साधना का समस्त तत्व हृदयंगम करके संसार-क्षेत्र में उतर गए। गुरु के निकट से उनकी विदाई के समय हिमालय के अनेक असाधारण सिद्ध साधकों ने उनसे भेंट-मुलाक़ात की और उनका अभिनन्दन किया। जिस प्रकार एक वृद्ध पिता अपने युवा पुत्र को योद्धा के रूप में सजाकर युद्ध-भूमि में भेजता है वैसे ही बाबा जी महाराज ने

भी श्यामाचरण को योग-साधना के गूढ़तत्त्वों द्वारा सम्पन्न, सुसज्जित करके संसार रूपी कर्म-क्षेत्र में भेज दिया जिसमें उन्हें सांसारिकता का स्पर्श तक न लगे।

यथा समय श्यामाचरण की बदली का आदेश आया कि इसबार उन्हें उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर स्थित कार्यालय का कार्यभार सँभालना पड़ेगा। अपनी पूरी तैयारी के साथ १५ जनवरी १८६९ ई० को भीगे नेत्रों से उन्होंने गुरु के निकट से विदाई ली और मिर्जापुर के लिए रवाना हो गए। जाने के पहले मानव-प्रेमी श्यामाचरण ने गुरु से प्रार्थना की कि वे अपनी इस साधना का प्रचार-प्रसार धर्मनिरपेक्षता के साथ सब के लिए कर सकें। बाबा जी ने उनकी इस इच्छा के प्रति अपनी सहमति प्रदान की।

मिर्जापुर के लिए आते समय वे कई दिन तक मुरादाबाद शहर में रहे। इसी समय एक विचित्र घटना हुई। एक दिन कई मित्रों के साथ धर्म चर्चा चल रही थी। एक ने कहा—"आज कल जो अलौकिक शक्ति सम्पन्न हो, ऐसा कोई साधु नहीं है।" उनमें से कोई भी यह नहीं जानता था कि श्यामाचरण के जीवन में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है।

श्यामाचरण ने कहा—"ऐसी बात नहीं, अब भी वैसे महापुरुष हैं। यदि आपलोग देखना चाहते हैं तो ध्यान-बल से मैं वैसे महापुरुष को यहाँ बुलाकर दिखा सकता हूँ।" नवीन साधक स्वयं को संयत नहीं कर पाया।

मित्रों का कौतूहल बढ़ गया। उन्हें तो यह आश्चर्यजनक लगा। उन लोगों ने बार-बार श्यामाचरण से अनुरोध किया और अन्त में महापुरुष की मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—"ठीक है. मेरे लिए एक एकान्त कमरे की व्यवस्था कर दो और उसके दरवाजे-खिड़की बन्द करके रक्खो।"

गुरुदेव द्वारा दिये गए वचन का उन्हें ध्यान आया और वे उसी के भरोसे कोठरी में प्रवेश करते हैं तथा योगासन की मुद्रा में बैठकर गुरु के चरणों में अपनी आकुलता-पूर्ण प्रार्थना निवेदित करने लगे। थोड़ी ही देर में एक उज्ज्वल ज्योति-पुंज प्रकट हुआ। जो धीरे-धीरे बाबा जी के रूप में परिवर्तित हो गया। आसन पहले से ही निर्धारित था। उस पर बैठते हुए बाबा जी ने गम्भीर स्वर में कहा—"प्रतिज्ञाबद्ध होने के नाते ही तुम्हारे बुलाने पर यहां आया हूँ; किन्तु सिर्फ तमाशे या प्रदर्शन के लिए मुझे स्मरण करना, तुम्हारे लिए उचित नहीं।"

नवीन साधक श्यामाचरण चुपचाप बैठे रहे और गुरु की गम्भीर वाणी सुनकर उन्होंने मन ही मन सोचा कि यह तो एक बड़ी भूल हो गई।

बाबा जी ने दृढ़ स्वर में कहा—'भविष्य में मेरा स्मरण करने पर तुम्हें मेरे दर्शन नहीं होंगे। जब भी तुम्हें जरूरत होगी, मैं स्वयं ही आऊँगा।

अन्याय के प्रति श्यामाचरण ने क्षमा माँगते हुए कहा—"अविश्वासियों के मन में विश्वास पैदा करना ही मेरा उद्देश्य था और सर झुकाते हुए उन्होंने निवेदन किया—"कृपा करके जब आए ही हैं तो सब को एकबार दर्शन देकर कृतार्थ करें।'

महायोगी ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए दरवाजा खोलने को कहा। श्यामाचरण ने दरवाजा खोला। सभी मित्र बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे। दरवाजा खुलते ही सब भीतर आए। महायोगी का दर्शन किया और प्रणाम करके धन्य हो गए।

चतुर्थ परिच्छेद

साधना-मार्ग

सरकारी नौकरी के सिलसिले में श्यामाचरण कई स्थानों से स्थानान्तरित होते हुए दानापुर आ गए। यहाँ वे कठोर एकान्त साधना में तल्लीन हो गए। और स्वयं को इतना गोपन रक्खा कि किसी को भी उनकी साधना के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। गुरु-प्रदत्त योग साधना ही उनके जीवन का मुख्य अंग और अवलम्बन हो गई। महायोगी बाबा जी की कृपा से उनके जीवन में जो नया प्रकाश उजागर हुआ है उसमें आध्यात्मिक जीवन के नये-नये स्तरों को वे अनायास ही पार करने लगे। आफिस के दैनिक कार्यों को सम्पन्न करके लोगों की दृष्टि से दूर कठोर साधना में लीन रहे। इन दिनों उन्होंने योगसाधना में काफ़ी उन्नति कर ली थी। स्वल्पभाषी एवं मधुरभाषी श्यामाचरण कठोर परिश्रमी थे। आलस्य को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। इसीलिए योग-साधना का कठोर श्रम उन्हें दुर्बल नहीं कर सका।

श्यामाचरण अब हमेशा ही आत्म-चिन्तन में विभोर रहने लगे और सभी विषयों में उनके भीतर एक उदासीनता का भाव परिलक्षित होता। इसलिये आफिस के बड़े साहब प्यार से इस बंगाली बाबू को पगला बाबू कहकर पुकारते।

एक दिन श्यामाचरण ने अपने बड़े साहब को अत्यन्त उदास देखा और उदासी का कारण पूछने पर पता चला कि उनकी मेम साहिबा इंग्लैण्ड में काफी बीमार हैं यहाँ तक कि उनका बचना भी मुश्किल है। कई दिनों तक कोई सूचना न मिलने पर साहब अत्यन्त चिन्तित थे।

मानव-प्रेमी श्यामाचरण का मन करुणा से भर गया। वे स्वयं को संयत नहीं कर पाए। उन्होंने साहब से कहा कि वे थोड़ी देर में ही मेम साहिबा के बारे में सूचना ला देंगे।

साहब काफी दिनों से भारतवर्ष में रह रहे थे और भारतीय योगियों की अनेक अलौकिक कथाओं एवं करतूतों के सम्बन्ध में सुन

रक्खा था। तब भी अविश्वासी मन में विश्वास नहीं उभर पा रहा था। असहाय दृष्टि से वे श्यामाचरण की ओर देखते रहे।

श्यामाचरण आफिस के एक एकान्त कमरे में प्रवेश करक ध्यानस्थ हो गए। कुछ समय बीत जाने पर कमरे से बाहर आकर उन्होंने साहब को बताया कि उनकी मेम साहिबा स्वस्थ हो गई हैं और ज़ल्द ही पत्र आ रहा है। पत्र में लिखी बातों की ओर भी उन्होंने संकेत किया।

किन्तु संशयग्रस्त साहब के मन में संशय बना ही रहा। कई दिन बाद मेम साहिबा का पत्र आया और पत्र की बातों के साथ श्यामाचरण द्वारा बताई गई बातों का मेल देखकर साहब अवाक रह गए।

कई महीनों पश्चात् उक्त साहब की पत्नी इंग्लॅण्ड से दानापुर आईं। अँगरेज महिलाएँ अनेक बार अपने पतियों के आफिस में भी आया करतीं। एक दिन मेम साहिबा अपने पति से मिलने के लिए आफिस में आईं तो श्यामाचरण को देखते ही पहचान लिया और विस्मित हो गईं। साहब से उन्होंने कहा कि उनकी रोगशैय्या के पास यही महात्मा खड़े थे और उनकी कृपा से ही वे रोग-मुक्त हुई हैं।

पगला बाबू की इस अलौकिक क्षमता की बात सुनकर साहब फूले नहीं समाए।

कुछ दिन बाद उनका स्थानान्तर काशी के कार्यालय में हो गया और गरुड़ेश्वर स्थित अपने मकान में वे सपरिवार रहने लगे। उनकी साध्वी पत्नी काशीमणि देवी इतने दिनों तक अकेले ही सारी गृहस्थी का भार सँभाले रहीं। क्योंकि यहाँ से दूर अन्य स्थानों में नौकरी करते हुए वे बीच-बीच में ही समयानुसार मिल पाते थे। अब जबकि उनके पति यहाँ हैं; लेकिन गृहस्थी के प्रति उनका विशेष कोई ध्यान नहीं है। वेतन की सारी राशि वे पत्नी को सौंप देते। पतिपरायणा पत्नी की हैसियत से वे कभी भी उन्हें गृहस्थी के कार्यों के लिए विरक्त नहीं करतीं। स्वयं अपने हाथ रसोई बनाना, बच्चों को स्कूल भेजना एवं किसको क्या देना है सबकी ओर उनकी दृष्टि रहती। श्यामाचरण सभी विषयों में निर्लिप्त रहते। नियमित कार्यालय जाते और थोड़ा समय गृहस्थी को देकर शेष समय में वे कठोर योग-साधना में तल्लीन रहते। उनकी साध्वी पत्नी ने कभी भी पति के साधना-मार्ग में किसी प्रकार की बाधा की सृष्टि नहीं की। बल्कि उनकी साधना में किसी प्रकार की असुविधा न हो, इस ओर उनका विशेष ध्यान रहता। इस प्रकार श्यामाचरण रहस्यमय योग साधना के अनेक स्तरों को पार कर गहरी आध्यात्मिक शक्ति एवं योग-विभूति की प्राप्ति में सफल होने लगे।

अब से उन्होंने लोगों को दीक्षा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। केदारेश्वर मन्दिर के द्वार पर एक माली फूल एवं माला बेचा करता था, सबसे पहले उन्होंने उसी को दीक्षा दी। जिस प्रकार फूल खिलने पर भौंरे स्वयं ही मधु के लोभ में उपस्थित होते हैं। उसी प्रकार आहिस्ता आहिस्ता दो चार मुक्ति-कामी लोग उनके पास आने लगे। श्यामाचरण अपनी ओर से पूरी तरह प्रचार के विरुद्ध थे; किन्तु उनमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि वे धीरे-धीरे योगाचार्य की भूमिका में प्रतिष्ठित होने लगे।

काशीमणि देवी पूरी तरह से अपने पति की योग साधना की सफलता-प्राप्ति के सम्बन्ध में अनभिज्ञ थीं। एक दिन रात में अचानक उनकी नींद टूट गई। पति को न देखकर वे दिया जलाकर खोजने लगीं; उन्होंने देखा कि उनके पति घर के एक एकान्त कोने में शून्य में पद्मासन लगाकर बैठे हैं। अपने पति के इस अलौकिक योग-ऐश्वर्य को देखकर काशीमणि देवी की आँखों से चुपचाप आँसू की धारा फूट पड़ी। बगल में बैठकर हाथ जोड़े हुए क्षमा-याचना करने लगीं। बिना समझे उन्होंने कितना अन्याय किया है—ऐसी ही चिन्ताओं में डूबी रहीं। कुछ देर बाद पति के स्वाभाविक अवस्था में लौट आने पर उन्होंने उनसे क्षमा माँगते हुए योग-दीक्षा प्राप्त करने की प्रार्थना की। दूसरे दिन श्यामाचरण ने उन्हें योग की दीक्षा दी। काशीमणि देवी बचपन से ही प्रायः सब स्थूल पूजा करतीं। उनके पिता अपने समय के विख्यात पण्डित थे। इसीलिए बाल्यकाल से ही उन्हें स्थूल पूजा का अभ्यास था। इस कारण वे स्थूल पूजा भी करतीं और योग की भी साधना करतीं। श्यामाचरण स्थूल पूजा नहीं करते थे। किन्तु उन्होंने अपनी पत्नी को कभी स्थूल पूजा करने से मना नहीं किया। जिसका, जिसके प्रति विश्वास या आस्था है वे उसके प्रति कुछ नहीं कहते थे वल्कि उस पर दृढ़ रहने के लिये ही उत्साहित करते और साथ ही योगकर्म करने का भी उपदेश देते। उनका कहना था कि योग के ऊपर ही धर्म का मूलाधार है। बिना योग साधना के आत्म-दर्शन सम्भव नहीं। और आत्म दर्शन के विना आत्म संवित्ति या आत्मज्ञान नहीं होता। और आत्मज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं। मोक्ष प्राप्ति ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

धीरे-धीरे उनके भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। भगवानदास मोची, गिरिधारी चमार, कान्स्टेबुल विन्दा हरवाई एवं फेरीवालों से लेकर नामी-गरामी व्यक्ति, यहाँ तक कि कितने राजा-महाराजा भी उनकी कृपा प्राप्त करने लगे। प्रचार-विमुख होने के नाते उन्होंने कभी किसी सभा या मंच से खड़े होकर भाषण नहीं दिया। किसी भक्त द्वारा प्रचार

की बात कहने पर वे कहते थे कि सूर्य के उगने पर क्या ढिढोरा पीटकर उसे बताने की जरूरत है ? जिसके पास दृष्टि है वह तो देखेगा ही। ऐसे ही, 'आत्मधर्म का प्रचार भी निष्प्रयोजनीय है। प्रयोजनवश लोग स्वयं चले आयेंगे। जहाँ कोई सही, सार-सत्य नहीं रहता वहीं प्रचार की जरूरत पड़ती है। उन्होंने किसी मठ, मिशन अथवा आश्रम की स्थापना नहीं की। संन्यास की अपेक्षा वे गृहस्थ-जीवन को ही अधिक मर्यादा देते थे।

कुछ साधक ऐसे हैं जिनकी लोक-यात्रा या जीवन-दर्शन तथा साधना के भीतर कुछ विशेष परिलक्षित होता है। ज्वार में बहते हुए चलना उनके स्वभाव में नहीं होता। जिन सब महात्माओं में नयापन होता है उन्हें ही लोग महापुरुष की संज्ञा प्रदान करते हैं। श्यामाचरण भी योग-मार्ग में इसी प्रकार की नवीनता स्थापित करने में सक्षम थे।

श्यामाचरण के वृद्ध श्वसुर वाचस्पति महाशय एक निष्ठावान विख्यात पण्डित के रूप में सुपरिचित थे। उन्होंने भी अपने दामाद श्यामाचरण की अपूर्व योग-सिद्धि से आकर्षित एवं प्रभावित होकर उनसे योग की दीक्षा प्राप्त की। उसके बाद वे दामाद का नाम लेकर नहीं पुकारते थे बल्कि प्यार से योगिराज कहा करते थे तभी से वे योगिराज के रूप में परिचित हुए। योगिराज के एक विख्यात पण्डितभक्त देवघर निवासी पंचानन भट्टाचार्य महाशय उन्हें 'काशी के बाबा' कहा करते थे। आजकल उनके भक्तगण उन्हें 'बड़े बाबा' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

योगिराज के श्वसुर पंडित देवनारायण वाचस्पति प्रायः सौ वर्ष की उम्र में स्वर्गवासी हुए। वाचस्पति महाशय जब मृत्यु शैय्या पर थे; उस समय काशीमणि देवी की आन्तरिक इच्छा थी कि योगिराज एक बार परलोक-यात्रा की प्रतीक्षा में रुग्ण पड़े वृद्ध श्वसुर को प्रणाम कर आयें। काशीमणि देवी ने जब अपनी यह इच्छा योगिराज के सामने व्यक्त की तब वे कुछ न कहकर हँसने लगे। मृत्यु से कुछ पूर्व योगिराज़ मरणासन्न श्वसुर को देखने गए; किन्तु उन्हें प्रणाम नहीं करने पर काशीमणि देवी को कष्ट हुआ। जबकि देवनारायण वाचस्पति भी योगिराज को प्रणाम नहीं करने देते थे।

१८८० ई० के सितम्बर महीने में उन्होंने सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त किया। उस समय उनकी मासिक पेन्शन की राशि २९ रुपया चार आना तीन पैसा निर्धारित की गई थी। इस सामान्य आय से गृहस्थी का निर्वाह न होने के कारण वे काशी-नरेश ईश्वरी नारायण सिंह के पुत्र प्रभुनारायण सिंह को शास्त्र आदि ग्रन्थ पढ़ाने के लिए गृह-शिक्षक के रूप में कार्य करने लगे। उनका वेतन तीस रुपया

प्रति माह था। प्रतिदिन काशी-नरेश की नौका योगिराज को गंगा के उस पार स्थित रामनगर राज-प्रासाद ले जाती। वर्षाकाल में गंगा में बाढ़ के कारण उनके रहने की व्यवस्था राज-प्रासाद में ही की जाती थो। काशीनरेश स्वयं धर्मपरायण एवं शास्त्रज्ञ थे। काशीनरेश, श्यामाचरण द्वारा सभी शास्त्रों के अध्यापन, विशेष रूप से वेदान्त के अध्यापन से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ जानने की उत्सुकता प्रकट की। योगिराज हमेशा आत्म-अभिगुप्ति की ही भूमिका में रहते। स्वयं को प्रकट नहीं करते थे। योगिराज के सहपाठी गिरीशचन्द्र दे काशी स्टेट में उच्चपद पर कार्य-रत थे, इसीलिये राजा के साथ उनकी गाढ़ी मित्रता थी। एक दिन बातों के दौरान गिरीश बाबू ने राजा से कहा—'श्यामाचरण साधारण व्यक्ति नहीं हैं। वे सिद्ध महायोगी हैं।'

राजा ने उत्तर में कहा—'उनको देखकर और उनका शास्त्र ज्ञान सुनकर मेरा भी ऐसा ही अनुमान था। अब तुम्हारी बातों से विश्वास दृढ़ हो गया।' इसके पश्चात् ही राजा एवं उनके पुत्र प्रभुनारायण सिंह ने उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया।

श्यामाचरण की तीन क्वाँरी लड़कियाँ थीं; हरिमती, हरिकामिनी और हरिमोहिनी उनका नाम था। काशीमणि देवी बड़ी लड़की हरिमती के विवाह के लिए अत्यन्त बेचैन थीं। विवाह का दिन भी निश्चित हो गया; किन्तु विवाह में देने योग्य अर्थ कहाँ से आये? काशीमणि देवी ने अपने पति को इस सम्बन्ध में बतलाया। योगिराज ने कहा—"चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं, जिसकी चिन्ता है, वह करेगा हो। समय पर अंगद सब कुछ लायेगा।"

कई दिनों बाद काशी नरेश ने योगिराज की लड़की के विवाह के लिए एक सुन्दर जरीदार थैली में कुछ मोहरें भिजवाई। इससे भगवान की इस अमोघवाणी की सत्यता प्रमाणित होती है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता : ९।२२

अर्थात् सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर जो मेरी ही या (आत्मा) की उपासना करते हैं, मैं उनके पार्थिव एवं अपार्थिव सभी तरह के योग-क्षेम का भार वहन करता हूँ।

योगिराज की बड़ी लड़की का विवाह ढाका जिले के लटाखोला गाँव के निवासी रामचरण मैत्र के साथ हुआ था। इसके पश्चात मझली लड़की हरिकामिनी का विवाह बंगाल के पाबना जिले के भारांगा गांव में गंगादास चौधरी के साथ तथा छोटी लड़की हरिमोहिनी

का विवाह विष्णुपुर में कादाकुलि गाँव के निवासी राममय भट्टाचार्य के साथ हुआ था।

योगिराज सामान्य रूप से कभी बीमार नहीं पड़ते थे। वे हृष्ट-पुष्ट एवं काफी स्वस्थ थे। बीच में एकबार अर्श रोग से पीड़ित अवश्य थे; किन्तु थोड़े उपचार एवं चिकित्सा से ही रोग-मुक्त हो गए।

योगिराज धोती फतुही और पंजाबी कुरता पहनते थे। बाहर फीते वाला कपड़े का जूता इस्तेमाल करते थे और घर में खड़ाऊँ व्यवहार में लाते थे। उनका वह जूता आज भी सुरक्षित है। वे सबेरे जलपान नहीं करते थे। थोड़ा घी और चीनी खाकर जलपान करके दोपहर को भोजन करते। वे निराभिषभोजी थे। दूध ज्यादा पीते थे। प्रतिदिन भोजनोपरान्त वे हुक्के पर तम्बाकू का सेवन करते। उसी समय घर-परिवार के लोगों के साथ मनोरंजन भी करते। उनकी ऊँचाई पाँच फीट चार इंच थी। वे आजानुबाहु थे। शरीर का निचला हिस्सा शाकआलू के रंग जैसा साफ़, सुन्दर था। बीच का हिस्सा गुलाबी रंग का था एवं मस्तक तथा मुख-मण्डल का रंग लाल दूधिया था। उनका चेहरा अत्यन्त आकर्षक था। यदि वे रास्ते में पैदल कहीं जाते तो उन्हें जो पहचानते भी नहीं थे उनके आकर्षक चेहरे को देखकर श्रद्धा से सर झुकाकर रास्ता छोड़कर बगल खड़े हो जाते थे। प्रारम्भ में वे सारी रात योग-साधना करते थे और अन्तिम दिनों में सुबह तड़के उठकर साधना किया करते थे। उसके बाद सबेरे गंगास्नान के पश्चात् पुनः साधना करते थे। उस वक्त साधारणतः किसी से भेंट मुलाकात नहीं करते थे।

योगिराज के एक भक्त मटरू की काशी में दरजी की दूकान थी। मटरू प्रायः प्रतिदिन सायंकाल आकर योगिराज के उपदेश सुना करता था। गरीब होने के कारण वह योगिराज की कोई सेवा नहीं कर पाता था। किन्तु सेवा करने की उसकी प्रबल इच्छा थी। इसीलिए वह प्रतिदिन दो बीड़ा बढ़िया पान योगिराज के लिए लाता। योगिराज भी दोनों वक्त भोजन के पश्चात् प्रसन्नतापूर्वक पान का सेवन करते। मटरू के जीवन का यह एक व्रत था और उन्हें सारा जीवन वह पान खिलाता रहा। योगिराज के देहान्तर के बाद भी मटरू काफी दिनों तक जीवित था। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह प्रतिदिन दो बीड़ा बढ़िया पान सजाकर लाता और योगिराज की खड़ाऊँ के ऊपर रखकर वहीं बैठकर हाथ जोड़े प्रार्थना करता। उस समय आत्म-विभोर मटरू की दोनों आँखों से झर-झर आँसू बहते रहते।

पंचम परिच्छेद

योगारूढ़

योगिराज सभी जीवों एवं पदार्थों में नारायण का दर्शन करते थे। किसी दर्शनार्थी या भक्त के प्रणाम करने पर वे प्रत्याभिवादन करते; किन्तु कोई यदि पाँव छूकर प्रणाम करना चाहे तो यह उन्हें पसन्द नहीं था।

किसी ब्रह्मज्ञानी ने अपनी साधना की उपलब्धियों को डायरी में लिपिवद्ध किया है—ऐसी जानकारी तो नहीं है; किन्तु योगिराज इस प्रकार की छब्बीस डायरी छोड़ गए हैं। जो अब भी यत्नपूर्वक सुरक्षित हैं। उन्होंने बांग्ला अक्षर में और हिन्दी भाषा में डायरियाँ लिखी हैं। जिनके माध्यम से उनकी साधना के विकास-क्रम को समझने में कोई असुविधा नहीं होती। वे साधना के एक ऐसे उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित थे जिसे आज भी उनकी इन डायरियों के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है। उन्होंने एक जगह लिखा है :—

"मय कुछ नाहि, ओहि सूर्यहि जो कुछ हय, बिलकुल मालिक, उह छोड़ाय दुसर कुछ नाहि उसका रुप निचे लिखा देखो।"

अर्थात् मैं कुछ भी नहीं हूँ, वह आत्मसूर्य ही सब कुछ है। सम्पूर्ण मालिक। उस आत्मसूर्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसका रूप नीचे लिखता हूँ।

इसके पश्चात् एक मनुष्य की मुखाकृति अंकित है और उसके कपाल के ऊपर उन्होंने लिखा है :—**"हम श्यामाचरण सूर्य।"**—मैं ही वह श्यामाचरण आत्मसूर्य हूँ।

अन्य एक स्थान पर लिखा है :—

"ओहि सूर्य उसिका ज्योत समेत ओहि महापुरुष ब्रह्म हय—बड़ा आनन्द—आब बड़ा मजा हुआ, अब बिलकुल स्वासा भितर चलता हय, इसके बराबर आनन्द कोइ दुसरा बात नहि, इसिका नाम चिदानन्द—एहि ब्रह्म—एत्तेरोज बाद आज जन्म सफल।"

अर्थात् ज्योति समेत सूर्य (आत्म सूर्य) वही महापुरुष ब्रह्म है। परम आनन्द। अब बड़ा ही मजा (आनन्द) आया। अब साँस पूरी

तरह भीतर-भीतर चल रही है। ऐसा आनन्द दूसरे किसी में प्राप्त नहीं होता। इसका ही नाम चिदानन्द है। यही ब्रह्म है। इतने दिन बाद आज जन्म सफल हुआ।

अर्थात् प्राणकर्म करते-करते जब श्वास-प्रश्वास की गति सम्पूर्णतः स्थिर होकर सुषुम्नावाही हो जाती है तभी यह अवस्था प्राप्त होती है। इसीलिए उनका कहना है कि इस अवस्था में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह किसी और माध्यम से प्राप्त नहीं होता। इसी शाश्वत आनन्द की स्थिति में वे कहते हैं कि इतने दिनों बाद आज मानव जन्म सफल हुआ। अर्थात् उन्हें पूर्ण-ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

और भी अन्यत्र लिखा है :—"अपनाहि स्वरुप नारायणको देखा। महादेव ओ पार्वती आदमि का रुप देखा पार्वती हमें चूमा दिया।" अर्थात् स्वयं स्वरूप नारायण को देखा। मनुष्य के रूप में महादेव एवं पार्वती के रूप का दर्शन किया। 'मातृ-स्नेह-भावना के साथ पार्वती ने मुझे चुम्बन दिया।" इस स्थिति में अद्वैत-भावना में प्रतिष्ठित होकर वे स्वयं को और नारायण को एक रूप में देख रहे हैं।

इस प्रकार लिखी गई कुछ बातें ज्यों की त्यों यहां उपस्थित की गई हैं। इस से ज्ञात होता है कि वे साधना की कितनी ऊँचाई पर स्थित थे।

अपने एक भक्त कान्सटेबुल विन्दा हलवाई की प्रशंसा करते हुए वे कहा करते थे।—'विन्दा सच्चिदानन्द-सागर में बह रहा है।'

अवकाश प्राप्त करने के बाद एक वरिष्ठ आचार्य की वृहत्तर भूमिका में उनकी जीवन-साधना शुरू होती है। गुरु-कृपा से असाधारण योग-विभूति के अधिकारी होने के वावजूद इस महायोगी ने गृहस्थाश्रम में रहकर मुख्य रूप से गृहस्थों के बीच योग-साधना का प्रचार किया। प्रत्येक वर्ग एवं वर्ण के लोग, वे चाहे ब्राह्मण; क्षत्रिय, शूद्र—हिन्दू मुसलमान, क्रिश्चियन, यहाँ तक कि राजा–महाराजा अथवा रास्ते के भिखारी हों—सब को उनकी कृपा एवं स्नेह प्राप्त था। देवघर के बालानन्द ब्रह्मचारी, काशी के भास्करानन्द सरस्वती नानकपंथी साईंदास बाबा[१] के साथ अनेक त्यागी, संन्यासी भी उनके सान्निध्य में रहकर धन्य हुए हैं।

१—अहमदाबाद जिले में शिरडी के महायोगी साईं बाबा संभवतः १८५० ई० में पैदा हुए थे और १८ अक्तूबर १९१९ ई० में उनका स्वर्गवास हुआ था। उनके जीवन चरित के अनुसार पता चलता है कि वे कबीर पंथी थे। वे कभी काशी आए थे ऐसी किसी बात की भी जानकारी नहीं प्राप्त होती।

काशी-नरेश ईश्वरी नारायण सिंह कभी-कभी तैलंग स्वामी एवं भास्करानन्द सरस्वती के दर्शनार्थ जाया करते थे। एक दिन उन्होंने भास्करानन्द के समक्ष इस गृही महायोगी की अत्यन्त प्रशंसा की। प्रभावित होकर भास्करानन्द ने उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु संन्यासी होने के नाते किसी गृहस्थ के घर जाकर उससे मिलना उचित नहीं—यह सोचकर उन्होंने राजा से अनुरोध किया कि यदि वे उस गृहस्थ योगी को सानुरोध एवं साग्रह उनके पास ला सकें तो अच्छा हो। पहले तो योगिराज राजी नहीं हुए; किन्तु विशेष अनुनय-विनय एवं अनुरोध के पश्चात् अन्त में वहाँ जाना स्वीकार किया और काशी-नरेश स्वयं योगिराज को अपनी बग्घी या घोड़ागाड़ी में भास्करानन्द के पास ले गए। दो महामानवों का मिलन हुआ। भास्करानन्द ने गृही-योगी की साधना-पद्धति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की और उनकी साधना-पद्धति को प्राप्त करने का सहर्ष अनुरोध भी किया था।

काशी के प्रसिद्ध होमियोपैथ चिकित्सक गोपालचन्द्र वन्द्योपाध्याय एवं उनके एक मित्र कभी-कभी तैलंग स्वामी का दर्शन करने जाते। डा० वन्द्योपाध्याय योगिराज के शिष्य थे। एक दिन दोनों मित्रों ने

किन्तु लाहिड़ी बाबा की दैनन्दिनि में इस बात का उल्लेख है कि उन्होंने नानकपंथी साईंदास बाबा को क्रिया-योग की दीक्षा प्रदान की है। यह भी ज्ञात है कि शिरडी के साईंबाबा कभी भी अपने गुरु का नाम किसी को बताते नहीं थे किन्तु 'भेनकुश' छद्मनाम से उनके नाम का उल्लेख करते। हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन इत्यादि सभी श्रेणियों के लोगों को उनका आश्रय एवं आशीर्वाद प्राप्त होता था। धर्म सम्बन्धी विचारों एवं साधना पद्धति की दृष्टि से दोनों में अनेक अंशों तक मेल दिखाई देता है शिरडी के-साईंदास बाबा सचमुच ही कबीर पंथी थे—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर लाहिड़ी बाबा के जीवन-काल में, भारतवर्ष में एकमात्र शिरडी के साईंदास बाबा का ही नाम मिलता है, दूसरे किसी साईंबाबा के नाम का पता नहीं चलता। शिरडी के साईंबाबा वस्तुतः कहाँ के थे इसकी भी सही जानकारी नहीं प्राप्त होती। संभवतः १८७२ ई० में वे अकस्मात् ही शिरडी ग्राम में आये थे। कबीर-पंथी के रूप में, इनकी जीवनी के सिलसिले में जो वर्णन या परिचय मिलता है, उसकी सत्यता के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि साईंबाबा सभी कुछ गोपन रखते थे। इन्हीं कारणों से लगता है शिरडी के साईंदास बाबा ने ही लाहिड़ी बाबा से क्रिया-योग की दीक्षा प्राप्त की होगी और कबीर पंथी न होकर, संभव है, नानक पंथी रहे हों।

योगिराज से अनुरोध किया कि वे तैलंग स्वामी से भेंट कर लें। योगिराज की सहमति के बाद डॉ० वन्द्योपाध्याय उन्हें तैलंग स्वामी के पास ले गए। उन दिनों काशी धाम में स्वामी जी की अत्यन्त ख्याति थी। उन्हें काशी का साक्षात् जीवन्त शिव कहा जाता था। स्वामी जी अपने पंचगंगा घाट के आश्रम में मौन बैठे हैं और उनके चारों ओर भक्तगण बैठे हैं। डॉ० वन्द्योपाध्याय के साथ धोती-कुरता पहने श्यामाचरण को आते हुए देख कर स्वामी जी खड़े हो गये और तेजी से आगे बढ़कर उन्हें अपने सीने से लगा लिया। दोनों महामानव प्रत्याभिवादन के पश्चात् कुछ क्षण चुपचाप खड़े रहे। इन दोनों महायोगियों का मिलन देखकर डॉ० वन्द्योपाध्याय की आँखों में प्रेम के आँसू छलक आये। उसके पश्चात् वे अपने गन्तव्य स्थल की ओर चले गये।

स्वामी जी के निकट उपस्थित भक्तगण योगिराज को नहीं जानते थे। उन्होंने कभी भी स्वामी जी को किसी के साथ इस प्रकार प्रेमपूर्वक मिलते हुए और आलिंगन करते हुए नहीं देखा। सभी ने उत्सुकतावश स्वामी जी से योगिराज के बारे में जानना चाहा। तब मौन स्वामी जी ने एक स्लेट पर लिखा—"जिसको प्राप्त करने के लिये साधुओं-संन्यासियों को कौपीन तक को भी त्याग देना पड़ता है; उसे ही इस महात्मा ने गृहस्थाश्रम में रहकर प्राप्त किया है।"

स्वामी जी के निकट उपस्थित भक्तों में से एक भक्त कौतूहल वश दूसरे दिन योगिराज के दर्शनार्थ आया था और गोपाल बाबू से चर्चा की थी।

महात्मा तैलंग स्वामी की इस स्वीकृति के द्वारा भारत के अन्यतम श्रेष्ठ गृही योगी श्यामाचरण की ख्याति लोक-जीवन में शीघ्र ही फैल गई। शिव-क्षेत्र काशीधाम की सीमा पार करके भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक योगिराज के अलौकिक चमत्कारों का प्रचार-प्रसार होने लगा। उनकी सिद्धि एवं ज्ञान के आलोक की किरणों से आकृष्ट होकर जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय के भेद-भाव से अलग सभी वर्णों एवं वर्गों के लोग उनके पास आने लगे। वे भी पतित पावन की तरह उदारतापूर्वक अपनी कृपा का मुक्त हस्त से वितरण करने लगे।

वे चाहते थे कि सभी गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हों। यदि कोई संन्यास लेने की इच्छा प्रकट करता तो वे उसे समझा बुझाकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने की सलाह देते। उनका कहना था—'संन्यास-जीवन अत्यन्त कठिन है। किसी कारणवश भूल होने पर भी गृहस्थ तो क्षम्य है; किन्तु ऐसी स्थिति में

संन्यासी को क्षमा नहीं किया जा सकता। । संन्यासी की वेष-भूषा में आध्यात्मिकता का बाहरी प्रकाश रहता है; किन्तु आत्म प्रकाश या स्वयं को अभिव्यक्त करने के प्रति अनिच्छुक शान्त गृहस्थ साधक की आडम्बर-रहित साधना में बाहरी प्रकाश नहीं रहता।" हालांकि उनके अनेक संसार-त्यागी शिष्य भी थे। वे सभी जातियों के लोगों को हिन्दू धर्म की अत्यन्त गुह्य इस योग-क्रिया की दीक्षा दिया करते। इसीलिये उनके विरुद्ध तमाम आलोचनाएँ भी होतीं—वे मुस्कराते हुये कहते थे—"मैं ब्राह्मण के भीतर चाण्डाल देखता हूँ और फिर चाण्डाल के भीतर ब्राह्मण भी देखता हूँ। सौभाग्य से एक अच्छा मार्ग मुझे मिला है। जबकि मनुष्य के भीतर मनुष्य देखता हूँ और यदि वह कुछ पूछता है तो फिर उसे कुछ बतलाना-समझाना मेरा कर्त्तव्य है।"

काशी के प्रसिद्ध दण्डी स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जो गृहस्थाश्रम में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वे भी योगिराज के कृपा-पात्र थे। काशी स्थित अहल्याबाई घाट के निकट विशुद्धानन्द के मठ में वे रहते थे। योगिराज के महाप्रयाण के पश्चात् भी वे अनेक दिन जीवित थे। मृत्यु के पहले उन्हें अत्यन्त शारीरिक कष्ट हो रहा था। उनकी इस अस्वस्थता के कारण योगिराज के पुत्र तिनकोड़ी लाहिड़ी प्रायः उन्हें देखने जाते थे। उस समय उनकी सेवा के प्रति कुछ उपेक्षा भी हो रही थी। इसीलिये उन्होंने एक दिन तिनकोड़ी लाहिड़ी से अपने वर्तमान जीवन की भर्त्सना करते हुये कहा था—"अब देखता हूँ कि गृहस्थाश्रम ही अच्छा था।" इस प्रकार विशुद्धानन्द सरस्वती ने गृहस्थाश्रम को ही विशिष्ट रूप से मर्यादा प्रदान की थी।

सर गुरुदास वन्द्योपाध्याय एवं कालीकृष्ण ठाकुर योगिराज के दर्शनार्थ मानसे चुँचुड़ा अदालत के प्रसिद्ध वकील एवं योगिराज के भक्त सुरेन्द्रनाथ गांगुली के साथ काशी धाम आकर रंगपुर की काकिना स्टेट की अतिथि-शाला में ठहरे थे। बाद में इन्हीं सुरेन्द्रनाथ गांगुली द्वारा सूचना मिलती है कि उसी समय उन दोनों महानुभावों ने योगिराज से क्रिया योग की दीक्षा प्राप्त की थी।

उदयपुर के राजा के भाई एवं वहाँ के एक श्वेत कुष्ठ रोगी ने उनसे दीक्षा प्राप्त की थी। परवर्तीकाल में देखने में आता है कि उन्होंने रोग मुक्त होकर साधना के क्षेत्र में उन्नत अवस्था प्राप्त की थी।

हुगली जिले के श्रीरामपुर वासी श्यामाचरण लाहिड़ी एक अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति थे; उन्होंने योगिराज से १५ अक्टूबर १८८८ ई० में दीक्षा प्राप्त की थी। योगिराज के जीवन काल में उक्त श्यामाचरण के देहान्त का समाचार अखबारों में प्रकाशित होने पर अनेक भक्तों ने भ्रान्तिवश योगिराज के निवास-स्थान काशी के पते पर पत्र लिखा था।

षष्ठ परिच्छेद

आर्ष जीवन

भारतीय संस्कृति में शास्त्रीय विधान एवं योग-चर्या—अथवा योग साधना का अपूर्व एवं अद्‌भुत समन्वय हुआ है। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार भारतीयों ने शास्त्र द्वारा निर्देशित एवं निर्धारित मार्ग पर जीवन यापन के साथ-साथ योग-सिद्धि भी प्राप्त की है तथा उसके द्वारा वे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में सफल रहे। शरीर जीर्ण हो जाने पर वे यौगिक प्रक्रिया के माध्यम से उसे जीर्णवस्त्र की तरह अनायास छोड़कर नया शरीर धारण कर लेते थे। यह परम्परा कालिदास के काल तक निरन्तर गतिशील थी। इस तथ्य की जानकारी हमें 'रघुवंश' (१।८) के "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" वाक्य से प्राप्त होती है।

योगिराज ने वेदान्त, उपनिषद, गीता सहित अनेक धर्मग्रन्थों की आध्यात्मिक एवं यौगिक व्याख्या की थी। उनकी वे व्याख्याएँ अपूर्व थीं। साधारण लोगों के लिये बोधगम्य न होने के बावजूद साधकों के लिये वे विशेष रूप से प्रयोजनीय थीं। विशेष रूप से गीता की इस प्रकार की साधना सम्बन्धी एवं रहस्यपूर्ण तथा आध्यात्मिक-यौगिक व्याख्या उनके पूर्व किसी ने की है—हमें ज्ञात नहीं। प्रारम्भ में गीता साधारणतः पंडितों एवं विद्वानों द्वारा ही आलोचित होती। सामान्य लोगों में उसका प्रचार उतना नहीं था। वे ही गीता को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में ग्रहण करने का उपदेश दे गये हैं। उन्होंने गीता को भारतवर्ष के प्राण के रूप में समझा था। इसीलिए उन्होंने गीता की हजारों प्रतियाँ छपवा कर भक्तों के बीच वितरित किया था। प्रतिदिन वे गीता की व्याख्या करते और भक्तों को समझाते। गीता की उस अद्‌भुत व्याख्या के कारण अनेक भक्त उससे आकृष्ट होकर उनके पास आते। इसके पूर्व अनेक आचार्यों एवं महात्माओं ने गीता को अनेकों दृष्टियों से देखा है। किसी ने द्वैतवाद, किसी ने अद्वैतवाद और किसी ने द्वैताद्वैतवाद की दृष्टि से गीता की

व्याख्या प्रस्तुत की है। किसी ने इसमें ज्ञान की प्रधानता, किसी ने भक्ति की प्रधानता तथा किसी ने कर्म की प्रधानता की ओर संकेत किया है; किन्तु गीता एक पूर्णांग योग शास्त्र है इस दृष्टि से कुछ इने-गिने मनीषियों ने ही देखा और इस तथ्य को उपलब्ध किया है। गीता के अठारहों अध्याय योग ही हैं। जैसे विषाद योग, सांख्य योग, कर्म योग, भक्ति योग आदि।

इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्ज्जुन संवादे इत्यादि" का उल्लेख है। अतएव गीता ब्रह्म विद्या विषयक योग शास्त्र है। भगवत प्राप्ति के लिए जिस प्रकार कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग प्रसिद्ध है, उसी प्रकार योग-मार्ग भी एक प्रसिद्ध मार्ग है। प्राचीन काल में ऋषियों ने योग-मार्ग को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्रदान की थी। गीता में सर्वत्र योग की ही चर्चा है। इस मार्ग के सम्बन्ध में विज्ञानसम्मत तत्त्वों एवं तथ्यों के साथ आलोचना की गई है। यह केवल आलोचनात्मक शास्त्र नहीं है, इसमें आध्यात्मिक मार्ग के साधना सम्बन्धी कर्मों एवं उनके विधान के प्रति भी संकेत किया गया है। भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को योगी होने का उपदेश दिया है; क्योंकि योगी के बिना दूसरा कोई गीता को सम्पूर्ण रूप से जानने में समर्थ नहीं। गीता, साधना और अनुभव का ग्रन्थ है। इसलिये यदि कोई कर्म, भक्ति एवं ज्ञान आदि जिस किसी भी मार्ग की साधना करता है तो वह सभी योग है। योग के बिना साधना सम्भव नहीं। योग अर्थात् मिलन—यानी योग का अर्थ है युक्त होना। जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही योग का मूल उद्देश्य है। जीवात्मा को परमात्मा के साथ युक्त करना ही सभी साधकों का एकमात्र उद्देश्य है।

स्वयं योगिराज द्वारा लिखित गीता समेत कई ग्रन्थों की व्याख्या मिलती है।[१] इसके अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों की आध्यात्मिक

१—योगिराज ने निम्नलिखित २६ ग्रंथों का यौगिक भाष्य किया था।
१—गीता-२. वेदान्त दर्शन ३. गौतम सूत्र ४. अष्टावक्र संहिता ५. सांख्य दर्शन ६. ओंकार गीता ७. गुरुगीता ८. तेजविन्दु उपनिषद. ९. ध्यान विन्दु उपनिषद १०. अमृत विन्दु उपनिषद ११. अविनाशी कबीर गीता १२. कबीर की दोहावली १३. मीमांसार्थ संग्रह १४. निरालम्बोपनिषद १५. चरक १६. चण्डी १७. लिंगपुराण १८ तंत्रसार १९ यंत्रसार २०. जपुजी (नानक साहेब कृत आदिग्रंथ) २१. वैशेषिक दर्शन २२. पातंजल योगसूत्र २३. मनुसंहिता वा मनुरहस्य २४. पाणिनीय शिक्षा २५. तैत्तिरीय उपनिषद २६. अवधूत गीता।

व्याख्या जब वे भक्तों के सम्मुख करते तब पंचानन भट्टाचार्य, प्रसाददास गोस्वामी एवं महेन्द्रनाथ सान्याल उसे लिपिवद्ध कर लेते थे। बाद में उन्होंने अपने-अपने नाम से ग्रन्थों को प्रकाशित किया। योगिराज ने अपने नाम से किसी भी ग्रन्थ को प्रकाशित करने की अनुमति नहीं दी। उनके रोजनामचे में वैशेषिक दर्शन की योग शास्त्र सम्मत एक अपूर्व व्याख्या देखने को मिलती है।

उनके द्वारा की गई गीता की व्याख्या अपूव थी। उदाहरणार्थ जैसे गीता में कहा गया है "श्री भगवान उवाच।" उनके पहले एवं पश्चात् सभी ने उसका भाष्य किया है "श्री भगवान ने कहा।" किन्तु योगिराज ने अपने भाष्य में कहा है "**कूटस्थ द्वारा अनुभव किया जा रहा है।**" यह सम्पूर्णतः एक अनुभवजन्य भाष्य है। कूटस्थ ही सब कुछ है क्योंकि श्री भगवान ने कहा है :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ गीता १५।१६

अर्थात् क्षर एवं अक्षर नाम से इस लोक में दो पुरुष प्रसिद्ध हैं, उनमें समस्त भूत या पदार्थ को क्षर एवं नश्वर तथा कूटस्थ चैतन्य को अक्षर या अविनश्वर पुरुष कहा गया है।

यह कूटस्थ क्या है इसकी व्याख्या पहले किसी ने नहीं की है। वैसे यह व्याख्या-सुलभ है भी नहीं। इसे तो साधना-द्वारा प्राप्त किया जाता है, अनुभूति के द्वारा जाना जाता है जिसे केवल योगी ही जानते हैं। कूट शब्द का अर्थ है 'निहाई'। अर्थात् वह लौहपीठ जिसके ऊपर लुहार एवं सुनार लोहा या सोना पीटकर उसे अनेक प्रकार की वस्तुओं, अलंकारों, उपकरणों आदि में परिवर्तित करते हैं, उन्हें तैयार करते हैं; किन्तु निहाई ज्यों की त्यों रहती है। निहाई में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वह निर्विकार रहती है। उसी प्रकार कूटस्थ के आधार पर ही समस्त जगत की वर्तमानता आधारित है। सभी कुछ परिवर्तन-शील है; किन्तु कूटस्थ के परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं। वह तो अविनाशी है। अर्थात् जिसे हम त्रिनेत्र या तीसरी आँख अथवा तुरीय दृष्टि एवं ज्ञानचक्षु कहते हैं वही कूटस्थ की परिभाषिक संज्ञा है। इसी कूटस्थ में जब योगी स्थित होता है तब उसे विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है जो उसके अनुभव के द्वारा उजागर होता है। कूटस्थ ही सबका उत्स या मूल केन्द्र है जहाँ आध्यात्मिक जगत की अभिव्यक्ति होती है। कूटस्थ में स्थित होने पर योगी को सभी प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होता है। स्वयं ही योगी के समक्ष तमाम प्रश्न उभरते हैं साथ ही उनकी मीमांसा या समाधान भी प्रस्तुत होते रहते हैं। दूरबीन

की सहायता से जिस प्रकार बहुत दूर की वस्तुएँ दीखती हैं उसी प्रकार कूटस्थ में स्थिति प्राप्त करने से विश्व-ब्रह्माण्ड दीखता है । अर्जुन, तैजस् तत्त्व है उसके द्वारा योगी के भीतर जिज्ञासाएँ उभर रही हैं और कूटस्थ (कृष्ण) द्वारा निरन्तर दीप्त, अभिव्यक्त हो रही हैं । समस्त योगियों को इसका अनुभव होता है । इसीलिए गीता अनुभव का ग्रंथ है । इसीलिए उन्होंने अपने भाष्य में कहा है कि "कूटस्थ के द्वारा अनुभव हो रहा है ।" योगी को प्राणायाम की स्थिति में योनिमुद्रा द्वारा आज्ञाचक्र के स्वर्णाभा युक्त परिधि या मण्डल के बीच की कृष्णता के भीतर विन्दु स्वरूप एक चक्षु दिखाई देता है; तत्पश्चात् करोड़ों सूर्यों की आभा धारण करता हुआ वह योगी को 'आत्महारा' कर देता है । यही सुदर्शनचक्र हैं जिसके दर्शन से योगी के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, वह उन्हें हर लेता है । इसीलिए उसे हरि कहा गया है । वही पापों का हरणकर्त्ता है । सुदर्शन का अर्थ है जो देखने में सुन्दर हो । मध्य में कृष्णवर्ण के रूप में कृष्ण और उसके भीतर निश्चल स्थिर विशिष्ट तारका-विन्दु ध्रुव है, वही तारकनाथ है । यहाँ स्थिति होने पर योगी को ध्रुव-ज्ञान प्राप्त होता है । गगन या आकाश की तरह होने से उसे 'गगनगुहा' कहा जाता है । यदि वहाँ स्थिति प्राप्त हो तो योगी को समस्त धर्मतत्त्वों का ज्ञान होता है । इसी की ओर ही लक्ष्य करते हुए युधिष्ठिर ने कहा है—"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।" (—महाभारत : वनपर्व; वक-यक्ष संवाद) यह कूटस्थ ही अक्षर पुरुष अर्थात् अविनाशी पुरुष के नाम से प्रसिद्ध है । इस कूटस्थ रूपी 'सुदर्शनचक्र' के दर्शन से योगी के विपरीत मनोभावों या प्रवृत्ति-पक्ष के समर्थक असुरों का ह्रास-नाश होता है । तब योगी निवृत्ति-मार्ग पर चलने में समर्थ होता है । इसकी ओर ही लक्ष्य करते हुए तुलसीदास ने कहा है :—

> **जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे ।**
> **विधिहरि सम्भु नचावनि हारे ।।**
> **तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा ।**
> **और तुम्हहि को जाननिहारा ।।**
>
> —रामचरित मानस : अयोध्याकाण्ड

अर्थात् जगत दृश्यमान है, तुम ही द्रष्टा हो; ब्रह्मा, विष्णु, महेश को तुम्हीं नचाते हो, वे भी तुम्हारा मर्म नहीं जानते, तो फिर और कोई दूसरा तुम्हें कैसे जान सकता है ।

तुलसीदास कहते हैं कि यह जगत दृश्यमान है, एवं तुम्हीं द्रष्टा हो । ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर को तुम्हीं नचा रहे हो अर्थात् सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही त्रिदेव हैं । ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता अर्थात् रजोगुण,

महेश्वर नाशकर्ता अर्थात् तमोगुण, विष्णु पालनकर्ता अर्थात् सत्वगुण के प्रतीक हैं। इन तीनों गुणों के परिचालक तुम्हीं हो क्योंकि देह के भीतर स्थित ये तीनों गुण प्राणशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। प्राण के अस्तित्व में ही उनका अस्तित्व है। प्राण न हो तो तीनों गुण भी नहीं रहते। इसीलिए वे कहते हैं कि इन तीन गुणों को तुम्हीं नचाते हो। अर्थात्, हे आत्माराम, इन तीनों देवताओं के भीतर तुम्हीं कूटस्थ चैतन्य के रूप में विराजमान हो इसीलिए वे भी तुमको सम्पूर्ण रूप से जानने में असमर्थ हैं। तो फिर तीनों गुणों के अलावा अन्य सभी इन्द्रियाँ तुम्हें कैसे जानेंगी। तुम्हीं आत्माराम के रूप में अर्थात् कूटस्थ चैतन्य के रूप में सभी देहों में विराजमान हो।

इसीलिए योगिराज ने कहा है—"**निजरूप विन्दि सभों से हय।**" अर्थात् निजरूप विन्दु सबके भीतर ही वर्तमान है। इसी कूटस्थ की ओर लक्ष्य करते हुए संत कबीर कहते हैं—

मरते मरते जग मरा, मरना ना जाने कोय।
ऐसा मरना कोइ ना मरा, जे फिर ना मरना होय॥
मरना है दुइ भांति का, जो मरना जाने कोय।
रामदुआरे जो मरे, फिर ना मरना होय॥

संसार के लोग तो मरते ही जा रहे हैं किन्तु वास्तव में किस प्रकार मरना चाहिए, कोई नहीं जानता। ऐसी किसी की मृत्यु नहीं हुई जिसे फिर न मरना पड़ा हो। वस्तुतः मृत्यु दो प्रकार की है यदि कोई मरना जानता है तो—एक साधारण मृत्यु है और दूसरी असाधारण मृत्यु है। रामदुआरे जिसकी-जिसकी मृत्यु होती है उसे फिर नहीं मरना पड़ता; क्योंकि जन्म होने पर ही मृत्यु अनिवार्य है।

यह 'रामदुआरे' क्या है। क्या किसी मन्दिर के द्वार पर स्थापित राम की मूर्ति के समक्ष मरने की बात कही जा रही है? यदि कोई ऐसे मन्दिर के द्वार पर मरता है तो फिर क्या उसका पुनर्जन्म नहीं होगा? ऐसी बात सन्त महात्मा कबीर नहीं कहते हैं। कूटस्थ के मध्य में स्थित विन्दु को गगनगुहा कहा गया है। जो साधनामार्ग में अग्रसर हो चुके हैं वे उसे देख सकते हैं, वहीं आत्माराम या 'रामदुआर' है वे ही आत्मनारायण हैं, वे ही सभी दुखों का नाश करते हैं। उस विन्दु रूपी 'रामदुआर' का दर्शन करते हुए जो देहत्याग करता है ऐसे महात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसीलिए महात्मा कबीर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि जगत में ऐसे कितने लोग हैं जो 'रामदुआर' रूपी कूटस्थ का दर्शन करते-करते देह त्याग करते हैं। जो इस प्रकार मृत्यु को वरण करता है वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है। योगिराज ने कहा है—

जाना जाना सब कोइ कहते
जाना को नहि जाना हय;
जाना उहिं का जहाँ से
फिर लौट नहि आना हय।
जिसकी लागि लगन इससे
वोहि वाकिफ हय उस घर से ॥"

इसी की ओर लक्ष्य करते हुए श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन च व
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपति दिव्यम् ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनं प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

गीता : ८।१०,१२,१३

अर्थात् प्रयाण-काल में स्थिरचित्त होकर भक्तिपूर्वक जो योगबल द्वारा दोनों भौंहों के बीच प्राण को धारण करते हुए ईश-स्मरण करता है वह दिव्य परमात्मस्वरूप पुरुष को प्राप्त करता है। समस्त इन्द्रियों पर नियंत्रण करके अर्थात् इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों को ग्रहण न करते हुए मन को निरालम्ब भाव से स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच प्राण को सम्पूर्णतः स्थापित करके एकाक्षर ब्रह्म नाम रूप ओंकार का जप करते-करते मुझे (कूटस्थ को) स्मरण करते हुए जो देह त्याग करते हैं उन्हें परम गति की प्राप्ति होती है।

"मरणे वोक्त जो जैसा भावे सोई वैसा होय। आप
सत्त चित्तानन्द हय आप रुप हय।"
देह-त्याग के समय जो जैसी चिन्ता करता है,
परवर्ती या अगले जीवन में वह वही होता है।
वस्तुतः तुम सत् चित्तानन्द एवं निज रूप हो।

ऋग्वेद में कहा गया है—**"ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारं**—(ऋ० : ८।५८।३) अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म के तीन चक्र हैं। प्रारम्भ में ज्योतिचक्र उसके अन्त में कृष्ण-चक्र और मध्य में नक्षत्र चक्र है। इस त्रिचक्र में स्थित होने पर भली भाँति ब्रह्म में स्थिति प्राप्त होती है। इस त्रिचक्र रूप रथ पर आरोहण करने से ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त होती हैं। अनेक बार सूर्य-दर्शन के पश्चात् कोटि या करोड़ों सूर्य का उदय होता है तब सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। **"गुहा यदी कवीनां विशां नक्षत्रशवसाम्।"—ऋ-१०।२२।१०**

कूटस्थ के भीतर जो नक्षत्र स्वरूप गुहा है उसमें स्थिति प्राप्त होन पर योगी को अलौकिक बातें कहने-बतलाने की शक्ति प्राप्त होती है और हमेशा उस ब्रह्म ज्योति को नक्षत्र के रूप में देखता है। वही तारकनाथ है। **"अक्षरं विन्दु ज्योति मन्वे हविस्महे। पर सूर्येति शा सह परम गुह्य।"** **ऋग्**—अर्थात् वह कूटस्थ अक्षर जिसके भीतर नक्षत्र स्वरूप विन्दु-ज्योति है वही सार-ब्रह्म है उसका ही सर्वदा हवन-आवाहन करना चाहिए। उसके बाद जो वृहत् सूर्य है, उसके भीतर पुरुषोत्तम नारायण की स्थिति है जो सर्वपति, सर्वकर्त्ता है उसमें लीन होना परम गुह्य है। योगिराज ने कहा है—"क्रिया के द्वारा चक्षु का उन्मीलन होता है। इसलिए कहा गया है—**'चक्षु उन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।"**

सभी जीवों के शरीर में एक 'चिदाणु' (चित्-अणु) अर्थात् एक सूक्ष्मतम चेतनायुक्त अणु होता है। उस चेतन अणु से जो ज्योतिर्मण्डल उद्भासित होता है, वही कूटस्थ है। योगिराज ने अपनी प्रत्येक दिन की उपलब्धि या चर्या के विषय में जो कुछ डायरी में लिख रक्खा है, वहाँ कूटस्थ के सम्बन्ध में लिखा है— **"भूलो ना, भूलो ना तारे, से घन सृष्टि संहारे; सर्वदा आछे सम्मुखे देखोना-देखोना तारे। सदा स्मरण कर ओंकारेर तारे।"** अर्थात् "कूटस्थ वही है जो सृष्टि से लय या संहार तक सभी अवस्थाओं में ही घन कृष्णवर्ण के रूप में वर्तमान है, उसे कभी भी मत भुलाओ। वह हमेशा सबके सामने है उसे भर आँख देखो और ओंकार जप-क्रिया के माध्यम से नित्य स्मरण करो।"

इसीलिये योगिराज कहा करते थे कि यदि गीता के रहस्य को जानना चाहते हो तो पहले अपने देहरूपी मन्दिर के भीतर प्रवेश करो। देह के बाहर गीता को नहीं समझा जा सकता। देखो, गीता के प्रथम श्लोक में ही भगवान ने कहा है :—**धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे,—**" यहाँ भगवान ने दो क्षेत्रों की चर्चा की है। एक है धर्मक्षेत्र और दूसरा है कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र। सभी प्रकार के धर्म और कर्म इस देहरूपी क्षेत्र द्वारा ही सम्पादित होते हैं। देह से अलग धर्म-कर्म का सम्पादन सम्भव नहीं। इसलिए यह देह ही एक साथ धर्मक्षेत्र एवं कुरुक्षेत्र दोनों है। फिर यह देह ही क्षेत्र है गीता में भगवान ने ही इसके सम्बन्ध में कहा है—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।"—गीता : १३।१

इसीलिए गीता को सम्पूर्ण रूप से जानने के लिए देह रूपी मन्दिर के भीतर प्रवेश करना होगा। तभी गीता के मर्म का उद्घाटन हो सकेगा। गीता भारत का प्राण-प्रतीक है। गीता समग्रतः योग-विज्ञान एवं अध्यात्म-विज्ञान का ग्रन्थ है। इस प्रकार गीता के रहस्य को समझ लेने पर मनुष्य-जीवन की सार्थकता का परम बोध होता है। तोते की

तरह रटने से क्या लाभ होगा ? गीता को जानने या समझने के लिए प्राण-कर्म रूप साधना अपेक्षित है। कुरु पक्ष अर्थात् प्रवृत्ति पक्ष जो बन्धन रूप कर्म का प्रेरक है और पाण्डव पक्ष निवृत्ति पक्ष है। इन दोनों पक्षों का युद्ध जीवों के हृदय में अनन्त काल से चल रहा है। इसीलिये गीता का युद्ध भी अनन्त काल से प्रारम्भ है। महात्मा रामप्रसाद ने भी यही कहा है :—

प्रवृत्ति निवृत्ति जाया
निवृत्तिरे संगे निबि
विवेक नामे तारइ व्याटा
तत्त्व कथा तारे शुनाबि।

अर्थात् प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दो पत्नियाँ हैं। इनमें निवृत्ति को साथ रक्खोगे। विवेक उसी का बेटा है। तत्त्व कथा उसीको सुनाना।"

• • •

स्कन्द-पुराण के काशी खण्ड में काशी के माहात्म्य की चर्चा करते हुये कहा गया है कि परमतीर्थ शिव क्षेत्र काशी धाम में जिसकी मृत्यु होती है उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इसी विश्वास के आधार पर एक भक्त वृद्धावस्था में काशी आकर रहने लगे। वे उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति थे और जीवन में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न भी थे। वे अकेले एक किराये के घर में रह रहे थे। वे प्रायः योगिराज के पास आते और गीता की व्याख्या सुनते। वे योगिराज से उम्र में अधिक बड़े थे। एक दिन पाठ समाप्त होने पर उठकर गये और योगिराज को प्रणाम किया। योगिराज ने कहा—"आप उम्र में मुझ से बड़े हैं मुझे प्रणाम नहीं करेंगे।

वृद्ध ने कहा—"आज तक गीता की अनेक प्रकार की व्याख्याओं को सुना और पढ़ा है। किन्तु ऐसी व्याख्या कभी सुनी नहीं। मेरी आँख खुल गई। आज से मैं आपका भक्त हूँ।"

एक दिन योगिराज अनेक भक्तों से घिरे बैठे हैं और एक विख्यात पंडित काशीखण्ड की व्याख्या कर रहे हैं। —'काशी में मरने पर पुनर्जन्म नहीं होता।' इसकी व्याख्या करते हुये पंडित ने कुछ सन्देह जनक बातों की चर्चा की। इतना सुनते ही उस वृद्ध ने हाथ जोड़कर पंडित से कहा—"ऐसी बात नहीं कहेंगे। इस शिव धाम में

आकर मृत्यु की प्रतीक्षा में दिन गिन रहा हूँ। आपके इस प्रकार के कथन से मेरा विश्वास टूट जायेगा।" बुढ़ापे के कारण वह भक्त काफी अस्वस्थ हो गये। पहले की तरह अब चलना-फिरना मुश्किल हो गया। मकान की मालकिन एक वृद्धा ने एक दिन योगिराज के पास आकर कहा—"वे सज्जन यदि बिस्तर पर टट्टी-पेशाब करके पड़े रहें तो फिर उनकी निगरानी कौन करेगा?" उनकी वजह से वृद्धा काफी मुश्किल में पड़ गई है।

योगिराज ने कहा— "मैं क्या करूँ? वे तो मेरे पास रहते नहीं।"

वृद्धा ने कहा—" वे आपके पास नित्य गीता पाठ सुनने आते, इसलिये आप ही व्यवस्था कर दें।"

योगिराज ने विरक्त स्वर में कहा—'आपको उनकी देखभाल नहीं करनी पड़ेगी—यह जिसका कर्त्तव्य है वहीं देख-भाल करेगा।

समाचार मिला कि भक्त मरणासन्न हैं। देह-त्याग के पहले एक बार योगिराज के दर्शन की इच्छा व्यक्त की। और योगिराज उन्हें देखने गये। उनके वहाँ पहुँचते ही वृद्ध ने कहा—"कृपा करके अपने दोनों चरणों का स्पर्श मेरे मस्तक पर कर दें।"

योगिराज ने मुस्कराते हुये कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं? मृत्यु के पूर्व तो आप ही मुझे आशीर्वाद दें।"

दोनों हाथ ऊपर उठाकर वृद्ध ने उन्हें आशीर्वाद दिया। उसके बाद धीरे-धीरे चेतन अवस्था में ही ब्रह्मलीन हो गये।

योगिराज इस प्रकार ब्रह्मज्ञ होने के बावजूद अपने से उम्र में बड़ों का सम्मान करते और गृहस्थ की हैसियत से समस्त सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते।

योगिराज कहा करते थे कि सभी को अपना मन स्थिर करना उचित और आवश्यक है। मन के स्थिर नहीं होने पर साधना सम्भव नहीं और गार्हस्थ्य जीवन के कार्य भी सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं होते। मनुष्य में अ-मानवीय तत्त्व उभर आते हैं। प्राण चंचल होने के कारण ही मन चंचल है। श्वास-प्रश्वास की गति वहिर्मुखी होने के कारण ही मन बाहर की ओर भागता है। योग-साधना के द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति अन्तर्मुखी होने पर मन भी अन्तर्मुखी होता है, स्थिर होता है। और स्थिर मन अथवा चित्त के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ईश-सत्ता का निरूपण होता है। इसीलिये वे गीतोक्त राजयोग के अन्तर्गत 'सहजकर्म' करने के लिये सब को उपदेश दिया करते। विशेष रूप से उनकी इच्छा थी कि यदि सभी युवक इस कार्य का पालन करें तो

Scanned by CamScanner

उनका जीवन स्वस्थ और सुन्दर होगा। वे क्रिया-योग के प्रति विशेष रूप से युवकों का ध्यान आकर्षित करते। और कहा करते कि कम उम्र में इस योग-क्रिया की प्राप्ति होने पर साधना करने के लिये एक लम्बी अवधि मिलती है और इस जीवन में ही आध्यात्मिक मार्ग पर सिद्धि और सफलता प्राप्त होती है। वे कहा करते थे कि ईश्वर-साधना, करो या मत करो; लेकिन स्वयं मन के वश में न रहकर उसे अपने वश में करना आवश्यक है। मन के कारण ही सब कुछ है। सारी विसंगतियों के मूल में मन ही है। योग-कर्म के बिना मन को अपने वश में रखना सम्भव नहीं। ईश्वर-साधना के प्रति यदि झुकाव या आकर्षण न भी हो तो भी यह कर्म सभी के लिये आवश्यक है। इससे मन अपने वश में रहता है। प्राचीन काल में ऋषि-मुनि भी योग-कर्म करते थे। योगिराज ने पुनः, ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग को ही गृहस्थ लोगों के लिये स्थापित किया।

यह 'सहज कर्म' किसे कहते हैं। इसके सम्बन्ध में गीता में भगवान ने कहा है—"**सहजं कर्म कौन्तेय—सदोषमपि न त्यजेत्।**" गीताः १८।४८। सहज का अर्थ easy आसान या सरल नहीं बल्कि सहज का अर्थ है जो जन्म से प्राप्त है या जुड़ा है। जिसे प्राप्त करने के लिये किसी प्रकार का कष्ट या चेष्टा नहीं करनी पड़ती। जीव के जन्म ग्रहण करने के साथ-साथ इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियों से श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं तभी तक प्राणी जीवित रहता है। यही समस्त जीवन का साथी है। इसी की ओर संकेत करते हुए मीरा बाई ने कहा है—मेरे जनम-मरन के साथी तुँह न विसरूँ दिन राती।' अर्थात् जन्म से मृत्यु तक का जो साथी यह श्वास-प्रश्वास है उसे कभी न भुलाऊँ। यह श्वास-प्रश्वास का सहज कर्म अर्थात् प्राण-कर्म, आत्मकर्म अथवा प्राणायाम हमेशा करना चाहिए, इसका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। यह सहज कर्म प्रारम्भ में अभ्यास न होने के कारण दोष-युक्त भी होता है तब भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये। अभ्यास करते-करते ठीक हो जायेगा। भगवान श्री कृष्ण ने यही कहा है।

योगिराज किसी को भी घर-संसार छोड़कर चले जाने का उपदेश नहीं देते थे बल्कि उसे सांसारिक जीवन में रहकर ही योग-साधना की प्रेरणा देते थे। उनका कहना था कि संसार में रहकर ही योग-साधना के माध्यम से भगवान को हृदय में स्थापित करके गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिये। शास्त्र एवं विज्ञानसम्मत इस योग-साधना के द्वारा चित्त को एकाग्र किया जाता है और एकाग्रता की ही स्थिति में धीरे-धीरे चित्त शुद्ध होगा। और फिर शुद्ध चित्त में, प्रेम-

Scanned by CamScanner

प्यार, शान्ति एवं ईश्वर-भक्ति का उदय होगा। तभी विश्व-चेतना के साथ तादात्म्य या एकात्मता स्थापित करके हिंसा-द्वेष रहित मनुष्य ही श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में रूपान्तरित होगा। प्राण ही तो श्रेष्ठ है; सर्वस्व है उस श्रेष्ठ के साथ मिलकर ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। योगिराज ने गार्हस्थ्य जीवन का निर्वाह करते हुए निरन्तर दीर्घकालीन योग-साधना के बाद योग-क्रिया के अनुशीलन की अनिवार्यता का बोध प्राप्त किया था एवं जनसाधारण के बीच योग-क्रिया के सम्पादन की प्रेरणा देते हुए योग-साधना का बीज बोया था।

एक बार योगिराज के साले राजचन्द्र सान्याल के उच्च शिक्षा प्राप्त युवा पुत्र तारकनाथ, पेट के किसी असाध्य रोग से आक्रान्त थे। लम्बी चिकित्सा के बावजूद किसी प्रकार का लाभ न होते देखकर वे वायु-परिवर्तन के लिये कानपुर जाकर अपने पिता के एक घनिष्ठ मित्र के यहाँ रहने लगे। इस दरम्यान वहाँ के एक व्यक्ति ने उनसे कहा—औषधि के द्वारा तुम्हारा यह रोग दूर नहीं होगा। यदि तुम्हें किसी महात्मा का आशीर्वाद प्राप्त हो जाए तो यह शीघ्र ही दूर हो जायेगा।" और यह भी बताया कि "गोरखपुर में एक ऐसे महात्मा हैं। वहाँ जाकर जल्द ही उनकी कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करो।" तारकनाथ गोरखपुर जाने की तैयारी करने लगे; उसी समय उनके पिता के मित्र ने सारी बातें सुनकर कहा—"तुम्हारे घर में ही महात्मा हैं और तुम महात्मा की खोज में कहीं और जा रहे हो ?" तारकनाथ ने विस्मयपूर्वक पूछा मेरे यहाँ महात्मा कहाँ से आ गए ? मैंने तो कभी किसी महात्मा की चर्चा सुनी नहीं।" उनके पिता के मित्र ने कहा—"क्या तुम अपने फूफा श्यामाचरण लाहिड़ी को जानते नहीं ? वे ही महात्मा हैं। उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की चेष्टा करो, तभी कल्याण होगा।"

तारकनाथ को आश्चर्य हुआ। उनके फूफा एक महात्मा हैं, ऐसी बात इसके पहले उन्होंने कभी सुनी नहीं। कितनी बार उनके घर जा चुके हैं, उनसे कितनी बातें की हैं; किन्तु उनमें महात्मा जैसा कुछ दिखा नहीं।

तारकनाथ काशी लौट आए और अपने पिता को साथ लेकर अपने फूफा से भेंट की।

फूफा ने सारी बातें सुनकर तारकनाथ को एक टोटके वाली दवा दी। तारकनाथ उसका इस्तेमाल करके नीरोग हो गए। उसके पश्चात् तारकनाथ उनसे योग की दीक्षा लेकर साधना में तल्लीन हो गए। किसी प्रकार के उपार्जन की चेष्टा न करते हुए देखकर योगिराज ने उन्हें कम साधना करने का आदेश दिया और कहा—"साधना भी करनी होगी

और व्यवसाय के द्वारा जीविका का निर्वाह भी करना होगा। दूसरे के सहारे रहकर जीवन व्यतीत करना उचित नहीं। अपनी गृहस्थी स्वयं ही चलाना उचित है।"

यही तारकनाथ उसके पश्चात् अँगरेजी के प्रधान अध्यापक होने के बावजूद साधना के उन्नतम शिखर पर पहुँचने में समर्थ हुए थे।

इससे साबित होता है कि योगिराज स्वयं को कितना गोपन रखते थे।

काशी नरेश ईश्वरी नारायण वृद्ध हो गए और बुढ़ापे के कारण अस्वस्थ होने पर परलोक-यात्रा की तैयारी पर थे। गंगा के उस पार रामनगर का राजप्रासाद है। लोकश्रुति के अनुसार उस पार को व्यास-काशी कहते हैं। वहां जिसकी मृत्यु होती हैं; वह दूसरे जन्म में गधे की योनि में जन्म लेता है। इस आशंका को ध्यान में रखकर ही राजवंश द्वारा मूल काशी में एक प्रासाद बनाया गया है। जब भी राज-वंश में किसी की मृत्यु आसन्न होती है उसे मृत्यु के पूर्व ही इस काशी के राजप्रासाद में लाया जाता है। ईश्वरी प्रसाद भी काशी के इस प्रासाद में आकर मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। एक दिन उन्होंने अपने गुरु के पास यह समाचार भेजा कि वे मृत्यु के पूर्व एक बार उनका दर्शन करना चाहते हैं। कृपा करके वे दर्शन दें।

योगिराज ने यह समाचार सुनकर कहा—"मैं तो कहीं भी जाता नहीं; अच्छा ! देखेंगे।"

राजा का स्वर्गवास हो गया। योगिराज के साले के पुत्र तारकनाथ सान्याल ने कई दिनों पश्चात् उनसे पूछा—राजा की बड़ी इच्छा थी कि आपका दर्शन करते; किन्तु आप गए नहीं ?

योगिराज ने मुसकराते हुए कहा—"स्थूल शरीर से तो कहीं भी नहीं जा सकता; किन्तु चिन्ता की बात नहीं; राजा को दर्शन मिल गया है।

इस उत्तर से सभी उपस्थित लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

योगिराज के एक भक्त डा० गोवर्धन दत्त जहाज में डाक्टरी की सर्विस करते थे। अनेक देशों की यात्रा करनी पड़ती थी। जहाज जब कलकत्ता बन्दरगाह में वापस आता तभी वे काशी जाकर गुरुदेव का दर्शन करते। इसी प्रकार एक बार वे काशी आए और योगिराज को प्रणाम करके बग़ल में बैठ गए।

योगिराज ने स्नेह पूर्वक कहा—'इतने दूर से इतना कष्ट सहकर क्यों आते हो ? इससे तो कष्ट ही होता है। अर्थ-व्यय भी होता है।"

गोवर्धन बाबू ने विनीत स्वर में कहा—"जहाज में नौकरी करता हूँ. पानी ही पानी में घूमना पड़ता है। जब जहाज कलकत्ता आता है तब आपका दर्शन करने के लिए भाग आता हूँ। जहाज में रहने पर शुद्धता का भी निर्वाह नहीं हो पाता और नियमित रूप से साधना भी नहीं हो पाती। मुझ अभागे पर आप ऐसी कृपा करें कि स्मरण मात्र से ही आपका दर्शन प्राप्त हो जाए।"

योगिराज सर हिलाकर मुसकराते रहे।

परवर्तीकाल में गोवर्धन बाबू द्वारा ही यह ज्ञात हुआ कि जहाज़ रवाना होने के समय वे जब अपने गुरुदेव का स्मरण करते तब उन्हें उनका दर्शन प्राप्त होता। जीवन के अन्तिम दिनों में गोवर्धन बाबू काशी में बस गये थे और साधना के उच्च स्तर पर पहुँचने में सफलता प्राप्त की।

योगिराज के निवास स्थान से थोड़ी ही दूर पर भैरव नाई का घर था। वह प्रतिदिन योगिराज की दाढ़ी बना जाता और घर के अन्य कार्य भी कर जाता। भैरव की किंचित् विक्षिप्त मनःस्थिति एवं दिमागी गड़बड़ी के कारण लोगों ने भयवश उससे दाढ़ी और केश कटवाना छोड़ दिया था; किन्तु योगिराज ने उसे कभी नहीं छोड़ा।

एक दिन योगिराज दोपहर के भोजन के लिये नीचे बैठकखाने से होकर सीढ़ी द्वारा ऊपर जा रहे थे उसी समय भैरव भी एक घड़े में पानी लिये उनके आगे-आगे ऊपर उठ रहा था; वह योगिराज को ऊपर आते हुए देखकर एक ओर बगल में खड़ा हो गया और जैसे ही योगिराज उसके निकट आये। उसने 'हर' 'हर' महादेव कहकर घड़े का सारा पानी उनके ऊपर उड़ेल दिया। योगिराज ने कुछ नहीं कहा; थोड़ा मुस्कराये और ऊपर चले गए और भीगे कपड़े उतारकर दूसरे कपड़े पहने।

अमरानन्द ब्रह्मचारी नाम के एक भक्त योगिराज के निवास-स्थान पर ही रहा करते थे। यह काण्ड देखकर उन्हें काफी गुस्सा आया किन्तु कुछ कहा नहीं। प्रतिदिन की तरह उस दिन भी योगिराज गंगा के किनारे सैर करने के लिये चले गये। उसी समय अमरानन्द, भैरव को एक खम्भे में बाँध कर मारने लगे। भैरव जोर-जोर से चिल्लाकर रोने लगा। उसके रोने की आवाज़ सुनकर काशीमणि देवी भागती हुई आई और ब्रह्मचारी को डाँटते हुए कहा—"जिसके माथे पर उसने जल ढाला उन्होंने तो कुछ नहीं कहा, आप क्यों उसे बाँधकर मार रहे हैं। उसका दिमाग़ ठीक नहीं है; उसने जान-बूझकर कुछ तो किया नहीं।"

एक बार राममोहन दे ने कानून की परीक्षा देते समय मनौती की थी कि परीक्षा में सफलता प्राप्त करने पर गरुड़ेश्वर महादेव एवं

योगिराज को दूध से नहलायेंगे। परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद उन्होंने विधि-पूर्वक गरुड़ेश्वर महादेव को दूध से नहलाया और योगिराज के निवास-स्थान पर आकर उन्होंने कहा—"आज आपके स्नान के समय मैं आपको दूध से नहलाऊँगा। योगिराज ने जब इसका कारण पूछा तो राममोहन ने अपनी मनौती की चर्चा की।

योगिराज ने कहा—"गरुड़ेश्वर महादेव को नहलाया, उतना ही काफी है, मुझे नहलाने की कोई जरूरत नहीं।" राममोहन ने पुनः विनीत भाव से कातर स्वर में अपना आग्रह प्रकट किया—"मेरी मनौती है यह, आप मेरी इच्छा पूरी करें। उसके बाद मैं आपको स्वच्छ जल से नहला दूँगा।"

अन्त में योगिराज ने उनकी प्रार्थना एवं आग्रह को स्वीकार लिया।

योगिराज प्रायः रात भर, क्रिया-साधना करते और प्रातःकाल राणामहल घाट पर स्नान करने चले जाते। उनके परम प्रिय भक्त कृष्णाराम उनके साथ जाते। योगिराज जब स्नान करने जाते तब क्रिया के नशे में डूबे किसी मतवाले की तरह लड़खड़ाते हुए रास्ते में चलते। रास्ते के किनारे एक पान की दूकान थी। योगिराज के इस मतवालेपन को देखकर दूकानदार मज़ाक़ करते हुए प्रायः कहा करता—"आज चढ़ल बा। देखो, बाँगाली बाबू का काम, सबेरे-सबेरे केतना चढ़ल बा।" अर्थात् सुबह-सुबह ही बंगाली बाबू नशे में इतने धुत्त हैं। परवर्तीकाल में देखा गया कि वही पानवाला उनका परम भक्त हो गया और साधना में काफ़ी अग्रसर हुआ था।

योगिराज किसी प्रकार की स्थूल या बाह्य पूजा नहीं करते थे और न तो किसी देव या देवी के मन्दिर में जाते थे। हमेशा आत्मध्यान में तन्मय रहा करते। केवल रविवार को काशी के बटुक भैरव का दर्शन करने जाते। एक दिन एक भक्त ने पूछा—"आप तो ब्रह्मज्ञानी हैं, आप क्यों भैरव का दर्शन करने जाते हैं।"

योगिराज ने गम्भीर स्वर में कहा—"अगर मैं न जाऊँ तो तुम लोग क्यों जाओगे।"

एक बार योगिराज भक्तों से घिरे बैठे हैं। उपदेश दे रहे हैं। एक भक्त ने पूछा—"शास्त्र किसे कहते हैं?"

योगिराज ने कहा—"सुनो, शास्त्र अनन्त हैं। फिर भी साधारणतः वेद को ही शास्त्र समझा जाता है और वेद सम्बन्धी स्मृति-पुराण आदि को भी शास्त्र कहते हैं। जो वस्तु या तत्त्व अज्ञात है शास्त्र

उसी के ज्ञान को उजागर करता है। जो है या जिसका अस्तित्व है; किन्तु हमें उसकी जानकारी नहीं है उसका परिचय शास्त्र द्वारा ही होता है। अज्ञात वस्तु को जानने के लिये कितनी विशेष विधियाँ और साधनाएँ हैं। वेद में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही हैं। कर्मकाण्ड की विधि के अनुसार लोग कर्म्म करते हुए स्वर्ग आदि उच्चलोक प्राप्त करते हैं; किन्तु ज्ञानकाण्ड का दूसरा रूप है जिसके द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करता है। मगर कर्मकाण्ड के बिना ज्ञानकाण्ड में प्रवेश नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसीलिये वेद सर्वविद्या या सभी मार्गों का प्रदर्शक है। वेदज्ञान अर्थात् ध्रुव या सत्य-ज्ञान के बिना जीव की मुक्ति हो ही नहीं सकती। जो शुभ कार्य नहीं करते अथवा करते हुए भी शास्त्र-विधि का उल्लंघन करते हैं वे सुख, सिद्धि, सफलता या मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते; किन्तु शास्त्र अनन्त हैं और उनकी विधियों का भी अन्त नहीं है। इसीलिए सभी लोग सभी शास्त्रों की विधियों का पालन करते हुए जीवन-निर्वाह कर सकेंगे; उसकी सार्थकता या असन्दिग्धता कहाँ है? शास्त्र में विधि-निषेध इतना अधकि है एवं उनमें इतना पारस्परिक विरोध है कि सबके लिए उसके अनुकूल चलना सम्भव नहीं। इसके अलावा सारे विधि-विधान भी सबके लिये नहीं हैं। किसके पक्ष में कौन-सी विधि उपयुक्त होगी उसको बतलाने के लिये भी शास्त्र के गहरे ज्ञान की आवश्यकता है। और, फिर केवल शास्त्र-ज्ञान होने से भी काम नहीं चलेगा। जिज्ञासु के पक्ष में कौन-सी विधि कार्यकारी एवं उपयुक्त होगी, उसे समझने के लिये स्मृति-शक्ति या धारणा-शक्ति की आवश्यकता है; किन्तु वह सब में होती नहीं। वह बोध-शक्ति या स्मृति-शक्ति-ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा सभी शास्त्रों के सार तत्त्व ब्रह्म को जाना जा सके। यह साधक की कठोर साधना द्वारा प्राप्त होता है। उसे आत्मनिष्ठ होना होगा। इसीलिए बाह्य दृष्टि से केवल शास्त्रानुशीलन द्वारा किसी प्रकार का परिणाम नहीं प्राप्त होता है। इसलिए अनेक शास्त्रों की आलोचना का निषेध किया गया है। जो शास्त्र के ज्ञाता हैं किन्तु आत्म-चिन्तन या ध्यान-धारणा आदि नहीं करते वे आत्मदर्शी नहीं हैं, उनका शास्त्र-पाठ व्यर्थ है; किन्तु जो शास्त्रों से अनभिज्ञ हैं या जिन्हें शास्त्र-ज्ञान नहीं हैं, लेकिन आत्मनिष्ठ हैं उनका जीवन या श्रम सार्थक है।

शास्त्र अनेक हैं और ज्ञान प्राप्त करने के लिए विषयों का भी अन्त नहीं है और आयु कम है इसलिए सभी शास्त्रों का जो सारांश है उसे ही ग्रहण करना होगा।

शास्त्र का अर्थ वेद और वेद का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान नित्य सिद्ध है। स्वतः प्रकाशित सूर्य का जिस प्रकार सामयिक आवरण मेघ है उसी प्रकार ज्ञान का सामयिक आवरण अज्ञान है। मेघ के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार अज्ञान के दूर हो जाने से ज्ञान का प्रकाश होता है। इसलिए जो सत्य है उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं। इसी तरह हमारे न जानने पर भी सत्य स्वरूप आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। वह हमेशा एक रूप है, अर्थात् एक रूपता ही आत्मा का सत्य एवं विकारहीन रूप है। किन्तु इस एक या अद्वय स्वरूप आत्मा का दर्शन क्यों नहीं होता? बिना आवरण के हटे जिस प्रकार सूर्य और ज्ञान प्रकाशित नहीं होते उसी प्रकार अज्ञान दूर हुए बिना सत्य ज्ञान स्वरूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता। वस्तुतः हमारे जानने के पूर्व भी सूर्य की तरह उसका स्वतः प्रकाश था। चेष्टाओं के परिणाम स्वरूप आवरण हट जाता है और वह प्रकाशित हो उठता है। उसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शास्त्रों का अनुशीलन आवश्यक है। वह शास्त्र किसे कहते हैं? अर्थात् जो शासन करे एवं आदेश दे उसे शास्त्र कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस शरीर पर किसका शासन चल रहा है? "**वायुर्धाता शरीरीणाम्**'—वायु ही इस शरीर का शासक है। वायु की शक्ति द्वारा ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सभी संचालित हैं। उसमें प्राणवायु ही प्रधान है। इसलिए वायु ही शरीर का शासनकर्त्ता या शास्त्र है। अर्थात् शास्=श्वास, स्त्र=अस्त्र। श्वास-प्रश्वास रूपी अस्त्र ही शास्त्र है। यह श्वास रूपी अस्त्र चलाकर जिन्होंने दक्षता या पटुता प्राप्त की है अर्थात् जो प्राणायामपरायण है वही शास्त्रज्ञ है। इसके अतिरिक्त वेद पुराण, उपनिषद इन सब को भी शास्त्र कहा जाता है। क्योंकि इसी रूप में श्वास रूपी अस्त्र चलाकर जो शास्त्रज्ञ हो चुके हैं उन समस्त ऋषियों ने अपनी अनुभूति के माध्यम जो कुछ लिपिवद्ध किया है, उस वेद, पुराण उपनिषद इत्यादि को भी शास्त्र की संज्ञा दी गई है। ये सभी प्रामाणिक हैं। इस श्वास रूपी शास्त्र का आश्रय लेने पर समग्र प्रकृति को वश में किया जा सकता है। और तब प्रकृति-पुरुष का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अनेकत्व की भावना दूर हो जाती है और व्यक्ति जन्म-मरण से रहित हो जाता है। इस प्राण-यज्ञ स्वरूप शास्त्र का अनुशीलन करने से आत्मोन्नति होती है। इच्छित आनन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिए इसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥—गीता : ९।२

यह आत्मविद्या या गुह्यतम विद्या दूसरी सभी विद्याओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

यह विज्ञान गुह्य से भी गुह्यतम और पवित्र से भी पवित्रतम है। इससे पवित्र और कुछ नहीं। यह आत्म-विज्ञान या विद्या प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट बोधगम्य है तथा धर्मसम्मत है। यह विज्ञानसम्मत होने के कारण सुख एवं आराम के साथ प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए यह अक्षय है। इस साधना का कभी नाश नहीं होता।

प्राणवायु मन को चंचल कर देता है और उसी चंचल मन द्वारा विषयों का भोग होता है। वायु स्थिर होने पर मन प्राण के साथ मिल कर एक हो जाता है। तभी ब्रह्म दर्शन होता है। प्राणायाम द्वारा वायु के स्थिर होने पर अपरोक्षानुभूति होती है। यह वायु की साधना ही एकमात्र ज्ञातव्य है। वायु के ही प्रशासन में सब कुछ है इसलिए उसके क्रिया-सम्बन्धी नियमों या विधियों को ही शास्त्र-विधि कहते हैं। और इस वायु-क्रिया को ब्रह्म-विद्या कहते हैं। इस क्रिया द्वारा मूलाधार से सहस्रार तक विश्व-चैतन्य प्राप्त होने पर वेद-ज्ञान उपलब्ध होता है। वेदज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् वेदातीत ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् सहस्रार में स्थिति होती है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना ही क्रमशः मुख्य तीन वेद हैं। इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि—**"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"**—गीता : २।४५। वेद त्रिगुणात्मक हैं तुम गुणातीत होने की चेष्टा करो। इस वेद-विधि अर्थात् आत्म-विद्या रूपी वायु की क्रिया द्वारा ही त्रिगुणातीत अर्थात् निष्काम भाव की उपलब्धि होती है। षट-चक्र क्रिया को ही वेद-विधि कहते हैं। जिस प्रकार ज्ञान द्वारा ज्ञेय को जान लेने पर ज्ञान का और कोई प्रयोजन नहीं। उसी प्रकार षट-चक्र के माध्यम से प्राणायाम की क्रिया करने पर एक प्रकार की विशेष स्थिति प्राप्त होती है। यही त्रिगुणातीत अवस्था है अर्थात् सत्व, रज, तम अथवा इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना या ब्रह्मा, विष्णु, महेश वहाँ कोई नहीं। तब और किसी प्रकार की क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जो कार्य करेगा उसकी कोई सत्ता नहीं। इसे ही कर्मातीत अवस्था कहते हैं। कर्मातीत अवस्था में योगी को जाना ही होगा। क्रिया करना ही कर्मयोग या वेद-पाठ की संज्ञा है। यह कर्म करते-करते जब आत्म-दर्शन प्राप्त होता है तब साधक का आत्म-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण होता है वही भक्ति-योग है; एवं अन्त में जब कर्मातीत स्थिति प्राप्त होती है तब उसे ही ज्ञान-योग कहते हैं अर्थात् ज्ञान अथवा वेद का अन्त होने पर ही उसे वेदान्त कहते हैं। कर्म-योग भक्ति-योग एवं ज्ञान-योग ये सभी स्वतंत्र योग नहीं हैं। बल्कि योगी की योग-साधना के विशिष्ट क्रम हैं। सही या सद्कर्म के बिना भक्ति का

उदय नहीं होता और भक्ति के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता तथा ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए ये एक दूसरे से सम्बन्धित प्रक्रियायें हैं। इनमें कोई स्वतन्त्र योग नहीं है। साधारण व्यक्ति ही कर्म, भक्ति, ज्ञान इत्यादि को स्वतन्त्र योग समझते हैं।

मन को षटचक्र के भीतर स्थित न रखकर बाहरी वस्तुओं की ओर लगाये रखना शास्त्र-विधि का परित्याग है। इसलिए सर्व प्रथम शास्त्र-विधि परित्याग करने का निषेध किया गया है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम॥

—गीता : १६।२३

अर्थात् जो व्यक्ति शास्त्र विधि के विपरीत अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है उसे सिद्धि, शान्ति, परमगति अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसलिए शास्त्रों का सारांश कहां प्राप्त होगा ?

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारन्तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥

ज्ञानसंकलिनी तंत्र : ५१

चारों वेद एवं सभी शास्त्रों को मथ कर सारांश या नवनीत योगियों ने खा लिया है बचा हुआ सार हीन भाग लौकिक पंडित गण पान करते हैं। इसीलिए योगिराज ने कहा है—'**दूध खीर सभी खाते हैं किन्तु खुरचन या करोनी बच्चे खाते हैं अर्थात्** साधक ही खाते हैं।" सहस्रार में प्राण की स्थिति होते ही कर्म का अन्त हो जाता है। इसलिए षटचक्र की क्रिया ही वेद का कर्मकाण्ड और सहस्रार में स्थिति ही ज्ञानकाण्ड है। ज्ञान में ही परिसमाप्ति है। जब कि अन्त में ज्ञान भी नहीं, अज्ञान भी नहीं। क्योंकि ज्ञान रहने पर अज्ञान भी रहता है। दिन है तो रात है या सुख है तो दुःख भी है। कर्म की समाप्ति में और फिर कर्म नहीं रहता। तब स्वयं के न रहने पर ज्ञान-अज्ञान दोनों ही नहीं रहते। जिसे यह अनुभव होगा कि वह नहीं है तो फिर ज्ञान किसे होगा ? उस समय आनन्द भी नहीं, निरानन्द (आनन्द हीनता) भी नहीं, मोक्ष भी नहीं, बन्धन भी नहीं। ऐसी स्थिति में सदैव ब्रह्म में स्थित रहने पर मन का कोई अस्तित्व नहीं। संसार से परे मृतवत हो जाता है। कर्म की उस अतीत अवस्था में 'सर्वं ब्रह्ममय जगत' की स्थिति होती है उसे ही अद्वैत भाव कहते हैं। वर्तमान मन प्राण की चंचल अवस्था से पैदा होता है, किन्तु स्थिर प्राण में कोई तरंग नहीं। इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि—"**श्वास को इधर-उधर हिलाते-डुलाते रहने से निर्वाण होता है अर्थात् स्थिर होता है। स्थिरत्व का नाम योग है।**

जीवमात्र ही चंचल है, इसलिए स्थिरपद के बिना कोई गति नहीं। प्राणायाम में स्थिर होता है। पंखा खींचने से चलता है, मन से ही खींचा जाता है। मन नहीं चलने पर इच्छा नहीं करती। मन स्थिर होने पर अनावश्यक इच्छा नहीं होती। अनावश्यक काम न करने का नाम है इच्छा रहित। जब प्राण की चंचल अवस्था नहीं रहती अर्थात् कर्मातीत अवस्था में वर्तमान मन स्थिर प्राण में लीन हो जाता है तब सभी कुछ ब्रह्म हो जाता है। उस समय मन, बुद्धि ज्ञान कुछ भी न रहने से त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति अद्वैत परब्रह्म में लीन होकर शास्त्र-सम्मत ज्ञान एवं अनुभूति दोनों से शून्य होकर केवल ब्रह्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है। उस समय वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है। ऐसे ब्रह्मविद् अथवा ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मज्ञ नहीं कहते; क्योंकि स्वयं ब्रह्म को ब्रह्मज्ञ कहना तर्कसम्मत नहीं है।

यदि कोई कहता है कि उसे मोक्ष मिल गया है तो यह समझना होगा कि उसे मोक्ष नहीं मिला। क्योंकि उसकी भूख-प्यास के साथ देहबोध एवं ज्ञान सब कुछ वर्तमान है। किन्तु जिसने वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति कर ली है उसे भूख-प्यास के साथ देहबोध और ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। उसके ज्ञान, राग, द्वेष एवं मोह का नाश हो जाता है। उस स्थिति में वह ज्ञानी भी नहीं, अज्ञानी भी नहीं। मोक्ष की उपलब्धि हुई या नहीं, इसे जानने का ज्ञान भी उस समय नहीं रहता। तब वह शून्य में विलीन हो जाता है। वह एक विचित्र अवस्था है। उस स्थिति में समस्त सत्ता विलीन हो जाती है। किन्तु ज्ञान के माध्यम से जो यह समझ रहे हैं कि उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया। वस्तुतः उन्हें मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि जो कुछ ज्ञात है वह अज्ञात के भीतर है। **जो मुक्त हैं दूसरी बार की अगली अवस्था के परे रहकर भी मुक्त हैं। क्योंकि उनकी पुनरावृत्ति दोनों में नहीं होती। सभी में ब्रह्म का दर्शन करते हैं। और बिना प्रयास के ब्रह्म में अँटके रहते हैं ऐसा न होना पुरुषार्थ है।**

इस विशेष स्थिति की प्राप्ति होने पर प्राण और मन की चंचलता दूर हो जाती है तथा शान्त होकर आत्मा में निमग्न हो जाते हैं। प्रारम्भ में यह कार्य इड़ा और पिंगला के माध्यम से करना पड़ता है। इसके पश्चात् जब सुषुम्ना में यह कार्य होता है तब निर्मल सत्वगुण का उदय होता है। योगी प्राणायाम द्वारा वायु को नियन्त्रित करके उसे कूटस्थ में स्थिर करते हैं, ऐसा होने पर ही उन्हे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

ये त्वक्षरनिर्द्देश्यमव्यक्त पयु पासते।
सर्व्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम ॥

संनियम्येन्द्रियग्राम सर्व्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः ॥

—गीता : १२।३, ४

अर्थात् समबुद्धि या समान भाव वाले सभी व्यक्ति इन्द्रियों को सम्यक रूप से संयत करके अनिर्वचनीय रूप आदि से रहित सर्वव्यापी, अचिन्त्य, स्थिर अतएव नित्य एवं अविनाशी कूटस्थ की उपासना करते हैं अर्थात् जो आज्ञाचक्र से ऊर्ध्व आत्मा में परमात्म रूपी अविनाशी कूटस्थ की उपासना करते हैं वे सभी भूतों या पदार्थों तथा प्राणियों के हितैषी या कल्याण-कर्त्ता के रूप में मुझे ही प्राप्त करते हैं।

योगी को तीन ग्रंथियाँ अवश्य ही भेदनी होंगी—जिह्वा-ग्रंथि, हृदय-ग्रंथि एवं मूलाधार-ग्रंथि अर्थात् क्रमशः ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि तथा रुद्र-ग्रन्थि। इन तीन ग्रन्थियों को जो भेद करने में सक्षम हो पाया है, वही त्रिभंगमुरारी है। यह एक अवस्था है। योगी की इस स्थिति या अवस्था के बारे में रूपक द्वारा भगवान श्रीकृष्ण की त्रिभंगमुरारी मूर्त्ति को माध्यम बनाया गया है। भागवत एवं मुण्डकोपनिषद में जिसकी चर्चा इस प्रकार की गई है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डकोपनिषद : २।२।८
एवं श्रीमद्भागवत : १।२।२१

अर्थात् ओंकार-क्रिया के द्वारा हृदय-ग्रन्थि का भेद होने पर योगी के सभी संशयों का उच्छेदन हो जाता है और तब प्रकृत या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसके पश्चात् एकमात्र आत्म-दर्शन से तन्मयता-बोध की प्राप्ति होने पर सभी प्रकार के कर्मों का क्षय होता है अर्थात् तब कोई कर्म नहीं रहता। उसके पश्चात् योगी कर्म की अतीतावस्था या क्रिया की परावस्था की प्राप्ति के बाद एकमात्र आतमनारायण को देखते हैं। इसलिए सभी एक या समान हो जाने पर वह अज हो जाता है अर्थात तब बन्धन भी नहीं; मोक्ष भी नहीं; क्योंकि मोक्ष कहने वाला कोई नहीं है। इसी को अभय पद की संज्ञा प्रदान की गई है; क्योंकि वहाँ दो या द्वैत न होने के कारण भय नहीं है। उस पद की प्राप्ति पर पुनरावृत्ति का रोध होता है; वही उत्स या केन्द्र-स्थल है। दुर्गा पूजा में असुर वध के माध्यम से उसी हृदय-ग्रन्थि-भेद की क्रिया ही रूपक द्वारा प्रदर्शित की गई है।

योगिराज और भी कहा करते—'जब तक पशुवृत्ति पर नियंत्रण नहीं हो जाता तब तक प्राण, मन और बुद्धि के भीतर जो अलौकिक शक्ति

है उसका पता नहीं चलता। इसी अलौकिक शक्ति को विकसित करने के उपाय अनेक शास्त्रों में ऋषियों द्वारा बताए गए हैं और विभिन्न देव-देवी की मूर्ति एवं चित्र के माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया है। प्राण, मन एवं बुद्धि को दैवी धर्म के अनुकूल परिचालित करने से ही धर्म, भक्ति एव ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग, भक्ति एवं ज्ञान के अनुशीलन से मन एवं बुद्धि के स्तरों का जितना ही उत्तरोत्तर विकास होगा; वे उतने ही ईश्वराभिमुखी होंगे। प्राणशक्ति को दैवी सम्पदा के अनुकूल संचालित या क्रियान्वित नहीं करने से प्राण ही ईश्वर से युक्त होने के मार्ग में सब से अधिक बाधाएँ उपस्थित करता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
—गीता : ६।६

अर्थात् जिसने आत्म-कर्म के द्वारा अपने मन को वश में कर लिया अथवा उसे आज्ञाचक्र में स्थापित करने की शक्ति प्राप्त कर ली—आत्मा उस व्यक्ति का स्वयं बन्धु या मित्र है। इस प्रकार जो चंचल प्राण को ऊर्ध्व या आज्ञाचक्र में स्थिर कर लेता है। वस्तुतः वही ऊर्ध्वरेता है। रेत, शुक्र या वीर्य को कहते हैं—'शुक्रधातुर्भवेत प्राण' यह ज्ञानसंकलिनी तन्त्र का कथन है। अर्थात् शुक्र ही प्राण है। उस प्राण की चंचल गति को प्राणकर्म या प्राणायाम के द्वारा जो आज्ञाचक्र में स्थिर कर सकता है वही ऊर्ध्वरेता है। शरीरस्थ शुक्र या वीर्य-स्खलन होने के कारण स्त्री-संभोग का त्याग अथवा इन्द्रियों का निग्रह करने से व्यक्ति ऊर्ध्वरेता नहीं होता। क्योंकि उसका चंचल मन तो वश में हो नहीं पाता। जो प्राण को इस प्रकार ऊर्ध्व या आज्ञाचक्र में नहीं स्थिर करते। उन अ-जितेन्द्रिय व्यक्तियों का चंचल आतमा ही अर्थात् वर्तमान मन ही हर प्रकार के दुष्कर्मों के रूप में शत्रु-भाव की सृष्टि करता है। प्राण-शक्ति का कार्य है स्पन्दन—और स्पन्दन के कारण ही इन्द्रिय, मन सभी विषय-भोग की ओर भाग रहे हैं। जिस प्रकार प्राण की गति में अविरामता और निरन्तरता है उसी प्रकार इन्द्रियों की गति विषयों को ग्रहण करने में भी विरामहीन है। इसीलिए प्राण जिससे स्पन्दित या चंचल न हो पाए, योगियों को पहले उसकी ही चेष्टा करनी होगी। (स्पन्द-दर्शन तंत्रयोग शास्त्र की एक विशेष शाखा है। जिसमें स्पन्द का स्वरूप, क्रिया आदि की वैज्ञानिक और योग सम्मत व्याख्या की गई है) जिस विद्या या कौशल के द्वारा प्राण स्पन्दित न हो सके और दिव्य भावना के साथ जिसे प्राप्त किया जाय, उसे ही ऋषियों ने योग-साधना की संज्ञा दी है। "**तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसुकौशलम्**"—(गीता : २।५०)

इसलिए तुम कर्मयोग युक्त हो जाओ जो अत्यन्त सु-कौशल युक्त है; प्राण-क्रिया का कौशल ही योग है। इसलिए **'समत्वं योग-उच्यते'** (गीता : २।४८) समत्व को ही योग कहा गया है। इसका प्रधान या मुख्य अंग है प्राणायाम अथवा प्राण-कर्म या आत्म-कर्म अथवा निष्काम कर्म। उसी को ही शास्त्र कहते हैं—**'असंग शस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा'** (गीता : १५।३) एकमात्र प्राण कर्म ही सभी प्रकार के इन्द्रियसंग अथवा आसक्ति से रहित है। इसका अनुशीलन ही शास्त्रानुशीलन है। दृढ़ता पूर्वक इसका अनुशीलन करते हुए सभी प्रकार के इन्द्रियसंग या आसक्ति भाव को दूर करो, उन्हें छिन्न करो। इसलिए मनुष्य शरीर जैसा कर्म क्षेत्र पाकर कभी भी प्राण-कर्म की अवहेलना या उपेक्षा मत करो। **'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता : २।४७) इस निष्काम कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार हो या होना चाहिए कर्म-फल पर नहीं। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं :—**'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत-निश्चयः'** (गीता : २।३७) हे ! कौन्तेय युद्ध के लिए दृढ़ता या निश्चय के साथ उद्यत हो जाओ, उठो और युद्ध करो अर्थात् साधना का समर या युद्ध करो। क्योंकि—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात'** (गीता : २।४०) यह निष्काम कर्म-योग (प्राणकर्म) थोड़ा सा भी करने से महान भय से या संकट से रक्षा करता है। जीव के लिए मृत्यु-भय ही प्रधान संकट है। यह उससे उसकी रक्षा करता है। इसके सम्बन्ध में योगिराज ने अपनी दैनन्दिन दिनलिपि या डायरी में अपने हाथ से लिखा है :—**"केवल रेचक ओ पूरक आउर बढ़ाओ ए सिद्धि दे—लागे आउर समाध—रेचक पूरक बिना जयसे बन्धाकूप, प्राणवायु को बल ले आओए मन निश्चल होय जाय—आयुर बढ़ाओए—रोग न रहे पाप जलाओए निर्मल करे —ज्ञान होय तिमिर नाशे।"** (बिना किसी संशोधन के यह ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है) अर्थात् प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक यह तीन कर्म हैं। योगिराज कहते हैं कि रेचक और पूरक और भी बढ़ाओ। ऐसा होने पर ही प्राण के स्थिर होने पर समाधि लगेगी एवं सिद्धि प्राप्त होगी। स्वतंत्र कुम्भक की आवश्यकता नहीं। इस रेचक और पूरक से अलग जो प्राणायाम या साँस लेने या छोड़ने के अतिरिक्त जो प्राणायाम है वह जलहीन कुएँ की तरह निष्फल है। प्राण-वायु को बलपूर्वक खींचने और फेंकने का कर्म करने से ही मन निश्चल हो जाता है। उसे और भी बढ़ाओ। ऐसा करने पर रोग नहीं रहेगा। जन्म-जन्मान्तर के पाप-समूहों के अग्निसात् हो जाने पर मन निर्मल होगा। ज्ञान की प्राप्ति होगी और अज्ञान दूर होगा।

इस अवस्था के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है— **'स्वासा एक दम से बन्द हुआ बड़ा मजा। आबकी मजाकि बात कुछ कहीं न जाय।''** अर्थात् श्वास-प्रश्वास सब बन्द हो गए। बड़ा ही आनन्द आया। इस आनन्द के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसे बताने का कोई उपाय नहीं है; वह स्वयं बोधगम्य है।

● ● ●

योगिराज के एक भक्त सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय जो श्रीरामपुर (हुगली) बंगाल के रहने वाले थे और रावलपिण्डी में सर्विस करते थे। अवकाश में अपने घर जा रहे थे। रास्ते में वे काशी उतर गए; क्योंकि उनकी आन्तरिक इच्छा थी कि गुरुदेव का दर्शन करते चलें। लम्बी यात्रा के दौरान चेहरे पर थकान की स्पष्ट छाप थी। योगिराज के सामने आकर उन्होंने भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। योगिराज ने गम्भीर स्वर में कहा—''यहाँ क्यों आए हो ? जल्दी घर जाओ।'' गुरुदेव की यह बात सुन कर सुरेन्द्रनाथ को आन्तरिक दुःख हुआ और सोचते रहे कि मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो गुरुदेव ने ऐसा निर्दय और कठोर व्यवहार किया। उनकी आँखें छलछला आईं।

उसके बाद योगिराज ने फिर स्नेहपूर्वक कहा—''सुरेन ! जाओ नहा-धो लो और खा-पीकर जो ट्रेन पहले मिल जाए वही पकड़ लो और घर चले जाओ।''

सुरेन कुछ पूछने का साहस नहीं जुटा पाए और मंत्रमुग्ध की तरह वही किया।

मटरू को बुलाकर योगिराज ने कहा—''जाओ, सुरेन को ट्रेन पर चढ़ा दो।''

सुरेन श्रीरामपुर स्टेशन पर आकर उतरे। दो कदम जाते ही उन्होंने देखा कि उनके छोटे भाई उनकी प्रतीक्षा में खड़े हैं।

—इतनी देर से आए भैया ! दो दिन पहले टेलीग्राम किया और तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

—''क्यों क्या हुआ।'' मुझे तो कोई टेलीग्राम नहीं मिला। ''मां की हालत ठीक नहीं है।''

सुरेन जल्दी-जल्दी घर पहुँचे।

—"सुरेन तुम आ गए बेटा ! मैं तुम्हारी ही बाट देख रही हूँ। अब तो मेरे जाने का समय हो गया।" स्नेहमयी मां के दोनों हाथ सुरेन की ओर बढ़े और सुरेन ने मां का हाथ पकड़ लिया और धीरे-धीरे मां का जीवन-दीप बुझ गया।

सुरेन की आँखों से आँसू की धार फूट पड़ी। और अब समझ में आया कि गुरुदेव ने उनके साथ, ऐसा कठोर बर्ताव क्यों किया था।

बाँकुड़ा जिले के दधिमुखा गाँव के हरिपद वन्द्योपाध्याय कार्य-वश अपने गाँव से निकट के एक गाँव में जा रहे थे, जो तीन-चार मील दूर था। इसीलिए वे चक्करदार रास्ता छोड़कर सीधे जंगल के रास्ते से जा रहे थे। चारों ओर साल, सागौन और महुआ का जंगल और पतली पगडण्डी—कहीं किसी अन्य राही या आदमी का पता नहीं। तमाम किस्म के जंगली फूलों की खुशबू और पक्षियों की मीठी बोली वातावरण में तैर रही है। हरिपद ईश्वर-चिन्तन में विभोर होकर चले जा रहे हैं। भय उन्हें छू नहीं सकता। अचानक हरिपद चौंक पड़े और लगा कि सामने यमदूत आ रहा है—उन्होंने देखा कि एक नरभक्षी जानवर अपनी पूँछ हिलाते हुए धीरे-धीरे उनकी ओर ही आ रहा है जैसे शिकार तो अब उसकी पहुँच में है, जल्दबाजी की क्या जरूरत। हरिपद ने समझा मृत्यु तो अब निश्चित ही है यहाँ तो उनकी कोई रक्षा करने वाला नहीं है। एकमात्र उनके दयालु गुरु यदि उनकी रक्षा कर सकें तभी इस संकट से मुक्ति मिल सकती है और लगा कि उनके भीतर कोई कह रहा है—"गुरु रक्षा करो, गुरु रक्षा करो।"

उनका संहारकर्ता एव हरिपद अब एक दूसरे के आमने-सामने खड़े हैं तभी हरिपद ने सुना कि पीछे से जैसे कोई उसे भगा रहा हो—हट्, हट्'। इसके बाद वह नरभक्षी दुम हिलाते हुए जंगल के भीतर चला गया। हरिपद की आँखों से प्रेम के आँसू टपक पड़े।

कुछ दिनों बाद हरिपद बाबू काशीधाम आए और योगिराज क चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा—"इस यात्रा में जीवन की रक्षा कर ली। अर्थात् इस बार आपने मुझे बचा लिया।"

—"तुम अत्यधिक डर गए थे शायद"—योगिराज यह कहकर मुसकराते रहे और उपस्थित भक्तगण एक दूसरे का मुँह देखते रहे। किसी की समझ में कुछ नहीं आया। इसके बाद हरिपद बाबू के मुँह से ही उक्त घटना के बारे में सब को जानकारी प्राप्त होती है।

इस प्रकार योगिराज सभी प्राणियों के कल्याण में रत रहते तथा आर्त्त एवं अपने आश्रितों की रक्षा करते। कितने प्रकारों से वे सब का कल्याण करते थे, उसकी कोई सीमा नहीं।

अन्य दिनों की तरह ही उस दिन भी योगिराज उपदेश दे रहे हैं और अनेक भक्तगण सुन रहे हैं—"किस प्रकार तुम सब भी, सभी के कल्याण-कार्य में रत हो सकते हो? देखो, इस शरीर के भीतर ही सब कुछ है। शरीर तो पंचतत्त्वों से बना है। शरीर में जिन पंचभूतों या पाँच तत्त्वों का अस्तित्व है वे ही बाहर भी हैं। पृथ्वी (क्षिति) जल (अप) अग्नि (तेजः) वायु (मरुत) और आकाश (व्योम) ये सारे तत्त्व शरीर में भी हैं, बाहर भी हैं। शरीर में पंचभूतों की स्थिति इस प्रकार है—मूलाधार में क्षिति तत्त्व, स्वाधिष्ठान में जल तत्त्व, मणिपूर में तेज या अग्नि तत्त्व, अनाहत में वायु तत्त्व विशुद्ध चक्र में व्योम तत्त्व और उसके ऊपर तत्त्वातीत। भीतर के इन पंच भूतों या तत्त्वों का परिचय प्राप्त हो जाने पर ही बाहर के वृहत् पंचभूतों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। यदि कोई पहले बाहर के पंचतत्त्वों के बारे में परिचय प्राप्त करने की कोशिश करे तो वह उन्हें जान नहीं पाएगा और उन्हीं में खो जाएगा। अतएव देह के भीतर स्थित पंचभूतों के जान लेने पर ही भीतर-बाहर सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं। द्वैत नहीं रह जाता उस समय पंचभूतों में भी जो प्राणरूपी ईश्वर स्थित है उसकी उपलब्धि होती है। और कूटस्थ में स्थिति प्राप्त होती है। दूरबीन द्वारा जिस प्रकार दूर की वस्तु अत्यन्त निकट दिखाई देती है उसी प्रकार कूटस्थरूपी दूरबीन के माध्यम से विश्व-ब्रह्माण्ड का तमाम चित्र या दृश्य योगियों के लिए बोधगम्य हो जाता है। चेष्टा करने पर तुम्हें भी इस क्षमता का आभास मिल सकता है। प्राण, चंचल होने के कारण कूटस्थ में स्थित नहीं हो पाता। प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा षटचक्रों के मार्ग से यातायात के माध्यम से प्राण स्थिर होने पर ही कूटस्थ में स्थिति होती है तब योगियों को सब कुछ स्वच्छ एवं स्पष्ट दीखता है। कूटस्थ में जिस चक्षु के दर्शन होते हैं, उसके भीतर एक आकाश दिखाई देता है; वह दृश्यमान आकाश नहीं है बल्कि वह आकाश का आकाश अर्थात् महाकाश है। वह इतना स्वच्छ है कि वहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं वहाँ क्षुद्र से क्षुद्रतम अथवा अणु से अणुतम और वृहत से वृहत्तम सभी कुछ दिखाई देता है। जैसे एक सरसों का दाना निकट से जिस रूप में दिखाई देता है वही सैकड़ों हजारों मीलों से भी दूर उसी रूप में दिखाई देता है। जहाँ रोशनी नहीं, अँधेरा नहीं, लेकिन सब कुछ दिखाई देता है। वहाँ जो भी है स्वयं प्रकाश है। विशाल पवत के दूसरे छोर की वस्तु

के साथ सैकड़ों योजन दूर की छोटी से छोटी वस्तु भी अनायास दिखाई देती है, जिस प्रकार दूरबीन की सहायता से दूर की वस्तु निकट दिखाई देती है। उस महाकाश के दर्शन से योगी को भूत-भविष्य का ज्ञान होता है। वह स्वच्छ अविनाशी महाकाशरूपी ब्रह्म सदा स्थिर और सभी भूतों में ओत-प्रोत भाव से विराजमान है। यदि वह नहीं है तो फिर कोई नहीं है। यह चराचर विश्व उसी से उत्पन्न होता है और उसी में लय हो जाता है। इसीलिए योगिराज ने अपनी साधना लब्ध अनुभूति के बारे में ३ जून को लिखा है—"**सून्य के भितर सो सून्य हय सो अलख हय। सोइ विन्दि सोइ सूर्य। सून्य के भितर जो सून्य हय उसका आदि नहि लेकिन उह सून्य से उह सून्य का भेद हय। सबुज सून्य अनन्त वोहि ब्रह्म। सूर जउसी में लय हो जाता हय। अब बड़ा मजा भितर से उठता हय भितर जाता हय। अब अगम स्थान में गए याने स्थिर। अभि बहुत दूर गगन पंथ मे जाना हय। आँख बन्द करके बाहर का चिज मालूम होता हय**"। अर्थात् वर्तमान शून्य के भीतर जो शून्य है या जिस शून्य से वर्तमान शून्य की उत्पत्ति हुई है; वह अलख, अदृश्य शून्य है। वही विन्दु है एवं वही सूर्य या आत्म-सूर्य है। शून्य के भीतर जो शून्य है अर्थात् महाशून्य अनन्त है; किन्तु वह स्वच्छ महाशून्य वर्तमान महाशून्य (आकाश) से पृथक है; क्योंकि वर्तमान शून्य में दूर-निकट का सम्बन्ध है यह पंचभूतों का आखिरी अथवा अन्तिम भूत है किन्तु उस महाशून्य में दूर-निकट का कोई सम्बन्ध नहीं। भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं, पंचभूत और तत्वातीत है। उसी शून्य के अस्तित्व से वर्तमान शून्य का अस्तित्व है। वह स्वच्छ शून्य सबुज एवं अनन्त है, वही ब्रह्म है। आत्म-सूर्य भी उस महाशून्य में लय हो जाता है, क्योंकि जो कुछ भी अस्तित्वमय है, सभी की उत्पत्ति एवं लय का केन्द्र वह अनन्त निर्विकार, अजर-अमर महाशून्य है। अब बड़ा ही आनन्द मिल रहा है एवं वह भीतर से ही उठ रहा है और उसके भीतर ही जा रहा है। जहाँ योगियों के अतिरिक्त कोई नहीं जा सकता वह ऐसा अगम्य स्थान है, वहीं पहुँचा अर्थात् महास्थिरता के घर या बिन्दु तक पहुँच गया। अभी उस महाशून्य में और दूर तक जाना होगा अर्थात् लय को प्राप्त होना होगा। अब आँख बन्द करने पर भी बाहर का सब कुछ देख, सुन, समझ पा रहा हूँ।

उसी का ही बाह्य प्रतीक है शालग्रामशिला। जिस प्रकार प्रबल वेग से बहते हुए जल के नीचे विशाल शिला निश्चल रहती है, उसी प्रकार नश्वर नाम-रूप के नाना प्रकारों के प्रवहमान या अस्तित्वमान होने पर भी उसका आधार स्वरूप महाकाशरूपी कूटस्थ

परब्रह्म अचल रहता है। उस नश्वर नाम-रूप की जब तक उपेक्षा नहीं होती या जब तक उसे आसक्ति से मुक्ति नहीं मिलती तब तक महाकाशरूपी सच्चिदानन्द की ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार आत्मा के किसी अवयव के प्रति आशंका नहीं की जा सकती उसी प्रकार नाम-रूप भी उस स्वच्छ-निर्मल स्वरूप का अंश नहीं हो सकता। इसीलिए योगिराज कहा करते थे—कि **"इस शरीर में जो कूटस्थ विद्यमान है उसे जो गुरु के उपदेश द्वारा नहीं देखता, वह अन्धा है।"** जिस प्रकार कबूतर का पंख उड़ते-उड़ते, आहिस्ता-आहिस्ता चक्कर काटते हुए गिर पड़ता है, उसी प्रकार वायु क्रमशः रुकते-रुकते सूक्ष्म होता है और अन्त में शून्य के भीतर होकर अनेक दिनों बाद आ-जा या आवागमन कर सकता है।

शरणागत भक्तों के प्रति योगिराज की असीम कृपा थी। उनकी रक्षा के लिए वे हमेशा सजग और तत्पर रहते थे। कलकत्ता के एक विख्यात विधिवेत्ता या वकील की पत्नी अभया योगिराज की भक्त-मंडली में एक भक्ति-परायण महिला थीं। कई सन्तानें हुईं, किन्तु एक भी जिन्दा नहीं रह पाईं। इस कारण उन्हें अत्यन्त दुःख था। अभया ने एक दिन अपने गुरु योगिराज के चरणों में प्रार्थना निवेदित की कि एक सन्तान ऐसी हो जो स्वस्थ शरीर के साथ जीवित रहे।

महायोगी शान्त मुद्रा में बैठे किसी भाव-लोक में विचरण कर रहे थे। उस समय देखने से ही लगता था कि समस्त बन्धनों से मुक्त जैसे कोई विहंग या पक्षी हो। कौन आया, कौन गया, किसने क्या कहा किसी की भी उन्हें सुध-बुध न थी।

अभया ने सोचा कि गुरुदेव ने संभवतः उसकी बातों को सुना नहीं। उसने पुनः अपनी आकुल प्रार्थना निवेदित की।

धीरे-धीरे महायोगी की ध्यान-समाधि टूटी और अभया ने पुनः प्रार्थना की कि उसे एक सन्तान चाहिए जो जीवित रहे।

योगिराज ने शान्त स्वर में कहा—"सुनो, अभया। तुम एक कन्या को जन्म दोगी और वह जिन्दा रहेगी किन्तु एक निर्देश है, जिसका सावधानी पूर्वक पालन करना होगा। कोई भूल न हो।"

आशा की एक क्षीण लहर अभया के मन में तरंगित हुई। अभया सोचती है कि ब्रह्मज्ञ गुरु की यदि कृपा हो तो असम्भव भी सम्भव होता है। अभया ने गद्गद् कंठ से कहा—"आप जो आदेश देंगे, मैं वहीं करूँगी।"

भक्तवत्सल योगिराज श्यामाचरण ने कहा—"रात्रि के प्रथम प्रहर में ही कन्या का जन्म होगा। जन्म के कुछ क्षण पूर्व से सूर्योदय

तक प्रसूति-गृह में एक दीपक जलाकर रखोगी; किन्तु अत्यन्त सावधान रहना होगा कि कहीं दीपक बुझ न जाए।"

यथा समय अभया ने एक कन्या को जन्म दिया। गुरुदेव के आदेशानुसार दीपक जलाया गया था, किन्तु रात के अन्तिम प्रहर में क्लान्त प्रसूति एवं दाई दोनों कब सो गए—पता ही नहीं। इधर दीपक का तेल प्रायः समाप्त होने को है। अब बुझा, तब बुझा-ऐसी स्थिति थी।

उसी समय प्रसूति-गृह में एक अलौकिक घटना घटित हुई। अचानक जोर की आवाज़ के साथ दरवाजा खुल गया। निद्रामग्न जच्चा की नींद टूट गई; और आश्चर्य पूर्ण आँखों से देखती है कि दरवाज़े पर उसके ही दयालु, भक्त-प्राण, पतित-पावन, करुणा के घनीभूत मूर्त्त प्रतीक गुरुदेव योगिश्रेष्ठ श्यामाचरण खड़े हैं।

कृपा-दृष्टि का निक्षेप करते हुये बुझती हुई दिये की लौ या दीप-शिखा की ओर उँगली का संकेत करके कह रहे हैं—"अभया, देखो दीपक बुझ न जाए, शीघ्र ही उसमें तेल दो।"

क्लान्त अभया उठकर दीपक में तेल देती है तब तक गुरुदेव की वह करुणाघन मूर्त्ति अदृश्य हो गई। गुरु कृपा का स्मरण करते ही अभया की आँखों से प्रेम के आँसू छलक पड़े।

इस घटना के पश्चात् अभया ने गुरुदेव से इस घटना के बारे में बताया तो योगिराज ने मधुर मुस्कान के साथ कहा—"कर्त्तव्य की अवहेलना करना तुम लोगों का स्वभाव है। कर्त्तव्य के प्रति कभी उपेक्षा का भाव मत रक्खो।"

योगिराज ने इस प्रकार अनेक निःसन्तानों को संतान प्राप्ति की व्यवस्था का निर्देश दिया है, वह उनकी दिनलिपि से ही प्रमाणित होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने आठ फ़रवरी (वर्ष नहीं) लिखा है—

"श्यामलाल को पुत्र होने का उपाय बतलाया।"

एक बार की घटना है। योगिराज की मझली लड़की हरिकामिनी ससुराल से यहाँ आई है। अचानक उसे एशियाटिक कॉलरा हो गया। काशीमणि देवी ने योगिराज से अनुरोध किया कि जैसे भी हो कोई व्यवस्था करो और लड़की को बचाओ। तुम्हारे रहते हुए लड़की क्या मर जायेगी ?

योगिराज के मन में कोई उद्विग्नता नहीं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। काशीमणि देवी बार-बार अनुरोध करती हैं कि जैसे भी हो लड़की को बचाओ।

योगिराज ने बिना कुछ कहे एक अपामार्ग की जड़ और ढाई गोलमिर्च देते हुए कहा—"ये दोनों एक साथ पीसकर पिला दो।"

काशीमणि देवी ने सोचा विवाहिता लड़की है क्या पता कुछ हो जाये तो उसकी ससुराल में तरह-तरह की बातें उठेंगी, इसलिए डाक्टर की दवा ही ठीक है। वे योगिराज द्वारा दी गई दवा न देकर डाक्टर की दवा ही देने लगीं। किन्तु दूसरे दिन लड़की का स्वर्गवास हो गया।

योगिराज अन्य दिनों की तरह उस दिन भी शाम को गीता की व्याख्या कर रहे हैं और उनके सुयोग्य शिष्य पंडित पंचानन भट्टाचार्य गीता के मूल श्लोक का पाठ कर रहे हैं। अनेक भक्त उपस्थित हैं। इसी बीच ऊपर के कमरे में जोर-जोर से रोने की आवाज सुनाई पड़ी। सभी उपस्थित व्यक्ति विचलित हो गये। कारण पूछने पर योगिराज ने बताया कि—"मझली लड़की मर गई, इसीलिये सभी रो रहे हैं। लगता है श्मशान ले जाने वाले आये हैं।"

भट्टाचार्य महोदय ने गीता की पुस्तक को बन्द करते हुए कहा—"बस आज यहीं तक।"

योगिराज ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"वे लोग अपना काम करें, तुम लोग अपना काम करो।"

उपस्थित सभी भक्तों ने कहा—'इस समय गीता की व्याख्या सुनने के लिये मन में धैर्य और स्थैर्य नहीं है आज बन्द रहने दिया जाये।'

योगिराज के मन में कोई उद्वेलन नहीं—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। शान्त स्वर में उन्होंने कहा—अच्छा तो फिर बन्द रक्खो।

दूसरे दिन योगिराज के साले राजचन्द्र सान्याल ने आकर योगिराज से पूछा—"प्रियजनों की मृत्यु या वियोग में जो दुःख सामान्य व्यक्ति को होता है, वैसा क्या तुम्हें होता है?

योगिराज ने मुसकराते हुए कहा—"दुःख तो सभी को होगा; किन्तु ज्ञानी व्यक्ति के पक्ष में कुछ पार्थक्य है। जैसे पत्थर की गोली को अगर सख्त जगह पर जोर से मारो तो वह उछलती हुई दूर निकल जायेगी; किन्तु उसी को यदि नर्म मिट्टी पर जोर से मारो तो वह उसमें धँस जायेगी। इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को दुःख आघात नहीं दे सकता है। आघात उस पर भी होता है, किन्तु लौट जाता है और अज्ञानी उसी आघात से हाय-हाय करते हैं।"

जल में तैरते कमल के पत्तों की तरह सांसारिक जीवन का निर्वाह करते हुए यह महान गृहीयोगी कितनी सहजता के साथ दुःख, क्लेश-कष्ट से सदैव निर्लिप्त रहा करते थे। ठीक उसी तरह जिस प्रकार गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखंधीरं सोऽमृत्वाय कल्पते॥

—गीता : २।१५

—अर्थात् समस्त सुख-दुख में समभाव से जो धैर्यवान व्यक्ति व्यथित नहीं नहीं होते, उन्हें अमरत्व एवं शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है।

● ● ●

योगिराज प्रतिदिन सायंकाल गंगा के किनारे राणामहल घाट पर टहलने जाया करते थे। वहीं गंगा-तट पर भक्त कृष्णाराम का घर था। योगिराज कुछ देर तक टहलकर कृष्णाराम के मकान के बरामदे में बैठा करते और गीता के सम्बन्ध में नाना प्रकार की व्याख्याएँ करते। उसके बाद अँधेरा होने के पूर्व ही वे घर वापस आकर बैठकख़ाने में बैठ कर भक्तों को उपदेश दिया करते। रात के नौ बजते ही सभी भक्त चले जाते। इसी क्रम में वे जब भक्तों को उपदेश देते तब कभी किसी समय ऐसा भी देखने में आता कि वे अचानक हाथ जोड़कर माथे से लगाकर प्रणाम करते। उपदेश के समय बीच-बीच में वे इसी तरह की मुद्रा में क्यों प्रणाम करते, यह उपस्थित भक्तों की समझ में नहीं आ पाता और पूछने का साहस भी नहीं जुटा पाते। इस प्रकार धीरे-धीरे भक्तों में एक कौतूहल की सृष्टि हुई।

एक दिन जब उन्होंने उपदेश देते हुए अचानक प्रणाम किया तब उसी समय एक व्यक्ति घर से बाहर आकर देखता है कि एक भक्त योगिराज के बरामदे में साष्टांग प्रणाम कर रहा है और योगिराज उसी प्रणाम को स्वीकार कर रहे हैं। घर के भीतर से देखने का उपाय नहीं था। इस प्रकार बाहर से जब भी कोई उनके प्रति अपना प्रणाम निवेदित करता तब वे उसका प्रत्याभिवादन करते। यहाँ तक कि बहुत दूर से भी यदि उन्हें कोई प्रणाम करता तो वे उसका प्रत्याभिवादन करते, यह भी देखने में आता। पास और दूर, भीतर और बाहर सभी कुछ उनके निकट स्वच्छ हो गया था। सभी के भीतर वे उसी एक को ही देखते।

प्रियनाथ कड़ार एवं उनके घनिष्ठ मित्र राम दोनों ही योगिराज के शिष्य थे। दोनों मित्र एक साथ काशी आए। प्रत्येक दिन दोनों

मित्र गुरु का दर्शन करने जाते और उपदेश सुनते और आनन्दपूवक दिन कट रहे थे। इसी बीच अचानक एक दिन राम को कॉलरा हो गया और वह भी एशियाटिक कॉलरा। इस अजनबी, परदेशी जगह में प्रियनाथ अत्यन्त चिन्तित हो गए। क्या करें कुछ सोच नहीं पाए और सीधे गुरुदेव के पास भाग कर आए।

योगिराज ने उनकी सारी बातें सुनकर सामाजिक शिष्टाचार के नाते उनसे कहा—"अच्छे डाक्टर को दिखाओ।"

प्रियनाथ दो अनुभवी डाक्टरों को लाए; किन्तु रोग बढ़ता ही गया। अन्त में डाक्टरों ने हताश होकर कहा कि रोगी का अन्तिम समय आ गया है। अब और कोई उपाय नहीं है।

निरुपाय बेचारे प्रियनाथ फिर गुरुदेव की ओर भागे और रोगी की अन्तिम अवस्था की बात उनसे कही और बताया कि इतनी देर में तो शायद वह मर चुका होगा। शोकातुर प्रियनाथ की आँखों से आँसू की धार फूट पड़ी। प्रशान्त हृदय भक्तवत्सल महायोगी अपना आसन छोड़ कर उठे और एक शीशी लेकर पास रक्खे दीपक से कुछ रेड़ी का तेल उसमें डालकर कहा—"ले जाओ इसे, और रोगी को जल्द ही पिला दो।"

प्रियनाथ ने सोचा अब तक तो राम मर चुका होगा यह दवा पिलाऊँगा भी तो किसे? इसी आशंका के साथ उनके मन में फिर यह विचार आया कि गुरुदेव तो ब्रह्मज्ञ हैं। उनकी बात तो कभी मिथ्या या झूठ नहीं हो सकती।

प्रियनाथ जल्द ही रोगी के पास आ गये। आते ही देखा कि रोगी के शरीर में प्राण का कोई संकेत नहीं। तब भी विश्वास पूर्वक उन्होंने रोगी के मुँह में कई बूँदें तेल की डाल दिया। और भी अनेक व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे। सभी के सामने उस समय एक अलौकिक घटना घटित हुई। धीरे-धीरे प्राणहीन देह हिलने-डुलने लगी। साँस भी चलने लगी और रोगी को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

यही प्रियनाथ कड़ार ही परवर्तीकाल में स्वामी युक्तेश्वर गिरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1]

इस प्रकार योगिराज हमेशा एक अतीन्द्रिय जगत में रहा करते। उनके चेहरे पर हिमालय जैसी निस्तब्ध शान्ति सर्वदा ही विराजमान

---

१. प्रियनाथ कड़ार महाशय ने १९ अगस्त १८८३ ई० को योगिराज से दीक्षा प्राप्त की थी, उनकी डायरी में जिसका उल्लेख है।

रहती। वे साधना से विमुख व्यक्तियों के साथ धर्म सम्बन्धी कोई आलोचना-प्रत्यालोचना नहीं करते थे। बल्कि यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान एवं सामाधि के शास्त्रोक्त योग-साधनों के रहस्यमय अष्टांग कर्मों पर वे विशेष बल दिया करते थे। उनकी यौगिक अपरोक्षानुभूति अपूर्व थी। उस योगलब्ध अनुभूति के आधार पर वे धर्मोपदेश दिया करते और अध्यात्म शास्त्र के ग्रन्थों की व्याख्या करते। भावावेश के आधार पर वे कुछ नहीं कहते थे बल्कि योग द्वारा प्राप्त अपने प्रत्यक्ष अनुभव के माध्यम से ही भक्तों को उपदेश दिया करते। इसीलिए लोगों के मन पर उनके उपदेशों का सीधा प्रभाव पड़ता। उनका वर्णन और व्याख्यान जीवन्त था। वे कहा करते कि क्रिया के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करो और धीरे-धीरे परमात्मा के साथ एकाकार हो जाओ। यही मानव-जीवन की श्रेष्ठ सम्पदा है। ध्यान, धारणा और समाधि के अतिरिक्त अध्यात्म-जगत के सूक्ष्म से सूक्ष्म परमात्म सम्बन्धी तत्त्व-प्रदेश में प्रवेश सम्भव नहीं। यही उनके उपदेश का मूल बिन्दु था। उनका कहना था कि प्राण ही समस्त शक्तियों का मूल स्रोत है। प्राण की साधना करते ही सारी साधनाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। -इस प्राण की तीन अवस्थायें हैं। यह आदि और अन्त में स्थिर है तथा मध्य में चंचल है। आदि और अन्त की स्थिरता एक अवस्था है और मध्य की चंचल अवस्था दूसरी है। मूलतः प्राण की यही दो अवस्थाएँ हैं। **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत"** (**गीता : २।२८**) अर्थात् भूत या पदार्थ सभी आदि और अन्त में अव्यक्त हैं केवल मध्य में ही व्यक्त हैं। चंचल प्राण को ही प्रकृति कहते हैं; चंचल प्राण ही जीव का वर्तमान अस्तित्व है। चंचल प्राण से ही विश्व-ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है। जो भी कर्म है सभी चंचल प्राण से उद्भूत है। किन्तु स्थिर प्राण ही चंचल प्राण का उद्गम-केन्द्र है। स्थिर प्राण कुछ करता भी नहीं कुछ करवाता भी नहीं। वह सर्वदा मात्र साक्षी है। चंचल प्राण ही स्थिर प्राण का कर्म है। चंचल प्राण प्रकृति है और स्थिर प्राण पुरुष है। चंचलता ही जीव है, स्थिरता ही शिव है। चंचलता ही बन्धन है और स्थिरता ही मुक्ति है। अर्थात् प्राण की चंचलता, गति या तान है वही बन्धन है और स्थिरता की ओर जो गति या तान है, वही मुक्ति है। शास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है—"**निश्चलं ब्रह्म उच्यते**"—निश्चल या स्थिर अवस्था ही ब्रह्म है। वह एक ऐसा अव्यक्त पद या अवस्था है जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है। वही अमरपद है क्योंकि उस महास्थिति में जन्म भी नहीं है, मृत्यु भी नहीं है। वह नित्य है, शाश्वत है, क्योंकि उसके पूर्व भी कोई नहीं है पश्चात् भी कोई नहीं है, वह चिर

विराजमान है। वही बुद्ध की अवस्था है, वह ज्ञान से परे की अवस्था है; वहाँ ज्ञान की भी पहुँच नहीं है। वह शाश्वत, नित्य मुक्त अवस्था है वहाँ बन्धन नहीं है। वही कर्म अथवा क्रिया से परे की अवस्था है; क्योंकि वहाँ किसी प्रकार के कर्म का अस्तित्व नहीं है। चंचलता के अवसान के लिए किसी प्रकार का कर्म वहाँ रह नहीं सकता। प्राण के संकोचन की अवस्था ही शिव है और प्रसारण या विकास की अवस्था ही जीव है। इसीलिए साधक को उचित साधना के द्वारा पूर्णरूप से चंचलता को नियंत्रित करके स्थिरता की प्राप्ति करनी चाहिये। जब जीव चंचलता की अवस्था को समाप्त या अवसान करके महास्थिति रूपी महाप्राण को प्राप्त करेगा तब जीव स्वयं ही शिव हो जाएगा। बौद्ध दर्शन के अनुसार यही महास्थविरत्व की प्राप्ति है। सभी अमृत-पुत्र हैं। कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं।" इस प्रकार योगिराज स्वयं आचार्य पद के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित रहकर भी अपने आपको क्षुद्र या छोटा समझते थे और इसी भावना का उपदेश देते हुए कहा करते थे कि योग-साधना के लिए स्वस्थ, मानव-देह और दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है। ये दो सम्पदाएँ जिसके पास हैं, वह अनायास ही योग-साधना कर सकता है। किसी प्रकार की बाधा उसके मार्ग में नहीं आती। न तो कोई पापी है, न कोई पुण्यात्मा है; सभी समान हैं। जब सभी ईश्वर-पुत्र हैं तब तो सभी को ईश्वर-साधना का अधिकार प्राप्त है। स्त्री-पुरुष, जो भी हो, सभी जाति या वर्ग के लोगों को योग-साधना करने का अधिकार है यह किसी विशेष श्रेणी अथवा वर्ग-वर्ण के लिये नहीं है। मन को कूटस्थ में स्थिर करने पर पाप नहीं है और यदि मन कूटस्थ में स्थिर न हो पाए तो वही पाप है। वे कहा करते थे—कूटस्थ ही ईश्वर है, वही परमात्मा, ब्रह्म है। तुम संसार में रहो या उसे त्यागकर जहाँ कहीं भी रहो प्राण तो तुम्हारे शरीर में ही है—अर्थात् ईश्वर तो तुम्हारे साथ ही है। यदि वह नहीं तो तुम भी नहीं। प्राण जब तक तुम्हारी देह में चंचल है तब तक तुम जीवित हो। जब उसे देह के भीतर ही खोजना होगा तब संसार छोड़ने की क्या आवश्यकता है। बल्कि संसार ही साधना का उपयुक्त क्षेत्र है। यहाँ रहने पर सब कुछ प्राप्त होता है। संसार में रहकर ही जो अपने शरीर में स्थित प्राणरूपी ईश्वर की साधना करता है, वही वीर साधक है। उसका साक्षात्कार होने पर ही सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव होता है। इस प्राणरूपी ईश्वर की साधना करने के लिए देह में प्राण का रहना जरूरी है। प्राण को प्राप्त करने के लिये प्राण की ही आवश्यकता है और प्राण के बिना प्राण प्राप्त नहीं हो सकता। प्राण के द्वारा प्राण की

पूजा या सेवा करनी पड़ती है।[१] बाहर की किसी वस्तु द्वारा प्राण की पूजा या सेवा सम्भव नहीं। जो कुछ भी देख रहे हो, सभी प्राण है। प्राण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वहीं ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। वही दुर्गा, काली और जगद्धात्री है। इसीलिए ऋषियों ने उदात्त कंठ से घोषणा की है :—

"प्राणोहि भगवानीशः प्राणो विष्णुःपितामहः।
प्राणेंन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत॥"

अर्थात् यह प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, प्राण ही पुत्र है, प्राण ही सखा या मित्र है। ऋषियों ने भी ऐसा ही कहा है—

'पिता ह वै प्राणः माता ह वै प्राणः,
पुत्र ह वै प्राणः, आचार्य ह वै प्राणः (उपनिषद्)

प्राण से ही प्राण की उत्पत्ति होती है और प्राण ही अवस्थान है, प्राण ही धर्म है; क्योंकि प्राण ने ही सब कुछ धारण कर रक्खा है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बनता है 'धृ' धातु का अर्थ है धारण करना। प्राण ही कर्म है प्राण के बिना किसी कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता। प्राण ही जीव है उसके चंचल होने से ही जीव में जीवन है। प्राण ही शिव है क्योंकि वही निधनकर्त्ता या नाशकर्त्ता है। प्राण ही विष्णु है। 'विष्' धातु का अर्थ है प्रवेश करना जिसने सभी पदार्थों में प्रवेश कर रक्खा है; वही विष्णु है; वही पालनकर्त्ता है। प्राण ही दुर्गा है क्योंकि वही इस देहरूपी किले या दुर्ग में वास करके सभी प्रकार की दुर्गति का नाश करता है। वह इस देह और देह के बाहर सर्वत्र विराजमान है। वही सर्वदर्शी है। अतएव मनुष्य से लेकर कीट-पतंग, स्थावर-जंगम सभी का उपास्य एवं धर्म यही प्राण है। सभी देव-देवियों का भी उपास्य यह प्राण है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी को लेकर तथा सभी प्रकार के अन्य प्राणियों तक का यही एक प्राणरूपी ईश्वर उपास्य है जहाँ किसी प्रकार का भेदाभेद नहीं है। प्राण यदि देह में न रहे तो कुछ भी नहीं रहेगा। प्राण के अस्तित्व के कारण ही, इन्द्रिय, अंग-प्रत्यंग मन, बुद्धि, अहंकार आदि सभी का अस्तित्व है। इसलिए तुम सभी अपने-अपने प्राण को प्यार करो, उसी की सेवा करो और उसकी ही उपासना करो। प्राण की ही शरण में जाओ। ऐसा होने पर जगत के प्राण को प्यार कर सकोगे और सभी जीवों के प्रति प्रेम का उदय होगा। वही प्रेम का स्रोत है। वही सब का पति या मालिक है; इसीलिए उसे विश्वपति कहते हैं, इसलिए

१—इस सम्बन्ध में लेखक की पुस्तक 'प्राणमयं जगत' में विशेष रूप से व्याख्या की गई है।

उसको ही प्यार करो, सब के प्राणों की सेवा करो अर्थात् प्राण के श्वास-प्रश्वास रूपी अविराम कर्म प्राणकर्म या प्राणायाम का पालन करो। तभी प्राण को प्राप्त कर सकोगे। तुम प्राण ही हो। उस प्राण ने तुम्हारे 'वर्तमान तुम' को बन्द कर रक्खा है। वहीं तुम्हारे वर्तमान 'तुम' को मुक्त कर सकता है। उसके अतिरिक्त कोई भी मुक्त नहीं कर सकता-ऐसा साहस किसी में भी नहीं है। प्राण ही बन्धनकर्त्ता है और प्राण ही मुक्तिदाता हैं। इसीलिए योगिराज आक्षेप किया करते थे—"कि इस देह में ही वह है; लेकिन कितने लोग हैं जो उसकी खोज-खबर रखते हैं ?

बाह्य प्राणायाम रूपी श्वास-प्रश्वास की बहिर्मुखी गति को नियंत्रित करके अन्तर्मुख गति रूप अन्तः प्राणायाम की मात्रा बढ़ाने पर सभी प्रकार की इच्छाओं का नाश होता है जिससे ज्ञान की स्थिति प्राप्त होती है या पुनरावर्तन का बोध होता है। ऐसी अवस्था में देह त्याग के बाद फिर वर्तमान अवस्था में जन्म नहीं होता। बल्कि जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त होती है।

अथर्ववेद के 'प्राण सूक्त' (काण्ड ११ सूक्त ४) में प्राण के माहात्म्य का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।१।।
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते, नमस्ते प्राण वर्षते ।।२।।
यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्रवीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो वह्वीवि जायन्ते ।।३।।
यत् प्राण ऋतावगतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ।।४।।

● ● ●

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राण देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे, लोक आ दधत ।।११।।
प्राणो विराट प्राणो देष्ट्री प्राणं सव उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम ।।१२।।
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ।।१३।।
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ।।१४।।

**प्राणमाहुर्मातरिश्वान वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥**

● ● ●

**प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥"**

अर्थात् यह प्राणवायु जो हृदय में प्रतिष्ठित है उसे उसके ही द्वारा ओंकार क्रिया के माध्यम से नमस्कार। सब कुछ प्राण के ही वश में है, उसके न रहने पर कुछ नहीं रहेगा। प्राण के द्वारा ही बाहर-भीतर के सभी कार्य होते हैं। प्राण जो सब का सर्वेसर्वा कर्त्ता है उसकी सेवा करना आवश्यक है अर्थात् क्रिया करना आवश्यक है। जितना कुछ भी हुआ है, या जो अस्तित्व में है, सभी का ईश्वर प्राण है। इस प्राणेश्वर की सेवा करने के लिए प्राण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस प्राण की वृद्धि का नाम प्राणायाम है। इसलिये सभी बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रतिदिन प्राण की सेवा करनी चाहिये अर्थात् क्रिया करना उचित है। प्राण में ही सभी कुछ प्रतिष्ठित है और शरीर उसका आधार है। गुरु की वाणी या उपदेश के प्रति आस्था रखते हुए सभी को विश्वास पूर्वक प्राण की क्रिया करनी चाहिए जो एक महान, अमोघ या अचूक औषधि है। वह एक होने का निमित्त, सकल शास्त्र एवं सबसे प्रथम ही प्राणायाम है। उस प्राणवायु के विकार से मृत्यु होती है। उसमें द्युति नहीं है; वह कूटस्थ की शक्ति द्वारा प्रकाशित या अभिव्यक्त होता है। वही तेज, अप अन्नस्वरूपा गायत्री है जिसके प्रकाश से बाहर-भीतर सब कुछ प्रकाशित होता है। ईश्वर का स्मरण करना भी प्राण का कर्म है। प्राण के रोध या उसे रोकने से एक विराट मूर्ति दीखती है और जिसे देखने वाला वह प्राण है। सभी लोग प्राण की ही उपासना कर रहे हैं कोई मनोयोग के साथ और कोई अमनोयोग पूर्वक। इस प्राण के द्वारा सूर्य और चन्द्र दिखाई देते हैं। प्राण अपान के बीच वह पुरुष है, वही आ रहा है, जा रहा है। उस प्राण की मातरिश्वा संज्ञा है। इस प्राणवायु के द्वारा ही सब कुछ हुआ है और होगा। प्राण में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। प्राण क्रिया के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है क्योंकि जो सत्य में स्थित नहीं है वह मिथ्या है। अतएव आत्म-क्रिया जो सर्व शास्त्र-सम्मत है, उसे अवश्य करना चाहिए।

"सर्वमोंकारं एवेदं ॐ सर्वं गायत्री च त्रायते च।"

—छान्दोग्य उपनिषद : ५।४

यह शरीर ही ओंकार है इसे जानने पर सब कुछ का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। क्रिया ही गायत्री है; क्रिया करने से त्राण मिलता है। **"ये अग्निवर्णां शुभां सौख्यां कीर्तस्यन्ति ये द्विजा तां तावयति दुर्गा निनावेव सिन्धु दुरितात्यग्निः।"—ऋग्वेद।**

अर्थात् जो क्रियावान योनिमुद्रा से प्रतिदिन कूटस्थ का दर्शन करता है उसे उस कूटस्थ स्वरूप किले की स्वामिनी दुर्गा संसार रूपी समुद्र से पार कर देती है। क्रिया रूपी नौका द्वारा ऐसा करते-करते चंचल मन स्थिर हो जाता है और इस क्रिया के पश्चात् की प्राप्त अवस्था में सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

"क्रिया करके क्रिया की परावस्था में रहना" सभी बातों का सारांश यही है।

पूर्व जन्म में कृत कर्म को दैव कर्म कहते हैं और वर्तमान कर्म जो करना पड़ता है उसे पुरुषकार कर्म कहते हैं। अतएवं दैव एवं पुरुषकार जनित कर्म क्लेश के निवारण के लिये क्रियावानों को गुरु के उपदेश के अनुसार क्रिया को हमेशा मनोयोग पूर्वक करना चाहिये। १७२८ बार अथवा २०७३६ बार उत्तम प्राणायाम करने से सभी कामनाएँ पूर्ण एवं सिद्ध होती हैं। उस कूटस्थ में स्थिर रहने का नाम ही लक्ष्मी है। इसमें ही शान्तिपद की प्राप्ति होती है। क्रिया करने से ही सिद्धि मिलती है। वही विश्वकर्मा हैं, विश्वकर्त्री हैं; जो इस संसार का भरण-पोषण कर रही हैं। कूटस्थ के भीतर जो कृष्णवर्ण गोलाकार या वृत्त है वही देव हैं। फिर ओंकार क्रिया द्वारा स्थिति स्वरूप बाँयीं ओर के हृदय में वही वामदेव हैं। इस देह के भीतर के छह चक्रों में जो छह ऋतुएँ वर्तमान हैं उनमें जो कूटस्थ स्वरूप भ्रमर है। वही सर्व श्रेष्ठ मधुकर है। इड़ा पिंगला रूपी धनुष जिसके हाथ में है वही 'राम' है। वे ही प्रवृत्ति-निवृत्ति एवं सब का हरण करते हैं इसीलिए उनका नाम 'हरि' है। वही फिर हरिण की आँखों जैसे दिव्य चक्षु कूटस्थ स्वरूप हैं इसीलिए उनका नाम 'हरिनाम' है; जिसे योगीगण देखते हैं। वे सभी भूतों-पदार्थों का हरण करते हैं इसीलिये उनका नाम 'सर्वभूतहर' है। वे सर्वदा ही नित्य हैं इसीलिए वे शाश्वत हैं। वे षडैश्वर्यवान हैं अर्थात् क्षुधा, तृष्णा, जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख से रहित हैं उससे परे हैं, इसीलिये उनकी संज्ञा 'भगवान' है। २८ अक्टूबर १८७४ ई० की डायरी में योगिराज ने लिखा है—**"उँ ज्योतरूप—एहि ज्योत शरीरमे व्यापक हो जायगा तब सब देखेगा आउर बोलने का तवियत न चाहेने पर।"** अर्थात् इस ओंकाररूपी आत्मज्योति के समस्त शरीर में प्रसारित अथवा परिपूर्ण होने पर (इस शरीर में ही स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल लोक की स्थिति है) सब कुछ दिखाई देगा और इच्छा न होते

हुए भी सब कुछ कहा-बताया जा सकता है। इसी को लक्ष्य करते हुए अर्जुन ने कहा है—

> द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
> व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः
> दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
> लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
>
> गीता : ११।२०

अर्थात् हे महत प्राणरूप महात्मन स्वर्ग और पृथिवी का यह अन्तर (अर्थात् अन्तरिक्ष) अर्थात् मूलाधार एवं सहस्रार के मध्य या भीतर और चतुर्दिक तुम्हारा (आत्मा का) तेजोरूप आलोक व्याप्त हो गया है। तुम्हारा (आत्मा का) यह अद्भुत-प्रचण्ड अग्नि के समान भयंकर रूप देखकर तीनों लोक अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं। अर्थात् शरीर के ऊर्ध्व, निम्न और मध्य तीनों लोक ही भयग्रस्त हैं, मन संत्रस्त हैं।

● ● ●

योगिराज ने कभी भी अपना प्रचार या प्रसार नहीं चाहा। इसीलिए वे किसी को अपना चित्र या फोटो खींचने की अनुमति नहीं देते थे। एक दिन सभी भक्तों ने उनका चित्र या फोटो खिचवाने का निर्णय लिया और उनके ही एक भक्त एवं कुशल फोटोग्राफर गंगाधर दे को बुलाकर लाया गया। अब उन लोगों ने योगिराज की सहमति के लिए निवेदन किया। इस पर योगिराज ने कहा—"फोटो खींचने की कोई जरूरत नहीं। फोटो खींचने पर भविष्य में तुम सब साधना छोड़कर फोटो की ही पूजा शुरू कर दोगे।"

किन्तु भक्त कहाँ छोड़ने वाले थे। उनके बार-बार अनुरोध करने पर अन्त में योगिराज ने फोटो खींचने की अनुमति दे दी। गंगाधर बाबू के साथ सभी भक्त प्रसन्नता के साथ फोटो लेने के लिए तैयार हो गये। योगिराज कैमरा के सामने जाकर बच्चों जैसी उत्सुकता के साथ कमरा के तमाम कल-पुर्जों के बारे में जानकारी लेने लगे। गंगाधर बाबू ने भी उत्साह पूर्वक कैमरे के विभिन्न अंशों के बारे में बताना-समझाना शुरू किया।

किन्तु फोटो लेने के समय गंगाधर बाबू को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ा। कैमरे के लेन्स में योगिराज की छवि प्रतिबिम्बित ही नहीं हो रही है। उन्होंने सोचा कैमरे में कहीं कोई त्रुटि है। किन्तु परीक्षा करके देखा कि दूसरों का चित्र लेन्स में ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित हो रहा है। गंगाधर बाबू को इतनी देर में सारा रहस्य समझ में आ गया। उन्होंने देखा कि योगिराज मुस्करा रहे हैं। इस बार गंगाधर बाबू ने हाथ जोड़ते हुए निवेदन किया—"आप दया करें नहीं तो फोटो नहीं खिंच पायेगी और न तो भक्तों की मनोकांछा ही पूर्ण होगी।"

योगिराज ने इस बार हँसते हुए कहा—'खींचो, फोटो खींचो।"

इस बार कैमरे के लेन्स में उनका चित्र स्पष्ट प्रतिबिम्बित होने लगा।

इस समय उनके लाखों अनुयायियों या अनुगामी भक्तों के पास जो चित्र देखने को मिलता है उसे उस दिन गंगाधर दे ने खींचा था। इसके अतिरिक्त उनका कोई दूसरा चित्र नहीं खींचा गया। किन्तु आश्चर्य की बात है कि कहीं भी किसी दूकान पर उनका चित्र नहीं मिलता। सम्भवतः वे प्रचार-प्रसार के प्रति विरक्त थे इसीलिये इस प्रकार की गोपनीयता का पालन किया है। फोटो देखने पर सहज ही कोई अनुमान कर सकता है कि योगिराज का शरीर कितना सुडौल और सुन्दर था। वे योगी सुलभ देह के अधिकारी थे। उनकी आँखों की ओर देखने से लगता था जैसे बड़ी तीक्ष्णता के साथ पूरे विश्व-ब्रह्माण्ड को देख रहे हों। वह शाम्भवी मुद्रा की स्थिति है।

श्यामाचरण साधना के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करके आर्ष अवस्था को प्राप्त करने के बावजूद हमेशा सहजता एवं सरलता के साथ जीवन-यापन करते थे। अत्यन्त साधारण उनकी वेशभूषा थी। स्वल्पभाषी एवं मधुरभाषी श्यामाचरण कभी भी बिना किसी प्रयोजन के योग-विभूति के ऐश्वर्य को व्यक्त नहीं करते थे। कभी-कभी लीला या चमत्कार के बहाने अथवा मोक्षकामी भक्तों के विश्वास को दृढ़ करने की दृष्टि से ही उन्हें योग के चमत्कारों का प्रदर्शन करते देखा गया है। अध्यात्मशक्ति के मुख्यस्रोत के रूप में प्रतिष्ठित होकर भी योगीराज स्वयं को अत्यन्त क्षुद्र या अकिंचन समझते थे। भक्तों को भी इसी का उपदेश देते हुए कहा करते थे—"स्वयं को क्षुद्र या छोटा नहीं समझने पर आत्म-राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता। कई बार भक्तों से यह भी कहा करते कि—"मैं गुरु नहीं हूँ; गुरु शिष्य के बीच कोई भेद या फर्क नहीं रखता हूँ।"

उस समय योगीराज अध्यातमशक्ति की ऊँचाई पर थे और अपनी अध्यातम शक्ति के द्वारा मानव-कल्याण के लिए पतित पावन की भूमिका में प्रतिष्ठित थे। इसके अलावा उनमें कुछ ऐसी शक्ति थी कि केवल उनके दर्शन से ही लोगों का आध्यात्मिक रूपान्तर हो जाता था। अनेक साधु-संन्यासी रात के गहरे एकान्त में उनके चरणों में बैठकर अत्यन्त दुरूह योग-साधना की शिक्षा प्राप्त करते थे और प्रातः काल होते ही सभी चले जाते थे। इस प्रकार उन्होंने कितनी ही विनिद्र रातें काटी हैं। इसके लिए वे कभी उदास या निष्क्रिय नहीं दिखाई पड़ते थे। अवसन्नता का आभास ही नहीं था। हमेशा प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता पूर्वक आगत भक्तों की इच्छा पूर्ण करने की चेष्टा किया करते थे। उस समय उनको देखने से लगता था जैसे कोई करुणा की घनीभूत मूर्त्ति हो। ऊँच-नीच के भेदाभेद से रहित होकर इस महायोगी को कई बार ऐसा करते देखा गया है कि वे स्वयं भक्तों की खोज-ख़बर रखते और उन पर अपनी अहैतुकी कृपा-दृष्टि रखते थे।

योगिराज के वास स्थान से थोड़ी दूर पर ग्वाला जयपाल भगत की दूध और दही की दूकान थी। वह दिन भर बैठे-बैठे दूध-दही बेचता और देखता कि कितने लोग महाराज जी के पास आते-जाते हैं। कितने लोग उनकी कृपा पाकर धन्य होते हैं। महाराज जी के प्रति जयपाल की गहरी श्रद्धा थी। जयपाल सोचता कि वह तो मामूली आदमी है, उसे क्या महाराज की कृपा प्राप्त होगी? साहस पूर्वक जयपाल कुछ कह नहीं पाता था। एक दिन जयपाल रास्ते में जा रहा था। अचानक सामने से महाराज जी को आते हुए देखकर वह भक्ति-पूर्वक विनम्रता के साथ उन्हें प्रणाम करके रास्ते के एक किनारे खड़ा हो गया। महाराज जी प्रत्याभिवादन करने के पश्चात् थोड़ा मुस्कराए और कहा—"जयपाल तुम कल आओगे, तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

जयपाल ने भक्तिपूर्वक प्रणाम करके कहा—"महाराज जी की जय हो।" जयपाल आनन्द में निमग्न होकर सोचने लगा कि महाराज जी स्वयं बुलाकर कृपा कर रहे हैं—क्या मैं उनके उपदेश का पालन कर सकूँगा।

दूसरे दिन जयेपाल ठीक समय पर उपस्थित हुआ और दीक्षा प्राप्त की।

परवर्ती काल में देखा गया कि उसी छोटी-सी दूध दही की दूकान से ही जयपाल ने काफी अर्थोपार्जन किया था। भक्त जयपाल धन-धान्य और पुत्र-परिवार से सम्पन्न होने के बावजूद अन्त में सब कुछ पुत्रों को सौंपकर गंगा के किनारे एक कुटी में अकेले ध्यानस्थ होकर

बैठा रहता। जयपाल साधना की उच्च स्तरीय भूमि पर उत्तीर्ण हो चुका था।

इसी प्रकार बाँग्लादेश की भागीरथी के किनारे स्थित एक छोटे गाँव में ईंट बनाने के भट्ठे में हितलाल सरकार काम करते थे। किसी तरह मामूली आमदनी से घर-गृहस्थी चलाते थे। किन्तु परोपकार की सहजात वृत्ति उनमें थी। किसी गरीब दु:खी के कुछ मांगने पर अपने एवं परिवार के कष्ट की बात भुलाकर उसी समय अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे दान दिया करते थे। हितलाल घर-परिवार के लिए सारे काम करते; किन्तु बीच-बीच में उनका मन पता नहीं कहाँ चला जाता। गंगा के किनारे वे घण्टों बैठे रहते। हालांकि वे समस्त कार्य करते थे लेकिन कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। पता नहीं, हितलाल क्या पाना चाहते थे। उन्हें लगता जैसे जीवन अपूर्ण रह गया।

हितलाल प्रत्येक दिन की चर्या के अनुसार उस दिन भी काम पर गये थे। नियमित रूप से कर्त्तव्यों का पालन कर रहे थे। अचानक उनके भाव-जगत में एक परिवर्तन आया। अकारण ही चित्त अत्यन्त व्याकुल हो गया। उन्होंने सोचा। यहाँ रहने से कोई लाभ नहीं, अभी ही कहीं चला जाना होगा। सोचने के अनुसार ही काम करना है। कारखाना छोड़कर हितलाल ने चलना शुरू किया। उन्हें ऐसा लगा जैसे कोई अदृश्य शक्ति अपने प्रबल आकर्षण द्वारा खींचे लिए जा रही है। कहाँ जाना है, क्या करना है, उन्हें इसका पता नहीं। मंत्रमुग्ध होकर वे चले जा रहे हैं। कुछ देर बाद रेलवे स्टेशन पर आकर उन्होंने देखा कि ट्रेन खड़ी है। ट्रेन से वे हावड़ा स्टेशन आ गये। हितलाल को इसका कोई ध्यान नहीं रहा। टिकट घर के सामने जाकर उन्होंने कहा—"एक टिकट दीजिए।" टिकट बाबू ने पूछा—"कहाँ जायेंगे ?"

हितलाल ने कहा—"यही कुछ रुपये हैं, इससे जो हो एक टिकट दे दीजिए।"

प्रौढ़ टिकट बाबू ने समझा कि यह भलेमानुस किसी कारण से परेशान है। इसीलिये उन्होंने पूछा—"आप क्या कभी काशी गये हैं ?"

हितलाल ने कहा—"नहीं, कभी भी काशी नहीं गया। टिकट बाबू ने मुसकराते हुए कहा—"तो फिर काशी जाइये। इस रुपये में वहाँ तक का टिकट हो जायेगा। बाबा विश्वनाथ की कृपा से शान्ति प्राप्त होगी।"

हितलाल को ज्ञात था कि काशी में बंगाली टोला नाम की एक जगह है। वहाँ अनेक बंगाली रहते हैं। काशी रेलवे स्टेशन पर उतर कर वे पूछते-पूछते बंगाली टोला की ओर रवाना हो गये। पतली गली

से वे चले जा रहे हैं। थके-माँदे और भूखे-प्यासे हितलाल कहाँ जायेंगे। पता नहीं—चलना है इसलिए चले जा रहे हैं। अचानक उन्होंने देखा कि एक मकान से सौम्यमूर्ति एक सज्जन व्यक्ति बाहर आकर उन्हें बुला रहे हैं। "सुनिये, इधर आइये।"

हितलाल विस्मयपूर्वक आगे बढ़े और पास जाकर कहा—"आप मुझे पहचानते नहीं और मैं भी आपको नहीं पहचानता तो फिर आपने मुझे क्यों बुलाया ?" सज्जन व्यक्ति ने हँसकर कहा—"वह सब बाद में, आप थके-माँदे और भूखे-प्यासे हैं पहले, नहा-धोकर और खा-पीकर आराम कीजिए।"

हितलाल ने सोचा इस सज्जन को मेरी व्यथा-कथा कैसे मालूम हुई ?

हितलाल के लिए नहाने-धोने और खाने-पीने की तथा विश्राम की यथोचित व्यवस्था की गई। विश्राम के पश्चात् अन्यान्य लोगों से बातचीत के दौरान उन्हें पता चला कि ये वही महात्मा योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी हैं जिनके बारे में उन्होंने केवल उनका नाम भर सुन रक्खा था।

इसी बीच योगिराज ने हितलाल को अपने कमरे में बुलवाया और कहा—"आपकी दीक्षा-प्राप्ति का समय आ गया है इसलिए मैं ही आपको यहाँ लाया हूँ।"

योगिराज के चरणों पर हितलाल लोट पड़े। महायोगी की कृपा प्राप्त करके हितलाल धन्य हो गये।

योगिराज का पड़ोसी एक युवक चन्द्रमोहन दे अभी-अभी डाक्टरी पास करके घर लौटा है। चन्द्रमोहन, राममोहन के भाई थे। एक दिन चन्द्रमोहन ने आकर योगिराज को प्रणाम किया और आशीर्वाद प्राप्त करने की प्रार्थना की। आशीर्वाद देकर योगिराज आधुनिक चिकित्सा के बारे में विविध विषयों पर पूछ-ताछ करने लगे। चन्द्रमोहन नये डाक्टर हुए हैं उत्साह की कोई कमी नहीं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के तमाम पक्षों को वे समझाने लगे।

योगिराज ने उनसे जानना चाहा कि चिकित्सा-विज्ञान में मृत की क्या संज्ञा है ?

मृत की संज्ञा के बारे में चन्द्रमोहन ने बतलाया।

फिर मुस्कराते हुए मजाक के स्वर में योगिराज ने कहा चन्द्रमोहन मेरी जाँच करके देखो तो-मैं जीवित हूँ या मृत ?

चन्द्रमोहन ने जाँच की; लेकिन अवाक ; योगिराज के शरीर में कहीं भी प्राण का संकेत नहीं। हृत्पिण्ड बन्द है। चन्द्रमोहन क्या

कहें—सोच ही नहीं पा रहे हैं। अचानक योगिराज ने मुस्कराते हुए कहा—"तो फिर चन्द्रमोहन मुझे एक डेथ सर्टिफिकेट लिखकर दे दो।"

चन्द्रमोहन और भी आफत में पड़ गये। क्या उत्तर दें, सोच रहे हैं। अकस्मात् उनके दिमाग में एक बात आई और उन्होंने कहा—डेथ सर्टिफिकेट तो लिख देता; किन्तु आप तो बात कर रहे हैं; मृत व्यक्ति तो बात नहीं कर सकता।

योगिराज हँस पड़े और कहा—"ठीक ही कहते हो; किन्तु जान लो, तुम लोगों के आधुनिक विज्ञान से ऊपर और भी बहुत कुछ जानने के लिये है। वहाँ तुम लोगों के विज्ञान की पहुँच नहीं है, किन्तु योगी सहजता के साथ ही उस ज्ञान की खोज कर सकते हैं।

यह घटना चन्द्रमोहन के जीवन की एक अविस्मरणीय घटना थी। परवर्तीकाल में एक सफल चिकित्सक होने के बावजूद वे अध्यात्म-मार्ग के पथिक थे।

योगिराज चाहते थे कि सभी लोग गृहस्थ-जीवन में रहकर स्वयं अपने द्वारा उपार्जित अर्थ के माध्यम से ही जीविका का निर्वाह करें एवं साथ ही साथ योग-साधना करते हुए धीरे-धीरे आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। उन्होंने स्वयं उसी आदर्श को उपस्थित किया है। वे स्वयं साधारण, सहज, सरल तथा आडम्बरहीन जीवन जीकर योग की साधना करते हुए साधना के उच्च शिखर पर पहुँचे थे। और गृहस्थ या सांसारिक व्यक्ति के सामने एक उज्ज्वल आदर्श की स्थापना की है। हम यह नहीं जानते कि इस प्रकार का आदर्श और किसी ने स्थापित किया है या नहीं। संसार में रहकर साधना और भजन करने के लिये समयाभाव की दलील यदि कोई देता तो वे उसे नहीं मानते थे। बल्कि वे कहा करते थे कि यदि सचमुच किसी में ईश्वर-साधना की सदिच्छा या अच्छी भावना का संस्कार है तो वह सांसारिक व्यस्तता के बावजूद उसे कर सकता है। दूसरों पर निर्भर रहकर जीविका-निर्वाह करने की वृत्ति का वे कभी भी समर्थन नहीं करते थे। वे जानते थे कि आधुनिक स्वोपार्जनरत मनुष्य को अर्थ-संकट से ग्रस्त समाज के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए वे प्राचीन योगियों के कठोर आदर्शों का अनुमोदन नहीं करते थे। अपने घर में गुप्त रूप से साधना-रत योगियों की सुख-सुविधा के प्रति ही अत्यधिक आग्रहशील थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा प्रदर्शित कठिन योग की प्रणालियों को सामान्य लोगों के लिए उपयोगी बनाकर, योग के बन्द द्वार को खोलकर सब के लिए सुगम योगमार्ग बनाया। उन्हें पता था आधुनिक क्षीणजीवी या कमजोर मनुष्य के पक्ष में प्राचीन योग की कठोर साधना सम्भव नहीं। इसीलिए उसकी प्राचीन

जटिलताओं को सुलझाते हुए सवसाधारण के पक्ष में उसे प्रत्यक्ष फलप्रद, आडम्बरहीन, सहज साध्य तथा सरल योग-साधना के रूप में परिवर्तित किया। उनके इस प्रयास के पूर्व प्राचीन कठोर योग-साधना सर्वसाधारण के लिए असम्भव-सा प्रतीत होता था। इस युग में उन्होंने ही सर्वप्रथम इस कठोर प्राचीन योग साधना को उपयोगिता की ऐसी दिशा प्रदान की है जो सबके लिए कल्याणकारी है। उनका यह प्रयास मानव समाज के लिए अविस्मरणीय रहेगा। उनके इस प्रयास ने मानव समाज को आत्मानुसन्धान की दिशा में और भी उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया है। आज योग-साधन गृहस्थ मनुष्य-समाज के लिए कोई कठिन कार्य नहीं है। हमारे प्राचीन ऋषिगण भी योगसिद्ध मुक्त पुरुष थे। उन्होंने भी संसारिक जीवन में बँधकर विवाहित जीवन का निर्वाह करते हुए वर्णाश्रम विधि के अनुसार योगयुक्त स्थिति में सभी कार्य सम्पन्न किया है। यही भारतीय संस्कृति की धारा है।

गृहस्थ योगी श्यामाचरण कहा करते थे कि वर्तमान काल के आदमी के पक्ष में भक्ति-मार्ग की साधना अत्यन्त कठिन है। समस्याओं से आक्रान्त, जर्जर समाज में तथा आधुनिक विश्वासहीनता एवं विलासिता से जुड़े समाज में यथार्थतः भक्तिमान व्यक्ति कम ही हैं। इसलिए वे सहज, सरल तथा आडम्बरहीन योग-साधना के प्रति लोगों का मन आकर्षित करते हुए कहा करते कि यह युग के अनुकूल और उपयोगी सहज योग साधना गणित शास्त्र की तरह बिल्कुल अभ्रान्त है। इसमें भटकाव की कोई गुंजाइश नहीं है। क्योंकि जाति-सम्प्रदाय, धर्म से अलग कोई भी व्यक्ति इसे कर सकता है। मानव-प्रेमी श्यामाचरण इस प्रकार सामाजिक कल्याण के प्रति उत्साही एवं सेवाव्रती थे।

उन दिनों जाति-भेद की प्रथा अत्यन्त प्रबल थी। योगिराज का जन्म उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। उस समय किसी ब्राह्मण कुल के व्यक्ति के पक्ष में जाति-भेद की प्रथा को न मानकर चलना बड़ा ही कठिन कार्य था। इस प्रकार के कार्यों या प्रथा के विपरीत कार्य करने वाले व्यक्ति को समाज दण्डित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखता था; किन्तु देखा जाता है कि इसके बावजूद योगिराज ने साधना के क्षेत्र में जाति भेद की प्रथा को ग्रहण नहीं किया है।

परिगणित वर्ण के रामप्रसाद जायसवाल वकालत करते थे। योगिराज के समक्ष जितने सारे भक्त बैठकर उपदेश सुना करते थे उनमें अधिकांश ब्राह्मण थे। रामप्रसाद भी उनकी बगल में बैठकर उपदेश सुना करते थे। रामप्रसाद के इस आचरण से ब्राह्मणों ने असंतुष्ट होकर एक दिन स्पष्ट रूप से कहा भी। किन्तु जायसवाल कोई प्रतिवाद किए

बिना भक्तसुलभ चित्त के साथ चुप रहे। कुछ दिनों बाद योगिराज ने जायसवाल को बुलाकर कहा—"मैं जिस आसन पर बैठा हूँ तुम यहाँ बैठो।" यह कहकर वे अपने आसन से थोड़ा खिसक कर बैठ गये। जायसवाल के मन में एक कुण्ठाबोध उभरा कि गुरु महाराज के आसन पर मैं बैठूँ यह मेरे लिए कैसे सम्भव है।

उपस्थित शिष्यों में एक रायबहादुर गिरीश प्रसन्न लाहिड़ी थे।[1] जिन्होंने इस विषय में अत्यधिक आपत्ति की थी। वे योगिराज का यह आदेश सुनकर अत्यन्त लज्जित हुये। अपने गुरु से क्षमा-प्रार्थना की तथा जायसवाल को खींचकर अपने पास बिठा लिया।

इस प्रकार योगिराज भेदाभेद से अलग ईश्वर-साधना के लिये सभी को समान मर्यादा प्रदान करते थे।

अर्द्धचन्द्राकार गंगा से घिरा शिवक्षेत्र काशीधाम प्राग्वैदिक काल से ही भारतवासियों को अध्यात्म के पथ की ओर आकर्षित करता आ रहा है। भारतीय संस्कृति के धारक एवं वाहक के रूप में यह शिवपुरी आज भी समान रूप से सक्रिय है। राजा-महाराजा, साधु-संन्यासी एवं फ़क़ीर सभी यहाँ आकर अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं और प्राणों की आकुल प्रार्थना को बाबा विश्वनाथ के चरणों पर उड़ेल देते हैं। यहाँ आने पर सभी समान हो जाते हैं।

तत्कालीन काश्मीर-नरेश एकबार काशीधाम आये। वे पहले से ही गृहस्थ योगी के बारे में जानते थे। अपने एक उच्च पदस्थ राज्य कर्मचारी को उन्होंने योगिराज के पास इसलिए भेजा कि योगिराज के साथ वे कब और कैसे मिल सकेंगे।

जब कर्मचारी ने आकर राजा की इच्छा निवेदित की तब योगिराज ने कहा—"रात नौ बजे जब यहाँ कोई नहीं रहेगा तब राजा अकेले आ सकते हैं यदि आवश्यक हो तो किसी एक विश्वस्त व्यक्ति को साथ ला सकते हैं। किन्तु यहाँ आने की बात राजा को गुप्त रखनी होगी।

यथा समय राजा आये और प्रत्याभिवादन के पश्चात् राजा योगिराज के साथ वार्तालाप करके अत्यन्त प्रसन्न हुये और उनसे पूछा कि इस गोपनीयता का कारण क्या है?

योगिराज ने कहा—"आप राजा हैं, आपको तमाम लोग पहचानते हैं। यदि दिन में आते तो भीड़ लग जाती। इसीलिए गोपनीयता पालन करने का निर्देश दिया था।

१—ये राजसाही जिले के कासिमपुर के जमींदार थे। इन्होंने १८ अप्रैल १८८२ ई० को योगिराज के निकट दीक्षा प्राप्त की थी।

राजा ने प्रसन्नतापूर्वक उनसे दीक्षा प्राप्त की थी।

तत्कालीन नेपाल-नरेश एवं वर्द्धमान (वर्दवान) के राजा ने भी इसी प्रकार गुप्त रूप से उनसे भेंट की है और उनकी कृपा प्राप्त करके धन्य हुए।

योगिराज ने अपने निर्धारित साधन मार्ग में कई क्रमों का निर्देश किया है। साधक साधना के द्वारा जिस प्रकार उच्च से उच्चतर स्थिति प्राप्त करेंगे उसी प्रकार साधना के उच्चतर क्रमों की भी प्राप्ति होगी। इस नियम का उन्होंने सारा जीवन निर्वाह किया है और परवर्ती साधकों के लिए निर्देश भी कर गये हैं। क्रम भंग करने की कोई भी गुंजाइश नहीं थी।

एक दिन एक भक्त ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"आपके न रहने पर परवर्ती क्रमों की शिक्षा किसके निकट प्राप्त करूँगा। उसकी एक सुव्यवस्था आप अपने जीवन-काल में कर जाएँ।"

उत्तर में योगिराज ने कहा—"कितना कुछ दह-बह गया फिर मेरी तो क्या औक़ात। जब तुम्हारा समय आ जायेगा तब रेगिस्तान में रहने पर भी सहारा अवश्य प्राप्त होगा।

योगिराज ने किसी को स्वधर्म त्याग करने का उपदेश नहीं दिया है। यह उनके द्वारा प्रदर्शित साधना-मार्ग की एक और विशिष्टता है। वे कहा करते—"कोई भी धर्म या कोई भी मतावलम्बी व्यक्ति इस योग साधना को कर सकता है उसके लिए किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य समेत सभी हिन्दू, मुसलमान क्रिश्चियन अर्थात् समस्त लोग इस योग की साधना कर सकते हैं, कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वे कहते थे कि यह आत्मसाधना है। समस्त जीवात्मा एक ही है। सभी जीवों की देह में, एक ही आत्मा विराजमान है। इसलिए आत्म-साधना में कोई बाधा नहीं। धार्मिक विश्वास, देवी, देवताओं के प्रति आस्था या भक्ति अथवा जिसका जो भी इष्ट है, वही रहेगा। अपने-अपने विश्वास के आधार पर आत्म-साधना करते चलो।"

यही कारण है कि हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन इत्यादि अनेक धर्मों एवं श्रेणियों के मोक्ष कामी, सत्यान्वेषी भक्तों ने उनके चरणों का आश्रय प्राप्त किया था। अब्दुल गफ़ूर नाम के एक ग़रीब मुस्लिम भक्त ने उनसे योग की दीक्षा प्राप्त की थी और साधना की उच्च अवस्था को प्राप्त किया था।

योगिराज स्वयं अनेक भक्तों को योग-क्रिया प्रदान करके उन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देते। उन्होंने कितने लोगों को दीक्षा प्रदान की है—उसकी कोई प्रामाणिक या निश्चित् संख्या नहीं है। उनमें कुछ जो विख्यात योगियों के रूप में परिचित रहे हैं उनके

नाम जिनमें योगिराज के ऋषि-कल्प दोनों पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी एवं दुकौड़ी लाहिड़ी पंचानन भट्टाचार्य, स्वामी प्रणवानन्द गिरि, स्वामी युक्तेश्वर गिरि, भूपेन्द्रनाथ सान्याल, स्वामी केशवानन्द, स्वामी केवलानन्द, विशुद्धानन्द सरस्वती, काशीनाथ शास्त्री, नगेन्द्रनाथ भादुड़ी, प्रसाददास गोस्वामी[१], कैलाशचन्द्र धन्द्योपाध्याय, रामगोपाल मजुमदार, महेन्द्रनाथ सान्याल[२], रामदयाल मजुमदार, हरिनारायण पालधी आदि मुख्य हैं। इसके अलावा यह भी सुना जाता है कि भास्करानन्द सरस्वती बालानन्द ब्रह्मचारी ने भी अपने साधन-मार्ग से अलग भी योगिराज द्वारा प्रदर्शित योग-साधना का अनुशीलन किया था। तत्कालीन काशी नरेश, नेपाल नरेश, काश्मीर नरेश, वर्दवान के राजा, कालीकृष्ण ठाकुर एवं सर गुरुदास वन्द्योपाध्याय आदि समाज के उच्च स्तरीय अन्य लोगों ने भी उनसे योग की दीक्षा प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त समाज के निम्नस्तर के हजारों व्यक्तियों ने भी उनके निकट मुक्ति-मार्ग का सन्धान पाकर स्वयं को कृतकृत्य किया था। वे कहा करते थे कि गृहस्थ आश्रम से बड़ा कोई आश्रम नहीं; क्योंकि गृहस्थ आश्रम के आधार पर ही अन्य आश्रमों की स्थापना होती है। वह ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का भरण-पोषण करता है। इसलिए गृहस्थ आश्रम ही श्रेष्ठ आश्रम है।

परवर्ती काल में यह भी देखने में आता है कि पंचानन भट्टाचार्य के शिष्य एवं लालगोला हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक वरदाचरण मजुमदार से क़ाजी नजरुल इस्लाम एवं नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने इस महान क्रिया योग की दीक्षा प्राप्त की थी। सुना जाता है कि वरदा बाबू के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए ऋषि अरविन्द ने कहा था। "The greatest yogi of modern Bengal." नेताजी ने १२ जून १९३९ सोमवार को वरदा बाबू से दीक्षा प्राप्त की थी। इसके अलावा रामदयाल मजुमदार से श्रीमान् सीतारामदास ओंकारनाथ ने यह योग दीक्षा प्राप्त की थी। इसी योग के माध्यम से उन्होंने जीवन को सुन्दर बनाया तथा हर प्रकार की सफलता प्राप्त की थी। यह महान योग ही इन महात्माओं के जीवन की प्रधान एवं गुप्त कुंजी थी। इसी कुंजी के द्वारा ही उन लोगों ने अपने-अपने हृदय-मन्दिर के प्रधान फाटक को खोलने की क्षमता प्राप्त की थी। यही उनकी उन्नति एवं चरम उत्कर्ष

१—प्रसाददास गोस्वामी ने २३ दिसम्बर १८८३ ई० में योगिराज के निकट दीक्षा प्राप्त की।

२—महेन्द्रनाथ सान्याल ने १८ अक्टूबर १८८८ ई० को योगिराज से दीक्षा प्राप्त की थी।

का साधन था। इसो योग कर्म का सम्पादन करके ही उन्हें हृदय देवता की उपलब्धि हुई थी। जिसके बल पर लोक-कल्याण के प्रति जीवन का उत्सर्ग ही उनका श्रेय रहा है। इन दिनों अधिकांश व्यक्ति यह योग-कर्म नहीं कर पाते इसी कारण उनकी इन्द्रिय शक्तियाँ अमार्जित या अ-स्वच्छ रहती हैं। धर्म के बाहरी चटकीलेपन के प्रति आकृष्ट होने के कारण ही आज देश में इतना अन्याय और अत्याचार है। इसीलिए योगिराज कहा करते थे—कि यह योगसाधना करने से ही मनुष्य का जीवन सुन्दर एवं महिममय या श्रेष्ठ होता है। आत्मा के मान के प्रति जिसे होश है या जो सजग है, सचेतन है, उसे ही वस्तुतः मनुष्य कहते हैं।

किन्तु इस हृदय-मन्दिर का प्रधान फाटक खुलेगा कैसे ? इसके सम्बन्ध में योगिराज ने कहा है—

"उलट पवन का ठोकर मारे खोले दरवाजा।"

अर्थात् जो श्वास रूपी पवन ऊपर से नीचे की ओर संचरणशील है अर्थात् बहिर्मुखी है उसे अन्तर्मुखी करके ठोकर क्रिया रूपी कौशल के द्वारा उसे हृदय मन्दिर का मुख्य फाटक खोलना होगा। फिर लिखा है कि—**"उँ जोर से धक्का देने से तब दरवाजा खुलेगा।"** अर्थात् ओंकार क्रिया के द्वारा हृदय में जोर से धक्का देने से ही हृदय-मन्दिर का दरवाजा खुल जाता है। और फिर लिखा है—**"उँ जेयादा जोर से हृदय में ठोकर मारने से आप से आप नेसा होय ओ ठहर जेयादा होय।"** फिर लिखा है—**'जोर से उँ में ठोकर मारने से जेयादा स्थिर होता हय।'** अर्थात् ठोकर क्रिया रूप ओंकार क्रिया जोर से करते रहने पर हृदय-ग्रन्थि का भेदन होता है और तभी बन्द दरवाजा खुल जाने से अज्ञान दूर होता है। इस ठोकर क्रिया के करते रहने पर अपने आप गहरा नशा होगा और स्थिर घर में अधिक समय तक स्थिति या अवस्थान होगा। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मन दूसरों के दुःख के प्रति कातर होता है। इसीलिए उन्होंने इस गीत के माध्यम से व्यक्त किया—

दुख दुसरे का देखकर दया कर हृदय
तबइ पायगे चैतन्य रूप जस चन्द्रोदय।
आपने सामर्थ कोशिश करो हो मत निठुर
परमात्मा सन्तुष्ट हुए से मन होत मधुर।
तर जाओ आप अमरपद वोहाँ करो वासा,
चलो राह सद्गुरु का करो ओहि उपदेशा।

योगिराज कहा करते थे कि सभी मूर्त्तियाँ तो एक की ही हैं। मूर्त्तिभेद के साथ स्वरूप भेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार मूर्त्ति-दर्शन, उपदेश सुनना एवं भाव के अनुसार उसके साथ लीला तथा

नाना प्रकार के आचार-व्यवहार आदि तो आध्यात्मिक जीवन या अध्यात्म-मार्ग का मात्र बहिरंग या बाहरी अंग है। अन्त में अद्वैत भूमि को प्राप्त करना ही होगा। क्योंकि ज्ञान की पराकाष्ठा एवं पूर्ण सार्थकता की प्राप्ति अद्वैत स्थिति में ही सम्भव है; वहाँ भक्त एवं भगवान के बीच कोई अन्तर या भेद नहीं रहता। वहाँ तो एक अव्यक्त आत्मसत्ता स्वयं प्रकाश के रूप में विराज रही है।

प्राथमिक भगवत् दर्शन अथवा श्रवण इतना कठिन नहीं है; किन्तु यथार्थतः भगवत् दर्शन एक दुरूह समस्या है। अनेक परीक्षाओं के भीतर से एवं अत्यन्त कठोर साधना से उत्तीर्ण होने पर साधना की यथार्थ-भूमि पर भगवत् दर्शन प्राप्त किया जा सकता है। योगीगण जीवरूपी शिव में परम शिवरूपी आत्मदर्शन प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं। किन्तु वर्तमान युग में मनुष्य का मन जिस प्रकार की विश्वासहीनता अनास्था एवं श्रद्धाहीनता से जुड़ा हुआ है उसमें ऐसा दर्शन भी सम्भव नहीं। वर्तमान युग में मनुष्य का मन केवल तर्क एवं संशय से आक्रान्त है। मन की सरलता एवं विश्वास-प्रवणता अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिए इस समय सहज लभ्य वस्तु भी दुर्लभ हो गई है। किन्तु योग-दीक्षा सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक शिक्षा-क्रम पर आधारित है। जिस प्रकार दो और दो मिलकर चार होते हैं, उसी प्रकार यौगिक क्रियाओं की यथायथ अभ्यासलभ्य अनुभूति आनन्द लोक के द्वारों को क्रमशः खोल देती है। संसार में यदि मनुष्य का कोई आत्मधर्म नामक तत्त्व है तो वह यही योग धर्म है। जिसकी तात्त्विक व्याख्या योग दर्शन में उपलब्ध है और कालातीत सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेषों में इस सत्य का बहुत कुछ स्थूल प्रमाण भी प्राप्त है। वर्तमान काल तक संसार के सभी देशों एवं सभी सम्प्रदायों के लोगों की साधना पद्धति में योगतत्त्व की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भूमिका का दर्शन होता है।[१] भगवान भक्त के रूप में आविर्भूत होकर भक्त का संचालन करते हैं एवं जब उसके पक्ष में जिसकी प्रयोजनीयता होती है उसका ज्ञान, उपदेश इत्यादि प्रदान करते रहते हैं। ऐसे गुरु को ही सद्गुरु कहते हैं। इस सद्गुरु को एक बार प्राप्त कर लेने पर और फिर गुरु के अभावजन्य दुःख की प्रतीति नहीं होती।

जो सत्य को धारण करेंगे उनका हृदय या मन यदि विश्वास-हीनता और संशय से ग्रस्त है तो फिर ईश्वर की कृपा-शक्ति के प्रकट

१—अध्यापक डॉ० शिवनारायण शास्त्री ने Elements of Indian Aesthetics नामक ग्रंथ के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में इस विषय की ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि पर प्रकाश डाला है।

होने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। भावाभिमुख होने से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करना सहज है; किन्तु अपनी शक्ति-सामर्थ्य या धारणाशक्ति द्वारा उसे पकड़ना और उसके सहारे आत्मशक्ति का विकास करना अत्यन्त कठिन है।

ज्ञान के अर्थ में साधारण ज्ञान की प्रतीति होती है; किन्तु विज्ञान के अर्थ में पुस्तकों में लिपिवद्ध ज्ञान या विचार तर्क की प्रतीति नहीं होती। वह भाव और कल्पना भी नहीं। बल्कि वह प्रत्यक्ष दर्शन है या प्रत्यक्ष अनुभूति अर्थात् विशिष्ट अथवा विशेष ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं। उसे ही आत्मज्ञान कहते हैं। दृश् धातु ज्ञानार्थक है। अतएव दर्शन शब्द का वास्तविक अर्थ ही ज्ञान है। जो वस्तु या तत्त्व अनन्त रूपों में विश्व-ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है उसी असीम अपरिवर्त्तनीय वस्तु या तत्त्व का दर्शन या ज्ञान ही आत्मदर्शन अथवा ब्रह्म-दर्शन की संज्ञा है। वही परमात्मा है जिसका अनुभव किया जा सकता है। हमारे और तुम्हारे भीतर जीवात्मा और परमात्मा एकाकार है। इसीलिए शास्त्रकारों का कथन है—**"आत्मा ह वै गुरुरेकः"** (कुलार्णवतंत्र) इत्यादि। आत्मा ही गुरु की परिभाषा है।

अस्थायी या क्षणस्थायी भक्ति को भक्ति नहीं कहते। स्थायी भक्ति ही प्रयोजनीय है। जिस अवस्था या स्थिति में भक्त तथा भगवान एकाकार हो जाएँ वही स्थायी भक्ति की यथार्थ भूमि है। और जिस स्थिति या अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों एक हो जाते हैं वही विज्ञानावस्था है इसे ही यथार्थ भक्ति अथवा ज्ञान भी कहा जाता है। जब तक मन बहिर्मुख रहता है तब तक ज्ञान और भक्ति की अनुभूति नहीं हो पाती, वे आवृत रहते हैं। किन्तु मन के अन्तर्मुखी होने पर ईश्वर की कृपा से ब्रह्म-मार्ग पर चलने की समर्थता प्राप्त होती है। तब आवरण हट जाता है। आत्मवान हो जाने या आत्मबोध की स्थिति में धर्म के तात्त्विक स्वरूप का उद्घाटन होता है। **"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्, गुहायां निहितं ब्रह्म शाश्वतं।"**—(महाभारतः वन-पर्वः बकयक्ष संवाद) धर्म का वास्तविक तत्त्व या रहस्य गुहा के भीतर निहित है एवं गुहा के भीतर जो निहित है, वही शाश्वत ब्रह्म है। यह गुहा यदि किसी पर्वत की गुहा होती तो सभी पर्वत की गुहा या गुफा में जाकर धर्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते। किन्तु यह तो वह गुहा है जो मानव-शरीर में कूटस्थ के रूप में स्थित या विराजमान है। जिसे गगनगुहा भी कहते हैं। कूटस्थ के मध्य जो विन्दुवत गुहा है उसके भीतर यदि मन का प्रवेश हो जाये तो चिन्मय या चेतन अणु प्रत्यक्ष होता है अथवा एक चिन्मय-प्रत्यक्ष तत्त्व की अनुभूति होती है और तब धर्म

का प्रकृत या वास्तविक तत्त्व या गूढ़ रहस्य उद्भासित होता है। यह एकमात्र प्राणकर्म के द्वारा ही सम्भव है और सभी योगी इस कूटस्थ का दर्शन करते हैं। इसीलिए योगिराज ने २९ मार्च (साल नहीं) को लिखा है **"अन्तरभेद खुला याने भितर भितर स्वासा चलने का राह मिला मन ध्यान शब्द एही असल हय—इसिको योगिलोग गहर कहते हय।"** अर्थात् अन्तरतम प्रदेश में प्रवेश करने के लिए रास्ता खुल गया अर्थात् भीतर ही भीतर श्वास के चलने (सुषुम्ना के रास्ते) जैसी अवस्था प्राप्त की। इस अवस्था या स्थिति तक पहुँच कर मनन, ध्यान एवं ओंकार ध्वनि जो सुनाई देती है वही असल ह, सत्य है, उसी को योगिगण 'गुहा' कहते हैं—**"ऐसा सब बिन्दि चलता देखा बिच में सफेद योनि के ओहि बड़ा चांद छोटा जब तब रहे तो उस्का तारा कहते हय ओहि छिद्र हय।"** अर्थात् त्रिकोण योनि के भीतर सफेद बिन्दु चल रहा है, ऐसा देखा; वह जब बड़ा दिखाई देता है तब उसे ही चाँद कहते हैं और जब छोटा दिखाई देता है तब तारा कहते हैं वही छिद्र है, उसी छिद्र में प्रवेश करना होगा। यह तत्त्व विश्वास या दार्शनिक रहस्य नहीं है। जो सर्वदा योगारूढ़ है वे प्रतिदिन ही योनिमुद्रा या विशेष यौगिक क्रियानुष्ठान के समय इस कूटस्थ का दर्शन करते हैं या उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रसंग में ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है—**"बालाग्रसाहस्रं अर्द्ध तस्य भागस्य भागसः। तस्य भागार्द्धं तदज्ञेयंच निरंजनम॥"** अर्थात् कूटस्थ के मध्य में जो बिन्दु-स्वरूप अणु है उसका परिमाण एक बाल या केश के अगले हिस्से के हजारवें हिस्से के एक हिस्से का आधा भाग या हिस्सा है। उसका आधा भाग अर्थात् केशाग्र के चार हजार भाग का एक भाग। वह ब्रह्माणु या ब्रह्म का अणु इतना सूक्ष्म है कि उसे बुद्धि द्वारा समझने का कोई उपाय नहीं है। उसके लिए अव्यक्त पद प्राप्त किये बिना अथवा जीव का शिव हुए बिना स्वयं बोध नहीं होता। गीता में कहा गया है—**"सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं"** (गीता : १३।१५) सूक्ष्मता अथवा रूप आदि से रहित होने के कारण वह अविज्ञेय है। वह चिन्मय ब्रह्म जीवों के शरीरों में कूटस्थ से नीचे चंचल प्राण के रूप में स्थित है और भ्रू या भौंहों के ऊपर आदित्य हृदय में प्राण के रूप में स्थिर है। स्थावर जंगम अथवा चर अचर सब वही है। वह जबकि ब्रह्माणु के रूप में अत्यन्त सूक्ष्म भाव से अवस्थित है तब वह अविज्ञेय है और फिर विशेष रूप से उसे जानना संभव नहीं—इसीलिए उस चिन्मय ब्रह्म या ईश-तत्त्व को **'ज्ञानातीतं निरंजनम्'** कहा गया है। जो उस सर्वव्यापी ईश्वर-तत्त्व को अज्ञान-वश नहीं जानते, उनके लिए वह कहीं दूर स्थित है; किन्तु आतमतत्त्व परायण ज्ञानियों के लिए वह नित्यसन्निहित है;

उनके भीतर स्थित है। वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है और साधन के द्वारा वही ज्ञानगम्य या बोधगम्य है। इस सन्दर्भ में योगिराज ने लिखा है—"उजियाले में सूक्ष्मवस्तु का दर्शन होता है, अन्धियाले में नहि—जयसे सूर्य के जोत में कोइ घर के भीतर छेद होके आय तो जो धूल सब उड़ता हय एक एक करके सब देखाता है, लेकिन छाए में कुछ नहि – ब्रह्म सूक्ष्मानुसूक्ष्म हय इसलिए प्रथम ज्योत में देखलाता है– फिर जब अन्धकार के आँख होता हय तब अन्धकार सब चीज देखने में आता है—याने विज्ञान पद।" जो कोई भी चाहे जिस मार्ग का आश्रय ले; किन्तु धर्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे इस गृहमेधी ऋषि द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करना ही होगा।[१]

जो मननशील है, वही मुनि है। मन के द्वारा जिसकी रचना की जाती है वही मन है। प्राण-कर्म या प्राणायाम करते-करते एक ऐसी मत्तता या नशे का उदय होता है जब बात तक करने की इच्छा नहीं होती; ऐसी स्थिति को ही वास्तविक मौन अवस्था कहा गया है। बात करने की इच्छा है; किन्तु बात नहीं करूँगा; कभी-कभार ही बोलूँगा। इस प्रकार का मौन वास्तविक मौन नहीं है। इच्छाओं का नाश हो जाने पर मौन की स्थिति स्वयं आ जाती है; किन्तु इच्छा के रहते, मौन का पालन नहीं हो पाता। जब तक चंचल मन के आधार पर सत्य या आत्मा के दर्शन प्राप्त करने की चेष्टा की जायेगी, तब तक अखण्ड सत्य के दर्शन की प्राप्ति सम्भव नहीं। उस आत्म सत्य की धारणा के लिए मन का निरोध करना होगा। तभी निरुद्ध या नियंत्रण की स्थिति में आत्मा का स्वयंप्रभ आलोक उद्भासित होता है। विकल्प शक्ति के द्वारा मन उस आलोक को विभाजित करके पृथक भावरूप में परिणत करता है। यह मन का स्वभाव है। इसलिए विकल्प शून्य परम सत्य या आत्म सत्य की प्राप्ति के लिए मन के ऊर्ध्व जाना होगा अर्थात् प्रभासमानस की भूमि पर ही

१—इसकी चर्चा पहले ही की गई है कि योगशास्त्र का वैज्ञानिक आधार है। भारतीय परिमाण विज्ञान में परिमाण की अन्तिम और सबसे छोटी इकाई अणु है। दो अणुओं का एक द्वयणुक; तीन द्वयणुक का एक त्रसरेणु; आठ त्रसरेणु का एक केशाग्र-भाग अथवा रथ के चक्के से फेंका हुआ धूलि-कण। मन अणु परिमाण है जिसकी माप केश के अग्रभाग की अपेक्षा ८४ गुना सूक्ष्म है। कूटस्थ का मध्य बिन्दु केशाग्र भाग की अपेक्षा ४००० गुना सूक्ष्म है। इसीलिए वहाँ मन की भी गति नहीं। एकमात्र सर्वत्रगामी आत्मा का ही वहाँ प्रवेश है।

परम सत्य के दर्शन होते हैं। इस स्थिति या अवस्था में मतामत का कोई प्रश्न ही नहीं उभरता। क्योंकि मन जहाँ नहीं है वहाँ मत कहाँ? मन एवं प्राण इन दोनों की सत्ता को समान रूप से आत्मध्यान में गतिशील और स्थितिशील किया जा सके तो यथार्थ भक्ति एवं भगवत् प्राप्ति सम्भव है। किन्तु यह दीर्घ या लम्बी साधना के बिना सम्भव नहीं। भगवत् प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए सर्वप्रथम स्वभाव-प्रकृति या आत्मभाव के अनुकूल कार्य करना होगा। तभी ज्ञान की प्राप्ति होगी। ज्ञान प्राप्ति के बाद उसके द्वारा ही भक्ति का उदय अपने आप होगा। इसीलिए योगिराज कहा करते थे—**"गुड़ेर मयला टानते-टानते सादा हय तेमनि प्रणायाम करते-करते निर्मल हय।"** अर्थात् जैसे कि गुड़ से मैल बार-बार निकाल लेने पर ही गुड़ सफेद हो जाता है वैसे ही बार-बार प्राणायाम करने से ही मन निर्मल तथा शुद्ध सत्त्वात्मक होता है। वे भक्तों को उपदेश देते हुए यह भी कहा करते थे—**"उल्टो दिके आयना दिये देखले सोजा देखाय, तद्रूप देहस्थ वायु के उल्टाइलेओ स्वरूप देखाय।"** शुद्ध भक्ति ही वास्तविक भक्ति है। यह शुद्ध भक्ति अज्ञान दूर होने के बाद ही प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए वे कहा करते—**ओठ, कंठ, दाँत,** प्रकृति में **वायु का जोर** प्राणायाम में पड़ने से ज्ञान **का स्वानुभव (स्वानुभूति) होने का नाम भक्ति है।"** किन्तु अज्ञान किस उपाय से दूर होगा? इस सम्बन्ध में योगिराज का कथन है कि **"उत्तम प्राणकर्म या प्राणायाम करते रहने से स्वयं ही अज्ञान का पाश कट जायेगा।"** यही स्वधर्म है; इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" गीता : ३।३५

अर्थात् सुन्दर रूप से अनुष्ठित—पर धर्म की अपेक्षा या इन्द्रिय धर्म की अपेक्षा दोषपूर्ण स्वधर्म अर्थात् आत्मधर्म श्रेष्ठ है। नव अभ्यासी के पक्ष में दोषपूर्ण होगा ही। यह अभ्यास सापेक्ष है। यह आत्मधर्म रूप स्वधर्म का पालन करते-करते अर्थात् प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते यदि निधन भी या देहान्त भी हो तो श्रेयस्कर है; किन्तु परधर्म रूप इन्द्रिय-धर्म सदैव आशंकाजनक अथवा भयावह है क्योंकि प्राण की चंचलगति भगवत् प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती है। इसी कारण जन्म मृत्यु अनिवार्य है।

योगिराज कहा करते थे कि प्रत्यक्ष दर्शन के बिना प्रेमभक्ति एव प्यार का जन्म नहीं होता। जैसे पुत्रहीन के लिए पुत्र-प्रेम सम्भव नहीं किन्तु पुत्र-जन्म के साथ ही उस पुत्र के प्रति क्या पूरा प्रेम-प्यार जाग

उठता है ? नहीं; तत्काल ऐसा नहीं होता; किन्तु पुत्र को प्रतिदिन जितना ही देखेगा लालन-पालन करेगा उतना ही धीरे-धीरे पुत्र के प्रति आकर्षण अनजाने ही बढ़ता जाएगा। जिसने ईश्वर को कभी देखा नहीं उसमें अनुमान से उसके प्रति सच्ची प्रेम-भक्ति कैसे सम्भव है ? सम्भवतः पूर्व जन्म में अर्जित संस्कारों के कारण लाखों व्यक्तियों में किसी एक के भीतर वैसे प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है। प्रतिदिन प्राणकर्म रूप या प्राणायाम सम्बन्धी कौशलपूर्ण योग-कर्म या अभ्यास करते रहने से कुछ न कुछ आत्मज्योति के दर्शन अवश्य ही होते रहते हैं। प्रतिदिन जितनी ही आत्मज्योति का दर्शन प्राप्त होता रहेगा, उतनी ही तुम्हारे भीतर अज्ञात रूप से प्रेम-भक्ति की अभिव्यक्ति होगी। तब केवल उस अपरूप चिर निर्मल आत्मज्योति के दर्शन की इच्छा जाग्रत होगी जिसका दर्शन इस दृश्यमान जगत में सम्भव नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन में जितनी ही वृद्धि होती रहेगी उतनी ही उसके प्रति प्रेम-भक्ति भी विकसित होती रहेगी। अन्त में जब निर्निमेष दृष्टि से आत्म-ज्योति के दर्शन में तन्मय हो जाने पर प्रेम-भक्ति की रसानुभूति में उन्मत्त हो जाओगे। तभी अज्ञान-पाश के कट जाने पर शुद्ध भक्ति जन्मेगी। अतएव ईश्वर सत्ता के दर्शन के बिना ईश्वर के प्रति सच्ची प्रेम भक्ति सम्भव नहीं। वह सम्पूर्णतः प्राणकर्म या प्राणायाम सापेक्ष है।

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। इस शक्ति को जब तक प्राणायाम या प्राण-कर्म द्वारा जगाया नहीं जा सकता तब तक साधन-भजन बाह्य आडम्बर है। साधना का उद्देश्य यह नहीं है कि स्वर्ग-लोक में मृत्यु के पश्चात् वहाँ के आनन्द और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। वैसे भोग की प्राप्ति तो बिना साधना के भी हो सकती है। वह तो किए गए सुकर्म का फल भोग मात्र है; सच्ची साधना का फल नहीं। साधना के द्वारा जीव की प्रगाढ़ मोह-निद्रा जब टूट जाती है तब उसे शिवत्व अथवा स्थिरत्व प्राप्त होता है अर्थात् वह पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है। इसलिए योगी को कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करना ही होगा। जीव का आत्मा शिवस्वरूप है, मंगलमय है जो मोह और अज्ञान से ढंका हुआ है। यह शिवरूपी आत्मा, व्योमतत्त्व अर्थात् विशुद्धचक्र में शव के रूप में सुप्त है। इस सुप्तावस्था को जगाना होगा। प्राण-कर्म या प्राणायाम द्वारा कंठ में वायु के स्थिर होने से ही सुप्तावस्था चली जाती है। और कंठ में वायु स्थिर होने से ही नीलकंठ की संज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् वायु की स्थिरता ही कंठ में नीलकंठता की परिभाषा है। शरीरस्थ पांच चक्र पांच तत्त्व

के केन्द्र हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज), वायु (मरुत) एवं व्योम (आकाश) प्रत्येक केन्द्र में अवस्थित हैं। शक्ति सभी चक्रों में समान-मात्रा में स्थित है। किन्तु मूलाधार चक्र में शक्ति के जाग्रत होने पर वह वायवीय शक्ति सुषुम्ना के भीतर से ऊपर की ओर उठती रहती है और क्रमशः सभी चक्रों में स्थित शक्ति को जाग्रत करते हुए पूर्ण रूप से जाग्रत होकर पाँचों चक्रों को मुक्त कर देती है। और तब इस स्थिति में अज्ञान का आभास तक नहीं मिलता। तब आत्मा का अज्ञान निद्रारूपी आवरण के छिन्न होने पर दूर हो जाता है और अन्त में शिव-शक्ति का मिलन होता है। आज्ञा-चक्र में यही शिव-शक्ति अथवा प्रकृति-पुरुष का महामिलन है अर्थात् स्थिरता के साथ चंचलता की चिर समाधि है।

सप्तम परिच्छेद

महागुरु

प्रतिदिन प्रातः काल योगिराज राणामहल घाट पर स्नान करने जाते और साथ में रहते थे उनके अनुगत भक्त कृष्णाराम। उस दिन भी योगिराज स्नान के बाद कृष्णाराम के साथ गली से लौट रहे थे। अकस्मात् उन्होंने कहा—"कृष्णाराम कपड़ा फाड़ो"।

कृष्णाराम ठीक समझ नहीं पाये कि उनके गुरु महाराज ने क्या कहा!

कुछ दूर आगे पाँव रखते ही निकट के मकान की छत से ईंट का एक टुकड़ा योगिराज के पैर पर आ गिरा। एक उँगली कट गई और खून बहने लगा। उन्होंने तुरन्त अपने कपड़े से थोड़ा-सा फाड़कर उँगली में बाँध दिया। कपड़ा बाँधने में कृष्णाराम ने सहायता की। उसके बाद कृष्णाराम ने हाथ जोड़ कर पूछा—"महाराज यदि आपको पहले से ही मालूम था कि ईंट पैर पर गिरेगी तो फिर हट क्यों नहीं गए? नहीं तो यह चोट लगती ही नहीं।"

योगिराज ने मुस्कराते हुये कहा—"ऐसा नहीं होता कृष्णाराम यदि दूर हट जाता तो वह भोग किसी समय सूद सहित चुकाना पड़ता। जो प्राप्य है, उसे तो लेना ही होगा बल्कि जितनी जल्दी यह ऋण चुक जाये उतना ही अच्छा है।"

कृष्णाराम के दो पुत्र और एक कन्या रात खा-पीकर सो गये। उनकी पत्नी ने विनयपूर्वक उनसे कहा—"छोटे लड़के के जनेऊ या यज्ञोपवीत का समय पार कर गया उसके जनेऊ की कोई व्यवस्था आपने नहीं की। जितनी जल्दी हो सके उपनयन-संस्कार की व्यवस्था करो।"

कृष्णाराम ग़रीब ब्राह्मण थे; किसी प्रकार गृहस्थी का निर्वाह हो जाता था। लड़के के उपनयन संस्कार के लिए पैसा कहाँ। वे गुरु महाराज के अनन्य भक्त और सेवक थे। कृष्णाराम को इन सब बातों की कोई चिन्ता नहीं। पत्नी को सान्त्वना देते हुए कहा—"गुरु महाराज की जब कृपा होगी उपनयन की ठीक व्यवस्था हो जायेगी। मेरे पास तो

पैसे नहीं हैं, अकारण चिन्ता करके क्या करूँगा। जिसकी चिन्ता है वे स्वयं ही करेंगे।"

कृष्णाराम दूसरे दिन सुबह उठकर गुरु महाराज को साथ में लेने गंगा स्नान के लिए प्रतिदिन की तरह योगिराज के घर गये। योगिराज आसन पर बैठे थे। कृष्णाराम के प्रणाम करते ही योगिराज ने अपने आसन के नीचे से तीस रुपया निकाल कर दिया और कहा—"इस रुपये के द्वारा शास्त्रानुसार अपने लड़के का उपनयन संस्कार करो। आडम्बर अथवा दिखावे का कोई प्रयोजन नहीं।" कृष्णाराम ने लज्जित होते हुए कहा—"गुरु महाराज, आप मुझ पर हमेशा कृपा करते हैं। मैं तो ठीक से आपकी सेवा भी नहीं कर पाता। मुझे आप रुपया क्यों देंगे ?

योगिराज ने कहा—"देखो कृष्णाराम देनेवाला मालिक तो एक ही है वे तो किसी-न-किसी के हाथ से ही देते हैं। अभी वे मेरे हाथ से ही दे रहे हैं तो फिर तुम लोगे क्यों नहीं ?"

कृष्णाराम ने सम्मान पूर्वक उस रुपये को ले लिया।

पाँचकौड़ी वन्द्योपाध्याय योगिराज के एक प्रिय भक्त थे जिनकी साधना अत्यन्त उन्नत थी; किन्तु गृहस्थी के पंकिल या गँदले परिवेश में रह कर भगवत्-साधना करना अत्यन्त कठिन देखकर उनके मन में वैराग्य का उदय हुआ। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि घर-बार छोड़ कर चले जाएँगे। किन्तु इसके पहले गुरुदेव की अनुमति चाहिये। वन्द्योपाध्याय जी ने एक दिन गुरुदेव के पास आकर संन्यास लेने की अनुमति प्राप्त करने के लिए निवेदन किया।

योगिराज ने उनकी सारी बात सुनकर गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारे जनेऊ का भार अधिक है या जटा का भार अधिक है ? तुम क्या साधु की हैसियत से स्वयं का प्रचार करना चाहते हो ताकि लोग तुम्हें मानें-जानें और कुछ अर्थोपार्जन हो ? देखो, गेरुआ वस्त्र पहनने से लोग यदि साधु हो सकते तो गधे-घोड़े सभी साधु हो जाते। उनका भी रंग तो गेरुआ है तो फिर उन्हें साधु क्यों नहीं कहोगे ? यह सब पागल-पन छोड़ो, गृहस्थी में रहो स्वयं जो उपार्जन कर सकते हो उसी जीविका पर जीवन का निर्वाह करो और ईश्वर की साधना करो। दूसरों से दान लेकर जीवन-यात्रा का निर्वाह नहीं करोगे।"

अन्त में सर झुकाए पाँचकौड़ी वन्द्योपाध्याय चले गये। यही आगे चलकर केशवानन्द ब्रह्मचारी के नाम से विख्यात हुए थे।

योगिराज कहा करते थे कि भारतवर्ष में अध्यात्म-जगत के कंकाल स्वरूप मठ, मिशन एवं आश्रम का अभाव नहीं है। मठ-मिशन करने से ईश्वर की साधना नहीं होती। ये सब ईश्वर की साधना में

बाधा उपस्थित करते हैं। किस प्रकार मठ और मिशन का प्रचार-प्रसार हो, इसी ओर ध्यान लगा रहता है। इसीलिए वे एकान्त एवं गोपन साधना पर अधिक बल देते थे। उनका कहना था कि गेरुआ पहनने पर लोग साधु के रूप में पहचान सकते हैं; किन्तु साधना में व्याघात या बाधा पड़ती है। सफ़ेद कपड़े में लोग पहचान नहीं सकते और साधना भी भली भाँति हो सकती है। संन्यासी-जीवन अत्यन्त कठिन है, इसी कारण उन्होंने किसी भक्त को संन्यासी होने की अनुमति नहीं प्रदान की। हालाँकि पहले से ही संन्यास में दीक्षित उनके अनेक भक्त थे। वे गृहस्थ को घर-संसार में ही रहने को कहा करते थे और संन्यासी को संन्यास-आश्रम में रहने का उपदेश देते। उनका उपदेश था कि जो जिस आश्रम में है वह उसी आश्रम में रहकर आत्मसाधना करे। परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी स्थिति में ही कल्याण होगा। वे पोशाक परिवर्तन का निषेध करते। वे कहते थे कि रंगीन पोशाक पहनकर साधु होने से ही ईश्वर की प्राप्ति होगी—ऐसी बात नहीं है। जो जिस पोशाक में है और जो जिस परिवेश में है वही तुम्हारे अनुकूल है। उसी प्रकार रहकर ही आत्मसाधना करते रहो तभी जीवन सफल होगा।

एक बार योगिराज के शिष्य केदारनाथ दे की पत्नी को हैजा हो गया। वे मरणासन्न हो गईं। कई छोटे बच्चे-बच्चियों की देख-रेख का भार; अगर पत्नी को कुछ हो गया तो बड़ी मुश्किल होगी। यह सोचकर केदारनाथ गुरु के पास भाग कर आए और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए कहा—"महाराज, मेरी पत्नी की रक्षा कीजिए नहीं तो छोटे-छोटे बच्चों को लेकर बड़ी आफ़त में फँस जाऊँगा।" केदारनाथ रो पड़े।

योगिराज ने सामाजिक रीति के अनुसार कहा—"किसी अच्छे डाक्टर को दिखाओ।"

केदारनाथ ने रुआँसे स्वर में प्रार्थना करते हुए कहा—"डाक्टर बुलान से कोई लाभ नहीं, आप कृपा करें नहीं तो वह बचेगी नहीं। मैं आपकी शरण में हूँ जो करना है आप ही करें।"

महायोगी के हृदय में करुणा का संचार हुआ। उन्होंने कहा—"मैं जो कहूँगा वह तुम कर सकोगे।" केदारनाथ के मन में आशा की किरण झिलमिलाई। उन्होंने कहा—"आप जो आदेश देंगे, वही करूँगा।"

योगिराज ने कहा—"जाओ एक शीशी गुलाब जल ले आओ।"

केदारनाथ तुरन्त एक दूकान से गुलाब जल ले आए।

योगिराज ने कहा—"बाथरूम में जाओ एवं अपना दस्त जरा-सा उस गुलाब जल में मिलाकर शीघ्र जाओ और रोगी को पिला दो।

केदारनाथ ने वैसा ही किया और रोगी को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

योगिराज हमेशा लौकिक रीति या लोक-व्यवहार के अनुसार चिकित्सकों के कार्य में व्याघात न उत्पन्न कर उनका परामर्श लेने को कहा करते थे। उनके द्वारा दी गई औषधियों का विशेष गुरुत्व नहीं था वह तो एक उपलक्ष्य मात्र था।

इस देव दुर्लभ महायोगी ने हमेशा भक्तों के मंगल के लिए स्वयं को समर्पित कर रक्खा था। वे सदैव भक्तों को उपदेश देते और ऐसी शिक्षा प्रदान करते जिससे उनकी साधना सफल हो सके।

योगिराज कहा करते थे कि सभी लोगों के शरीर में छः चक्र हैं जिसे तंत्र योग की भाषा में षटचक्र कहते हैं। इन षटचक्रों ने ही सब को वाँध रक्खा है। यदि तुम लोग प्राण-कर्म या प्राणायाम के द्वारा अवलम्बनरहित या आधार शून्य हो सको अर्थात् शून्य का ही आश्रय लो तो फिर वे कुछ नहीं कर सकेंगे। तब यह समझोगे कि षटचक्र का भेदन हो गया। शून्य अर्थात् कुछ नहीं, इसी कुछ ही नहीं या शून्य की अवस्था में स्थित होने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती। श्वास-प्रश्वास के संग को ही सत्संग कहते हैं। क्योंकि जब तक श्वास है तब तक ही जीव की सत्ता (सत्+ता) है। अतएव श्वास ही सत् है। इस श्वास-प्रवास के साथ संग या मैत्री कर लेने से शून्य में स्थिति होती है। तब कर्तृत्व, चिन्ता, पाप, पुण्य, इच्छा सभी चले जाते हैं और फिर स्वभाव अथवा आत्मभाव की प्राप्ति होती है। कुण्डलिनी आधार-शक्ति है जो सुप्त है। यह स्थूल का अवलम्बन करके आधार को जकड़े हुए है। इसे आधारच्युत करना होगा। ऐसा होने पर ही यह शिव के अर्थात् शून्य के आश्रय में निराश्रय अथवा निरालम्ब होगी—"**निराश्रयं मां जगदीश रक्ष।**" जीव पहले स्थूल तत्व को ही आश्रय समझता है। किन्तु शून्य तत्त्व जहाँ कोई अवलम्ब या आधार नहीं है वही जीव का वास्तविक या प्रकृत आश्रय है कंठ के ऊपर आज्ञाचक्र में स्थिति या आश्रय प्राप्त करने पर ही जीव की स्थायी रक्षा होती है। आज्ञाचक्र से दोनों ओर जा सकते हैं—ऊपर अव्यक्त की ओर और नीचे व्यक्त की ओर।

उनकी शिक्षा-पद्धति स्वतंत्र थी। वे हमेशा ही अध्यात्मिक बातों की सूक्ष्म वैज्ञानिक व्याख्या किया करते। इसलिए वह साधकों के हृदय को छू जाती। वे कहा करते थे कि जिससे श्वास-प्रश्वास की गति स्थिर होती है वही धर्म है और जिससे स्थिर न हो पाये वही अधर्म है। कर्म कभी वन्धन का कारण नहीं है कर्म फल की प्रत्याशा ही बन्धन का

कारण है। भले-बुरे का कोई कर्म में भेद नहीं। मोह-पाश में बँधे रहने के कारण ही कर्म के बुरे परिणाम प्राप्त होते हैं। जिस कर्म से कूटस्थ में स्थिति प्राप्त होती है, वही शुभ कर्म है जिससे स्थिति नहीं होती वह अशुभ कर्म है। साधारण व्यक्ति या लोग आत्म कर्म नहीं करते इसीलिए उनकी इन्द्रियों की शक्तियाँ अमार्जित या अ-स्वच्छ रह जाती हैं। केवल पाप-पुण्य के फल-भोग के लिए मानव-शरीर नहीं धारण किया जाता बल्कि पाप-पुण्य से परे शुद्ध निष्काम आत्म कर्म के लिए ही यह मानव-शरीर है। जब तक आत्म कर्म पूरा नही होगा तब तक मानव-देह धारण करना ही होगा। उसके प्रयोजन की समाप्ति नहीं होगी। आत्म कर्म सभी को करना पड़ेगा चाहे इस जन्म में करो अथवा परजन्म में ही करो। मानव-देह से अलग आत्म कर्म करने का कोई उपाय नहीं है देह को ही क्षेत्र कहा गया है। "**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यंभिधीयते।**" (गीता : १३।२) हे ! कौन्तेय ज्ञान की प्ररोह भूमि के रूप में इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं; क्योंकि धर्म एवं कर्म सब कुछ देह के द्वारा ही सम्पन्न होता रहता है। जो कुछ भी इस बाह्य जगत में है सभी इस देह में है इसीलिए देह को क्षुद्र ब्रह्माण्ड कहते हैं। मन एवं प्राण द्वारा इस देह का कर्षण करने पर अमृतफल की प्राप्ति होती है। इसी प्रसंग में महात्मा रामप्रसाद ने कहा है—"एमन मानव जमीन रइल पतित आबाद करले फलतो सोना। अर्थात् ऐसी मानव जीवन रूपी भूमि बेकार पड़ी रही, यदि उसका कर्षण किया जाता या आबाद की जाती तो सोने की फ़सल उगती।" इस देह में ही पूर्णता प्राप्त होने पर जीव शिव में परिणत होता है। इसे पूर्ण करने के लिए जो कर्म किया जाता है वही वास्तविक कर्म है जिसे कर्मयोग कहते हैं। योगी के आत्म कर्म में प्रवृत्त होने पर उस कर्म के प्रभाव से उसके संघात क्रमशः दूर हो जाते हैं। आत्म कर्म में कभी भी गतिरोध नहीं होता और आत्म कर्म के द्वारा एक बार देहातीत अवस्था प्राप्त होने पर जन्म और मृत्यु भी काल से परे या कालातीत हो जाते हैं। यह देह ही धनुष है और श्वासं तीर है। इस तीर धनुष को जो चलाता है वही आत्माराम है। वही राम अविनाशी है वह दस इन्द्रियों के विशिष्ट देहरूपी रंध्र के भीतर अवस्थित है इसीलिये उसे दाशरथि कहते हैं।—इसीलिए योगीराज ने लिखा है—**जिह्वा तालु के भितर गड़ाय दिया—ओंकार ध्वनि जो सुनाता हय सोइ मूलमन्त्र रामनाम हय। अर्थात् जिह्वा अथवा जीभ को तालु के गह्वर में प्रवेश करा दिया इस स्थिति में आत्म कर्म करते-करते अब जो ओंकार ध्वनि सुन रहा हूं वही मूलमंत्र रामनाम है।** फिर लिखा है—"**अब बालम खिरा मिला जिभ तालु मूल में लगने से ठाण्डा मालुम होता हय।**" खेचरी मुद्रा

सिद्ध होने पर ब्रह्म दर्शन का द्वार खुल जाता है बालम खीरा यानी मुलायम, कोमल खीरा। कोमल, नरम खीरे के भीतर जिस प्रकार खाली जगह रहती है तालुकुहर में भी ठीक वैसा ही है। इसीलिए योगिराज का आशय है कि खेचरी का सही रास्ता मिल गया और इस प्रकार खेचरी मुद्रा की सिद्धि हो जाने पर तालुकुहर में ठण्ड का अनुभव होता है।

योगी के लिए कर्म ही प्रधान है जिसके सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है—

"ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम्—गीता : ३।३

अर्थात् ज्ञानयोग के माध्यम से सांख्य मतावलम्बियों को एवं कर्मयोग द्वारा योगियों को सिद्धि प्राप्त होती है।

'सांख्य' अर्थात् जिसके द्वारा "मैं कौन हूँ" इसकी जानकारी प्राप्त हो, वही सांख्य है। 'मैं' शब्द मैं नहीं, यह देह भी 'मैं' नहीं, बल्कि इस देह के भीतर जो चित् या चेतना स्वरूप वर्तमान है वही मैं का वास्तविक पदवाच्य अथवा परिचय है। जो दैहिक अस्तित्व के सहारे अथवा देह के माध्यम से अजपारूप या श्वास-प्रश्वास रूप कर्म की विद्यमानता में है। इस कर्म के द्वारा कर्मातीत अवस्था की प्राप्ति होने पर 'मैं कौन हूँ' इसका ज्ञान होता है; यही संख्या है। उक्त कर्मातीत अवस्था में अजपारूप सांख्य की अर्थात् सांख्य की स्थिति हो जाती है। संख्या अथवा सांख्य का काल से आरम्भ हुआ है। उसकी अवधि या परिमिति नहीं है काल अनन्त है, उसकी कोई संख्या नहीं है। किन्तु वही काल घट या देह में स्थित होकर अजपा रूप में, संख्या में परिणत हो रहा है और यह संख्या देह के भीतर दिन-रात (चौबीस घन्टे) में २१६०० बार घटती है। यही अजपारूप या श्वास-प्रश्वास की संख्या की अवस्था ही जीव की वर्तमानता की स्थिति है किन्तु इस संख्या के प्रति जीव का लक्ष्य नहीं है। जीव केवल इसकी अवस्था से मुग्ध होकर माया से जुड़ा रहता है। उस अजपारूप सांख्य के प्रति लक्ष्य होने पर इससे परे की अवस्था प्राप्त करने पर प्रकृत 'मैं' का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए इसका नाम सांख्य-दर्शन है। उक्त सांख्य यानी संख्या लभ्य ज्ञान को लक्ष्य करके अर्थात् श्वास की गति को लक्ष्य करके प्राण की गति-संख्या करते-करते उस गति से परे की अवस्था में ज्ञानावस्था की प्राप्ति होने पर सांख्यों अथवा संख्याकारी ज्ञान योगियों के मन की स्थिति होती है। यही ज्ञान योग द्वारा सांख्यों की स्थिति है। कर्म योग के द्वारा योगियों की स्थिति—कर्म अर्थात् प्राण-कर्म—प्राण की ऊर्ध्व एवं अधः गति का क्रिया रूप आत्मकर्म है। जो

योगी हैं उनका यह आत्मकर्म क्रियान्वित होने पर या आत्मकर्म करते-करते कर्म की मिलन रूपी इड़ा और पिंगला की गति एक होकर सुषुम्ना-मार्ग या नाड़ी में लय हो जाने पर कर्मातीत अवस्था में मन की स्थिति हो जाती है। यही कर्मयोग द्वारा योगियों की स्थिति है। "ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों या सांख्यवेत्ताओं एवं कर्मयोग द्वारा योगियों की स्थिति" यह बाहर से सुनने पर लगता है कि भगवान ने दो प्रकार के कार्यों द्वारा स्थिति की बात कही है। वस्तुत: ऐसा नहीं है। वह एक ही कर्म एवं उभय अवस्था एक ही अवस्था है। इस सन्दर्भ में भगवान श्री कृष्ण ने स्पष्ट कहा है—

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"

—गीता : ३।४

लोग कर्म का अनुष्ठान न करके नैष्कर्म्य की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् आत्मकर्म अथवा प्राणकर्म के बिना कर्मातीत अवस्था या नैष्कर्म्य की अवस्था प्राप्त नहीं होती।

● ● ●

मूर्त्तिपूजा अथवा स्थूल पूजा में विश्वास न करनेवाले इंजीनियर भूतनाथ सेन आसाम में कार्य-रत थे। वहीं उन्होंने गृहयोगी का नाम सुना था। भारतीय योगशास्त्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का उनमें प्रबल आग्रह था। इस सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का अध्ययन भी किया; किन्तु अन्त में उनकी समझ में आया कि ग्रन्थ पढ़कर वास्तविक धर्मतत्त्व एवं योगशास्त्र का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उस अंचल के अनेक साधु-संन्यासियों के पास गये किन्तु तनिक भी नहीं सन्तोष प्राप्त हो सका। भूतनाथ कुछ और ही जानना और पाना चाहते थे। इसी सिलसिले में वे एक समय काशी आए और योगिराज के पास गये। भूतनाथ ने ज्यों ही योगिराज को प्रणाम किया त्यों ही योगिराज ने पूछा—"काशी आये हो, गंगा-स्नान और विश्वनाथ का दर्शन किया क्या?" निराकारवादी भूतनाथ ने कहा—"मैं शिलामय या पत्थर के जड़ विश्वनाथ का दर्शन करने नहीं आया, मैं तो चिन्मय विश्वनाथ का दर्शन करने आया हूँ।

योगिराज ने कहा—"इस विषय में तुम्हारा सटीक या सही ज्ञान नहीं है। पहले तुम गंगा-स्नान और विश्वनाथ का दर्शन करो,

उसके बाद यहाँ आओ।" भूतनाथ को गंगा-स्नान के बाद विश्वनाथ के मन्दिर में पूजा करते समय विश्वनाथ की मूर्त्ति के स्थान पर योगिराज की ही मूर्त्ति देखने को मिली। उनका भ्रम टूट गया।

इस प्रकार वे प्रचलित नियमों को मानकर चलने का सभी को उपदेश देते। वे कहा करते थे कि आत्मकर्म द्वारा स्थिति प्राप्ति न होने तक प्रचलित नियमों को मानकर चलना अच्छा है।

दूसरे दिन भूतनाथ पुनः योगिराज के पास आये। योगिराज धीरे-धीरे मुस्करा रहे हैं। भूतनाथ प्रणाम करके बैठ गये। योगिराज ने कई तत्त्व की बातें भूतनाथ को सुनाईं। कहानी के बहाने कुछ उपदेश प्रदान किया।

इतनी देर तक भूतनाथ चुपचाप सुन रहे थे। योगिराज जब रुके तब भूतनाथ ने हाथ जोड़कर कहा—"मुझे जो कुछ जानना था वह एक काग़ज पर लिखकर पाकेट में रख लिया था; क्योंकि बाद में भूल जाता हूँ। इच्छा थी कि एक-एक करके सब के प्रति जानकारी प्राप्त कर लूँगा; किन्तु इतनी देर तक आपने मेरे उन सब प्रश्नों का ही उत्तर दिया है। मुझे अब कुछ जानना नहीं है। सारा उत्तर मिल गया है।"

भूतनाथ मुग्ध हो गये और योगिराज से दीक्षा प्राप्त की।

योगिराज दीक्षा प्रदान करने के समय भक्तों से मात्र पाँच रुपया और विधवाओं से दस रुपया प्रायश्चित् स्वरूप ग्रहण करते थे। उन्होंने समस्त जीवन उस नियम को माना है एवं अपने उत्तरसाधकों को भी वही नियम पालन करने का आदेश दिया है। ऐसा भी देखा गया है कि कोई गरीब भक्त दीक्षा लेना चाहता है; किन्तु पाँच रुपये का प्रबन्ध नहीं कर पाता है; ऐसी स्थिति में वे स्वयं उसे पाँच रुपया अग्रिम दे दिया करते थे। यह देखकर उनके एक धनी भक्त जो काशी से दूर रहते थे उन्होंने काशी के एक भक्त के पास एक सौ रुपया रख छोड़ा था ताकि ज़रूरत पड़ने पर गरीब भक्त की सहायता की जा सके। योगिराज उस दीक्षा की राशि को अलग रखते थे। उनके गुरु बाबा जी महाराज अपने दल के किसी भक्त संन्यासी को कभी-कभी योगिराज के निकट भेजकर वह रुपया मँगा लिया करते थे। वह रुपया उनके संन्यासी-दल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यय किया जाता था। दीक्षा लेने के पहले प्रायश्चित् करने का शास्त्रीय विधान है, उसमें अनेक झमेले भी हैं। इस कारण योगिराज ने निश्चय किया था कि शिष्यों के प्रायश्चित् रूप प्राप्त उक्त अर्थ को अपने गुरुदेव एवं उनके साधु भक्तों की सेवा में व्यय करने से वही फल होगा।

योगिराज ने अपने एक भक्त को लिखा है—"मैं और कुछ में भी नहीं हूँ उसके लिए विरक्त भी नहीं। श्रीयुक्त रामदास मैत्र मेरे मित्र हैं उन्हें मेरा यह पत्र दिखाकर उनके प्रति भक्ति-भाव से उपदेश प्राप्त करने के निमित्त उन्हें पाँच रुपया प्रायश्चित् रूप देकर समयानुकूल मुझसे मिल लेंगे। मेरे प्रति दफा क्रिया के द्वारा जिसका नाम धर्म है—गुरु-वाक्य से प्राप्त होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी ओर मन रहने पर पाप—नहीं तो पाप नहीं। गुरुभक्ति के द्वारा समुदाय हो सकता है किन्तु वह दुर्लभ है। मन की स्थिरता एवं संयम के बिना इस कठोर संसार में रहकर सम्पूर्ण रूप से आत्मज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा ही को परमात्मा नारायण के रूप में देखना और उसका बोध प्राप्त करना तथा सतत् ध्रुव ब्रह्मज्ञान होने पर उसके लिए पाप एवं पुण्य कुछ नहीं, जो सब में ब्रह्म का दर्शन कर रहा है। समरूप में स्थिति हो, यही कार्य होना चाहिए। बातों से कुछ नहीं होगा। सब कुछ ब्रह्म है—मैं सब की अपेक्षा छोटा हूँ।"

बाबा जी महाराज अनेक बार अपने दल के साधुओं के समक्ष अपने प्रिय शिष्य श्यामाचरण की प्रशंसा करते थे। इससे एक बार उनके दल के एक संन्यासी भक्त के मन में ईर्ष्या या निन्दा का उद्रेक होता है। उन्होंने बाबा जी से कहा—"श्यामाचरण गृहस्थ व्यक्ति है आप उनकी इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं।"

बाबा जी ने कोई उत्तर न देकर कुछ दिन बाद उस संन्यासी भक्त को ही दीक्षा की एकत्रित राशि लाने के लिए श्यामाचरण के पास भेजा। वे संन्यासी श्यामाचरण के पास आये और मन ही मन श्यामाचरण की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

श्यामाचरण भी इस बात को समझ गये। श्यामाचरण के बैठकखाने में दोनों के बीच तत्त्व सम्बन्धी चर्चा छिड़ गई। पास ही एक टब या गमले में एक विशल्यकरणी का पौधा था। उसका एक पत्ता तोड़कर उसी को उपलक्ष्य करते हुए प्रकृति-पुरुष, माया एवं ब्रह्म के बारे में चर्चा होने लगी। चर्चा इतनी गम्भीर थी कि पता ही नहीं चला रात कब बीत गई। इसका ख्याल किसी को भी न रहा, अचानक योगिराज ने कहा—"सुबह हो गई, चलिये, अब गंगा-स्नान कर आएँ।"

योगिराज के गहरे ज्ञान का परिचय पाने के बाद उस संन्यासी भक्त का भ्रम दूर हो गया। और तब उनकी समझ में आया कि बाबा महाराज अपने इस गृही या गृहस्थ भक्त की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं।

योगिराज के निवास-स्थान के पास ही थोड़ी दूर पर उनके भक्त ग्वाला जयपाल का घर है। अचानक जयपाल के एक लड़के को

हैज़ा हो गया। उसके बचने की उम्मीद कम ही थी। परम भक्त ग़रीब जयपाल गुरु महाराज के पास आया; उसने देखा कि गुरु महाराज प्रतिदिन की तरह अपने आसन पर अर्द्ध निमीलित नयन (अधखुली आँखें) मुद्रा में बैठे हैं। जयपाल कुछ दूर से ही प्रणाम करके हाथ जोड़कर बैठा रहा। कई मिनट बाद महायोगी ने आँख खोली तब जयपाल ने काँपते हुये स्वर में कहा कि मेरे पुत्र की रक्षा करें।

उस समय काशी में तीखुर की जलेबी मिलती थी। तीखुर सिंघाड़े की जाति का एक फल है। योगिराज ने कहा—"उसे अभी भरपेट तीखुर की जलेबी खिला दो।" जयपाल ने तुरन्त वही किया और उसका लड़का स्वस्थ हो गया।

योगिराज ने अपनी छोटी लड़की हरिमोहिनी और छोटे लड़के दुकौड़ी का विवाह विष्णुपुर (बंगाल) में किया था। विवाह के उपलक्ष्य में वे मात्र दो बार विष्णुपुर गये थे उन्हीं दिनों वहाँ अनेक व्यक्तियों ने उन से दीक्षा प्राप्त की थी। वे १८८६ ई० के मई महीने में (बंगाब्द १२९३ ज्येष्ठ) अपनी छोटी लड़की के विवाहोपलक्ष्य में पहली बार विष्णुपुर आये। वे ८ ज्येष्ठ १२९३ (बंगाब्द) को रात ९ बजे काशी से ट्रेन द्वारा रवाना हुए और दूसरे दिन शाम को पाँच बजे पानागढ़ स्टेशन पर उतरे और वहां से बैलगाड़ी द्वारा विष्णुपुर पहुँचे। कलकत्ता से पानागढ़ आकर पंचानन भट्टाचार्य ने उनसे भेंट की। इसके बाद १८९१ ई० के मई महीने में छोटे लड़के के विवाहोपलक्ष्य में दूसरी बार विष्णुपुर आये। उस समय भी पंचानन भट्टाचार्य ने पानागढ़ में उनसे मुलाक़ात की।

विष्णुपुर में कैलाशचन्द्र वन्द्योपाध्याय नाम के एक ग़रीब ब्राह्मण थे। वे शिवदास भट्टाचार्य के यहाँ गृह शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। कैलाश बाबू योगिराज से दीक्षा प्राप्त करने के लिये व्यग्र थे; किन्तु दीक्षा के लिये पाँच रुपये का प्रबन्ध नहीं हो पाया। इसलिए उन्होंने शिवदास भट्टाचार्य से पाँच रुपया अग्रिम माँगा। शिवदासबाबू ने उनकी सारी बातें सुनकर मजाक करते हुए कहा—"तुम्हें जो दीक्षा प्राप्त होगी, उसे यदि तुम मुझे बता दोगे तो रुपया दूँगा।"

कैलाश बाबू उनकी शर्त पर राजी हो गए और पाँच रुपया अग्रिम प्राप्त किया।

कैलाश बाबू दीक्षा लेने के लिये जब योगिराज के पास आए तब योगिराज ने कहा—"तुम दीक्षा की सारी बातें बता देने का वादा करके आए हो; तुम्हें दीक्षा नहीं दूंगा।"

कैलाश बाबू ने स्वीकार किया कि वे किसी को भी कुछ नहीं बताएँगे। किन्तु योगिराज फिर भी राजी नहीं हुए। अन्त में कैलाश बाबू ने शिवदास बाबू के पास जाकर कहा—"योगिराज को सब कुछ मालूम हो गया है; वे दीक्षा नहीं देंगे।"

शिवदास बाबू ने हँसते हुए कहा—'तुम्हें दीक्षा के बारे में कुछ नहीं बताना होगा; मैंने तो मज़ाक किया था। तुम दीक्षा ग्रहण करो।"

इस घटना के बाद कैलाश बाबू ने दीक्षा प्राप्त की।

१८९२ ई० में योगिराज के द्वितीय पुत्र दुकौड़ी लाहिड़ी विक्षिप्त-चित्त हो गए। काशी के तमाम चिकित्सकों को दिखाने के बावजूद कोई लाभ नहीं हुआ। अनेक व्यक्तियों ने वर्दवान स्थित तिरोल के काली मन्दिर से औषधि लाकर देने को कहा। वे ब्रह्मज्ञ होने पर भी साधारण लोकाचार को पूरी मान्यता देते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने तारकेश्वर के अपने एक स्टेशन मास्टर भक्त को पत्र लिखकर यह सूचना प्राप्त की कि तिरोल तारकेश्वर से लगभग ९ कोस की दूरी पर है और रास्ता भी अच्छा नहीं है। दूसरी ओर उन्हें यह भी पता चला कि वर्दवान स्टेशन से तिरोल ७-८ कोस दूर है और रास्ता भी अच्छा है। १८९२ ई० के दिसम्बर महीने में काशी से वे वर्दवान स्टेशन पर उतरे। वहाँ पंचानन भट्टाचार्य पहले से ही उपस्थित थे, उन्होंने योगिराज के लिए पालकी की व्यवस्था कर रक्खी थी। योगिराज पालकी में तिरोल गए और वहाँ के काली मन्दिर से औषधि लेकर काशी लौट आए। किन्तु उस औषधि से भी पुत्र को कोई लाभ नहीं हुआ। यह देखकर काशीमणि देवी ने कहा तुम्हारे रहते हुए अन्य औषधि की क्या जरूरत है?" इसके बाद योगिराज ने एक जड़ी दी जिसका सेवन करने पर उनके पुत्र का चित्त विक्षेप दूर हुआ।

• • •

स्कन्दपुराण के काशी-खण्ड में काशीधाम की परिक्रमा के नियम का उल्लेख है। जिसे पंचक्रोशी यात्रा अथवा पंचकोशी परिक्रमा कहते हैं। प्राय: ५०-६० मील का रास्ता नंगे पाँव पैदल तय करना पड़ता है जिसमें साधारणत: ५-६ दिन लगते हैं। खाने-पीने के सामानों को साथ लिये अनेक यात्री एक साथ 'जय शिव शम्भो' बोलते हुए परिक्रमा करते हैं। यह परिक्रमा प्रतिवर्ष ही होती रहती है।

एक बार योगिराज के परमभक्त वकील रामप्रसाद जायसवाल ने पंचक्रोशी परिक्रमा करने का निश्चय किया। वे प्रतिदिन ही कम-से कम एक बार अपने गुरु महाराज को प्रणाम करने आते। अपनी इस दिनचर्या के बारे में वे सोचने लगे कि यदि परिक्रमा के लिए जाऊँगा तो पाँच-छह दिन तक गुरु-दर्शन नहीं होगा। उन्होंने व्यग्रता पूर्वक अपने गुरु महाराज के पास आकर उनकी अनुमति और आशीर्वाद प्राप्त करने की प्रार्थना करते हुए २४ घन्टे के भीतर ही परिक्रमा पूरी करने की इच्छा व्यक्त की ताकि उनकी नित्य चर्या का क्रम न टूटे और अपने गुरु को प्रणाम कर सकें।

प्रकृत या वास्तविक 'पंचक्रोशी' किसे कहते हैं। उसके बारे में योगिराज ने जायसवाल को समझाते हुए कहा कि यह शरीर ही पंचकोषात्मिका काशी है। पंचकोशयुक्त इस देह की ओंकार क्रिया के द्वारा परिक्रमा करना ही वस्तुतः पंचक्रोशी परिक्रमा है। इस परिक्रमा के कर लेने पर प्राणवायु सहस्रार में स्थिति प्राप्त करती है। वही व्योमतत्त्व या शिवतत्त्व है। और तभी वास्तविक काशी के अधिष्ठाता देवाधिदेव का दर्शन होता है। बाहर की पंचक्रोशी परिक्रमा एक बाह्य अनुष्ठान है। उसमें आनन्द का दर्शन नहीं होता।

योगिराज कभी भी किसी को भी धर्म सम्बन्धी बाहरी अनुष्ठान के प्रति उपेक्षा करने की सलाह नहीं देते थे। बल्कि कहा करते थे कि इन अनुष्ठानों को करना अच्छा है उससे मन में शुद्धता का भाव आता है। इसीलिये उन्होंने जायसवाल को परिक्रमा पर जाने की अनुमति देते हुए आशीर्वाद प्रदान किया।

गुरू महाराज का आशीर्वाद लेकर दूसरे दिन प्रातःकाल जायसवाल परिक्रमा के लिए रवाना हो गए और यथारीति चौबीस घण्टे के भीतर वापस आकर पुनः गुरु-दर्शन किया।

सद्गुरु का आशीर्वाद इस रूप में ही भक्त जायसवाल के जीवन में सार्थक हुआ था।

योगिराज कहा करते थे कि एकमात्र आत्मकर्म ही कर्म है दूसरे सभी अ-कर्म हैं; किन्तु जीविका निर्वाह के लिये कुछ कर्म करना ही होगा। इसीलिये कर्म को कभी भी सम्पूर्ण रूप से छोड़ा नहीं जा सकता। उन्होंने कामिनी कंचन त्याग करने का उपदेश नहीं दिया और उन्होंने स्वयं भी ऐसा नहीं किया। बल्कि कहा करते थे गृहस्थ व्यक्ति को अर्थ भी चाहिये और परमार्थ भी चाहिए। दोनों में किसी को भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। जो संसार से विरक्त होकर गृह-त्याग देते हैं वे दुर्बल हैं। सब के बीच रहो एवं ऐसा कार्य करो, जिससे इनके

प्रति आसक्ति न रह जाये। आसक्ति ही बाधा है, आसक्ति न रहने पर कुछ भी बाधा की सृष्टि नहीं करते। आसक्ति की उत्पत्ति इच्छा से होती है और इच्छा की उत्पत्ति चंचल मन से होती है तथा चचल मन की उत्पत्ति प्राण से होती है। किन्तु स्थिर प्राण में कोई तरंग नहीं होती। अर्थात् मन, इच्छा और आसक्ति कुछ भी नहीं रहते। हालांकि तब भी कंचन और कामिनी रहेंगे किन्तु उनके प्रति इच्छा या आसक्ति नहीं होने पर ये बाधा की सृष्टि नहीं करेंगे। तात्पर्य यह कि इच्छातीत अथवा निष्काम होना होगा। जब तक इच्छा के वश में रहोगे तब तक आसक्ति एवं बाधा तो रहेगी ही। इसलिये आत्मकर्म के द्वारा पहले इच्छा और कामना को समाप्त करना होगा। तब इच्छाहीनता एवं आसक्ति शून्यता की स्थिति आयेगी। उसके बाद कामिनी कंचन कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इसीलिये वे इस बात पर ज़ोर देते हुए कहा करते थे—**"खेचरी करने से इन्द्रिय-दमन होता है।"**

वे कहा करते थे कि नारी कभी भी पुरुष के लिये बाधा स्वरूप नहीं है।

यदि नारी पुरुष के लिये बाधा-स्वरूप है तो फिर पुरुष भी नारी के लिये बाधा स्वरूप होने के लिए बाध्य है। नारी एवं पुरुष दोनों ही ईश्वर द्वारा सृष्ट हैं, ईश्वर की सृष्टि को संचालित करने के लिये दोनों की ही आवश्यकता है। दोनों को ही आत्म-साधना करने का समान अधिकार है। अतः कोई भी किसी के लिये बाधा-स्वरूप नहीं है। भगवान श्री कृष्ण की वाणी पर ध्यान दो; उन्होंने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

—गीता : ९।३२

अर्थात् हे पार्थ ! पापयोनि वाले भी जो कोई हों तथा स्त्री या नारी वैश्य अथवा शूद्र वे भी मेरा आश्रय लेने पर निश्चय ही परम गति प्राप्त करते हैं।

खाना, कपड़ा, दवायें इत्यादि सब कुछ के लिये ही अर्थ की जरूरत है। दूसरों के सहारे न रहकर स्वयं द्वारा अर्जित अर्थ से जीविका निर्वाह करना चाहिये; किन्तु किसी भी तरह अर्थ का कीड़ा या अर्थ का दास होना उचित नहीं। तुमलोग सोचते हो कि अधिक धन या अर्थ प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है। ऐसी बात नहीं है; किन्तु कुछ तेजस्विता के साथ यदि आत्मसाधना की जाये तो वही वास्तविक पुरुषार्थ है। जिस मन को अर्थ प्राप्त करने की दिशा में हमेशा नियोजित करके रखते हो, उस मन को ही यदि कुछ ईश्वर की साधना से युक्त

करके रख सकते हो तो इसका प्रयास सभी को करना चाहिये। तुमलोग कहते हो कि ईश्वर-साधना के लिये समय ही नहीं मिलता—यह ठीक नहीं। कुछ समय निकाल कर सब को आत्मसाधना अवश्य करनी चाहिए। इस प्रसंग में किसी साधक ने कहा है—

जब तक रहेगी जिन्दगी, फुरसत ना मिलेगी काम से।
कुछ समय ऐसा निकालो, लगन लगा लो राम से॥

आत्माराम के साथ योग-सूत्र स्थापित करो, कूटस्थ में उसे पकड़ कर रक्खो :

वर्तमान चंचल मन के द्वारा सम्पूर्ण रूप से आसक्ति का त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जितनी देर तक प्राण चंचल रहेगा, उतनी देर तक मन भी चंचल रहेगा। और जब तक मन चंचल रहेगा; तब तक आसक्ति भी रहेगी। काम-लोभ, मोह, मद-मात्सर्य, मन, बुद्धि चित्त, अहंकार, क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य, दर्शन, श्रवण, घ्राण, चिन्ता, भावना, आसक्ति, प्रेम-प्यार, अहंभाव एवं देह-बोध इत्यादि जितनी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियाँ अथवा विचार तरंगें एवं धर्म हैं। उन सब का जन्मदाता, चंचल प्राण है। तात्पर्य यह कि जीवित अवस्था में जो कुछ भी लक्षण है सभी प्राण की चंचल अवस्था से उत्पन्न होता है। जन्म लेते ही साथ-साथ प्राण चंचल होता है और श्वास-प्रश्वास की गति आरम्भ हो जाती है। जब तक प्राण चंचल रहेगा तब तक श्वास प्रश्वास की गति भी वर्तमान रहेगी। और जीव भी जीवित रहेगा। इसीलिये जब तक प्राण चंचल रहेगा अर्थात् तब तक श्वास-प्रश्वास चलते रहेंगे और उपर्युक्त सभी प्रकार की शारीरिक मानसिक वृत्तियाँ एवं धर्मों का भी अस्तित्व रहेगा। और फिर जितना ही प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे उतना ही प्राण स्थिरता की दिशा में अग्रसर होगा। और वह जितना ही स्थिरता की ओर अग्रसर होगा उतना ही उन वृत्तियों एवं धर्मों का ह्रास होगा। इस प्रकार जब प्राण पूर्णतः स्थिर हो जायेगा अर्थात् स्पन्दन-रहित हो जायेगा तब वे सभी वृत्तियाँ या विचार तरंगें नहीं रहेंगी। क्योंकि स्थिर प्राण में कोई वृत्ति या देह बोध नहीं रहता। यही भूतशुद्धि की परिभाषा है। चंचलता के समाप्त हो जाने पर पांच भौतिक यह देह तभी शुद्ध होता है। इसीलिये मृत की कोई जाति नहीं रहती। और वही वास्तविक उपवास है। उसका अर्थ है समीप। प्राण स्थिर होने पर ही आत्मसमीपता का बोध होता है। भोजन का त्याग वास्तविक उपवास नहीं है। और फिर वही पुरोहित है क्योंकि इस देह रूपी पुर में एकमात्र प्राण का ही वास है और उसके स्थिर होने पर ही जीव का यथार्थ हित होता है। इसीलिए उसे

जीव का हितकारी पुरोहित कहा गया है। प्राण के दोनों ओर दो पल्ले हैं, एक चंचल है, एक स्थिर है; एक ओर बढ़ने पर दूसरी ओर कम होगा। इसीलिये एक भक्त ने उनसे पूछा—'यह चंचल मन किस उपाय से खूब अच्छी तरह रह सकता है।

योगिराज ने कहा—"मन का अस्तित्व न रहने पर।"

प्रेम, भक्ति, प्यार यह सभी कुछ देह में प्राण की चंचल अवस्था के अस्तित्व पर निर्भर है। मां और पुत्र का प्यार, पति-पत्नी का प्यार और ईश्वर के प्रति भक्त का प्रेम, इन सब के मूल में वह प्राण ही है। देह, देह को प्यार नहीं करती। प्राण प्राण को ही प्यार करता है। क्योंकि प्यार का उत्स या मूल स्थान ही प्राण है। प्राण-हीन देह में प्यार-प्रेम कहाँ? जिसके द्वारा अथवा जिसकी प्रेरणा से स्त्री का आलिगन करते हो उसी के द्वारा पुत्री या कन्या का आलिगन करते हो। इसीलिए तुम लोग पहले अपने प्राण को प्यार करो, उसकी सेवा करो अर्थात् प्राण कर्म करना ही उसकी सेवा है। उसे देखो, क्योंकि प्राण-कर्म करने से ही उसका दर्शन होता है। यदि ऐसा हो जाये तो फिर विश्व-प्राण को जान सकोगे। और तब सभी जीवों में, सभी पदार्थों में समदर्शन का बोध करोगे। जिस प्रकार समुद्र के किसी एक छोर पर खड़े होकर समुद्र-दर्शन से समुद्र का ज्ञान होता है, समस्त समुद्र देखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसी प्रकार अपने शरीर में स्थिर प्राण के देखने या उसका दर्शन करने पर ही विश्व-प्राण का ज्ञान होता है।

● ● ●

योगिराज प्रतिदिन की तरह उस दिन भी कृष्णाराम के साथ गंगा के किनारे राणामहल घाट पर शाम को टहल रहे हैं। थोड़े-थोड़े समय के अन्तराल पर कुछ दूर अपनी नौकायें खेते हुए मल्लाह जा रहे हैं। ऊँचे बँधे पक्के घाट के ऊपर निकट ही किसी मन्दिर में भक्तों के समवेत स्वर में शिव-स्तोत्र का पाठ हो रहा है। कोई एक आगन्तुक आया और हाथ जोड़कर योगिराज को प्रणाम करके बातें करने लगा। आगन्तुक ने कहा—"आप का नाम तो पहले से ही सुन रक्खा है; किन्तु आपके दर्शन का सौभाग्य इतने दिनों तक मिला नहीं।

योगिराज ने मुस्कराते हुए उसका नाम और निवास आदि पूछा और मधुरता के साथ बात करने लगे।

टहलते-टहलते अचानक आगन्तुक ने पूछा—"यदि अभय प्रदान करें तो क्या एक बात पूछ सकता हूं ?" योगिराज ने कहा—"निःसंकोच पूछ सकते हैं।" आगन्तुक ने विनम्रतापूर्वक पूछा—"सुना है आप घर में बैठ कर ध्यान करते हैं; किन्तु क्या किसी देवता का ध्यान करते हैं ?

योगिराज ने मधुर मुस्कान के साथ कहा—"वह तो जानता नहीं।"

आगन्तुक ने फिर पूछा—"शिव, कृष्ण, काली इन सब देव-देवी में किसी का ध्यान तो निश्चय ही करते हैं ?"

योगिराज ने उत्तर दिया—"शिव, कृष्ण, काली, तुम, मैं सब के भीतर जो निवास करते हैं उनका ही ध्यान करता हूँ।"

आगन्तुक ने विस्मय पूर्वक कहा—"आपकी बात मैं अच्छी तरह समझ नहीं पाया।"

योगिराज ने कहा—"मैं भी समझा नहीं पाऊँगा और तुम भी नहीं समझ पाओगे।" ●

अष्टम परिच्छेद

लीला-प्रसंग एवं उपदेश

योगिराज द्वारा प्रदर्शित क्रिया-योग की साधना जो लोग करते हैं उन्हें क्रियावान अथवा क्रियान्वित कहते हैं। वे क्रियावानों के साथ उनके जीवन के विभिन्न पक्षों पर बातचीत करते हुए समझा दिया करते थे। आहार-निद्रा और मैथुन के सम्बन्ध में सात्विक आहार या भोजन को ही श्रेय दिया करते थे। सात्विक आहार से शरीर-मन शान्त रहते हैं। योग-कर्म करने पर अल्पाहारी एवं सहजपाच्य भोजन ग्रहण करना उचित है। अधिक भोजन से योग-साधना में विघ्न पड़ता है। अधिक गरम, अधिक ठण्डा, अधिक कड़वा, अधिक चटपटा या तेज बासी इत्यादि खाद्यपदार्थ नहीं लेना चाहिए। पूरा भोजन करने के तीन घन्टे पश्चात् क्रिया साधन करना उचित है। प्रतिदिन पांच-छः घन्टा सोना जरूरी है। विवाहित व्यक्तियों को महीने में दो बार स्त्री-प्रसंग या सम्भोग करना अच्छा है। उससे मन शान्त रहता है; साधना भी अच्छी होती है। लेकिन किसी प्रकार का भी यथेच्छ जीवन-यापन करना उचित नहीं। काम-भाव के आक्रमण करने पर जोर से तीन-चार बार प्राणायाम करना चाहिए। प्रतिदिन दाँत से दाँत दबाकर प्राणायाम या प्राणकर्म करना चाहिए। बलपूर्वक प्राणकर्म करने से शीघ्र ही प्राण स्थिर हो जाता है इसीलिए योगिराज बार-बार सबको याद दिला दिया करते थे **"कसके प्राणायाम करना चाहिए।"** उनचास वायुओं में प्राणवायु प्रधान है। प्राणायाम द्वारा मुख्य प्राणवायु के स्थिर होने से ही दूसरे सभी प्राण या वायु स्थिर होते हैं उस समय त्याग और ग्रहण कुछ भी नहीं रहता।

वे कहा करते थे क्रिया-करने के लिए दिशा देश और काल का कोई नियम नहीं है इसके सम्बन्ध में वेदान्त का कथन है—**यत्रैकाग्रता तत्रा विशेषात्**[१] " अर्थात् चित्त की एकाग्रता जहाँ सुगमता से हो सके

१—ब्रह्मसूत्र : चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद ११ वाँ सूत्र : वेदान्त दर्शन :

वहीं बैठकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। क्रिया करने के लिए दिशा, देश-काल का कोई नियम नहीं। जिस समय या जब शरीर मन स्वस्थ रहे तभी क्रिया करनी चाहिए। एक ही समय पर क्रिया करनी होगी इसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं दीखता; किन्तु नव अभ्यासी के पक्ष में नियमपूर्वक करने से चित्त प्रसन्न रहता है, या प्रसन्नचित्तता का बोध होता है। किन्तु क्रिया में स्थिति प्राप्त होने पर कोई नियम आवश्यक नहीं। क्रिया सम्बन्धी ग्रन्थ भी पढ़ना चाहिए। कमर, हृदय एवं कंठ इन तीनों स्थानों को उन्नत या ऊपर की ओर या सीधे रखकर समान वायु के प्रवाह में क्रिया करना चाहिए। इस स्थिति में ब्रह्म-ज्ञान होता है। योगाभ्यासी को प्रातःकाल तड़के स्नान नहीं करना चाहिए और अधिक भार वहन करना, अधिक तेज चलना, कठोर उपवास नहीं करना चाहिये तथा अधिक रात को जागना भी नहीं चाहिये। कहने का मतलब यह कि ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे श्वास-प्रश्वास की गति द्रुत (तेज) और लम्बी हो जाए। मेघ-गर्जन के समय क्रिया नहीं करनी चाहिए। प्रातःकालीन क्रिया से रात्रि के पापों का क्षय होता है और सायंकालीन क्रिया से दिन के पापों का क्षय होता है। शीतकाल एवं वसन्त ऋतु में अधिक क्रिया करनी चाहिए। अधिक क्रिया करने पर नशा होता है और सिर के पिछले हिस्से में शब्द सुनाई देते हैं उसे ही नाद-ब्रह्म कहते हैं। **"प्राणायाममनुमत्त्वा उन्मत्तवत् चरन्ति।"**[१] अधिक प्राणायाम के नशे में धुत्त या लीन होकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करके अनासक्त भाव से संसार में विचरण करना चाहिये। प्राणकर्म करने से ही देवत्व की स्थिति में प्रतिष्ठित हुआ जा सकता है।

इस क्रिया-योग के पाँच अंग हैं जिन्हें तालव्य, प्राणायाम, नाभि-क्रिया, योनिमुद्रा और महामुद्रा कहा जाता है। इन पाँचों अंगों की समष्टि ही क्रियायोग है; किन्तु यह **गुह्यतम** क्रियायोग का साधन रहस्य गुरु द्वारा ही बोधगम्य होता है। तालव्य के द्वारा जिह्वाग्रन्थि का भेदन होता है; प्राणायाम के द्वारा प्राण एवं अपान वायु स्थिर होती है, नाभिक्रिया द्वारा समान वायु को साम्यावस्था में लाया जाता है। योनिमुद्रा द्वारा आत्म-दर्शन होता है एवं महामुद्रा द्वारा व्यान और उदान वायु स्थितावस्था प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पंचप्राण पर विजय प्राप्त करके योगी ऊर्ध्व में स्थित शून्यतत्त्व की स्थिति प्राप्त करता है और कर्मातीत अवस्था में पहुँचकर आत्मराज्य में विचरण करने में सक्षम होता है।

१—जवलोक उपनिषद

एक दिन योगिराज उपदेश दे रहे हैं। भक्तगण अपनी-अपनी जिज्ञासायें उनके सामने रख रहे हैं। उनमें से एक भक्त ने जिज्ञासा की कि "कर्मयोग किसे कहते हैं"।

योगिराज ने उत्तर देते हुए कहा—"जो कर्म ईश्वर के साथ मिलन कराता है वही कर्म है और उस कर्म के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहना ही कर्म योग है। दूसरे सभी अकर्म हैं। ईश्वर कोई आकाश से उतर कर आनेवाली वस्तु नहीं है; वह एक अवस्था है। और वह प्राण की स्थिर अवस्था है। स्थिर प्राण ने ही जीवों के शरीर में चंचल होकर बुद्धि-मन, इन्द्रिय इत्यादि रूपों को धारण किया है और इसी से मोहग्रस्त है तथा उन्हीं सब रूपों के मोह-जाल में फँसा हुआ है। लेकिन यह जीव की अपने स्वरूप से विच्युत अवस्था है अर्थात् स्थिर प्राण से चंचल प्राण में अवतरण की अवस्था है। स्थिरता अथवा स्थिरत्व ही जीव का वास्तविक स्वरूप है। चांचल्य ही जीव है और स्थिरत्व ही शिव है। इसीलिए जो कर्म उस चंचलता का अवसान करके फिर उसे स्थिरत्व में प्रतिष्ठित कर देता है। जीवत्व को समाप्त करके शिवत्व को प्रतिष्ठित करता है उसे ही कर्मयोग कहते हैं। कर्म के बिना कुछ भी नहीं होता। हम जो कुछ पाना चाहते हैं, देना चाहते हैं वह सभी कर्म की संज्ञा है। बिना कर्म के कुछ प्राप्त नहीं होगा; इसलिए कर्म के बिना ईश्वर की भी प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् स्थिर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ईश्वर की प्राप्ति के लिए भी आवश्यक ही कुछ कर्म करना होगा।

सांसारिक दृष्टि से हम जितने प्रकार के कार्य या कर्म करते हैं उन सब के माध्यम से क्या ईश्वर-प्राप्ति होगी? स्पष्ट है कि नहीं; क्योंकि वैसे कार्य तो कुछ न कुछ सभी करते रहते हैं। तो फिर वे ईश्वर को क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? इसके अतिरिक्त जप, व्रत, उपवास, संकीर्तन, सद्कार्य, तीर्थयात्रा, परोपकार, अतिथिसेवा और जीवों पर दया इत्यादि कर्म सभी लोग कुछ न कुछ करते ही रहते हैं तो फिर उन्हें ईश्वर की प्राप्ति क्यों नहीं होती। इसलिए इन कर्मों के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये कर्म आत्मदर्शन या आत्म साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त करने की दिशा में सक्षम नहीं हैं। किन्तु इनको करने पर मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है। यही साधना-मार्ग के सहायक अंग हैं। इसलिये इन्हें करते रहना चाहिये। कर्म का फल तो प्राप्त ही होगा क्योंकि यह कर्म का धर्म है। कुकर्म का फल बुरा होगा और सुकर्म करने पर अच्छे फल या परिणाम की प्राप्ति होगी। जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। जैसे क्षुधा-प्रवृत्ति या भूख को शान्त

करने के लिए अन्न-ग्रहण का कर्म प्रयोजनीय है, अन्य कार्य द्वारा सम्भव नहीं; उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए आत्मकर्म प्रयोजनीय है। गीता में भगवान ने कहा है—"**गहना कर्मणो गतिः**"—(गीता : ४-१७) अर्थात् कर्म की गति अत्यन्त गहन या दुर्ज्ञेय है। साधारण व्यक्ति के पक्ष में वास्तविक कर्म जिसे करने से आत्मा के साथ युक्त हुआ जा सकता है, उसे समझना मुश्किल है या उसका बोध अत्यन्त कठिन है। इसीलिए भगवान ने कहा है—

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्" गीताः ४।१६ अर्थात् क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस सम्बन्ध में विवेकशील व्यक्ति भी मोहग्रस्त होते हैं; अतएव जिसे जानने से तुम अशुभ अर्थात् इन्द्रियकर्मों के प्रति आसक्ति से मुक्त हो सकोगे उसी कर्म के बारे में तुम्हें बताऊँगा। क्योंकि "**संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः**" (गीता-५।६) हे महाबाहो कर्मयोग के बिना संन्यास या त्याग की प्राप्ति असम्भव है। कर्मातीत अवस्था ही त्याग शब्द की सार्थकता को उजागर कर सकती है। ऐसी स्थिति में कर्म नहीं रहता। इस संन्यास या त्याग की स्थिति प्राप्त करने के लिए कर्म करना ही होगा। कर्म के बिना कुछ भी प्राप्त करना असम्भव है।

इसीलिए योगिराज १९ जून १८७३ ई० को लिखा है—

"अब बड़ा मजा से बे काम हय सोइ काम हुआ।

याने कुछ नहीं करना एहि काम हुआ—

बड़ा आश्चर्य कि बातें इसिमें हमेशा गरक रहना चाहिए। अर्थात् अब आनन्द के साथ अकर्म की स्थिति आई। वह अकर्म ही प्रकृत कर्म है अर्थात् कुछ न करना यही अब मेरा कर्म हुआ। बड़े आश्चर्य की बात है कि उस अकर्म में ही हमेशा डूबे रहना चाहिए। अर्थात् साधारण लोग जिन सांसारिक कर्मों को कर्म मानते हैं योगी उसी को अकर्म कहते हैं और साधारण लोग अज्ञान के कारण जिसे अकर्म समझते हैं योगीगण उसी को ही कर्म के रूप में जानते हैं। साधारण मनुष्य क्रिया की परावस्था अथवा कर्मातीत अवस्था क्या है? नहीं जानते। इसीलिये उनके लिये स्थिरावस्था अकर्म है; किन्तु योगियों के लिए वही प्रकृत कर्म है। योगिराज ने २५ जून १८७३ ई० को इस सम्बन्ध में और भी लिखा है—**"तिन कोना आउर ४ लकिर— तिन कोना याने तिनो नाडि इड़ा पिंगला, सुषुम्ना—चार लकिर याने क्षिति अप तेज मरुत—इह सबको छोड़के शून्य मे ध्यान लगाना—एहि असल काम हय—आज तो बिलकुल स्वासा गया—बड़ा भारि नेसा हुआ।"—**

अर्थात् 'तिन कोना एवं चार लकीर' अर्थात् तीन कोन या कोना के अर्थ में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ एवं चार लकीर के अर्थ में पृथ्वी, जल, अग्नि या तेज और हवा या वायु; अर्थात् इन तीनों नाड़ियों एवं चार महाभूतों से परे पाँचवें महाभूत रूपी महाशून्य में या शून्य के भीतर शून्य में ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। यही असली कार्य है। प्राणकर्म करते-करते आज श्वास गति सम्पूर्णतः थम गई एवं इस प्रकार कुम्भक की अवस्था प्राप्त होने से खूब नशा हुआ।

इस प्रकार साधना करते-करते उनकी क्या अवस्था हुई; इस सम्बन्ध में २३ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—

"आज अभय सब कर्म में—अकर्म जो सोइ मेरा कर्म हय।"

अर्थात् किसी कर्म में अब उन्हें कोई भय नहीं। इसीलिए सभी कर्मों के प्रति उनको अभय प्राप्त है; क्योंकि साधारण मनुष्य के निकट जो अकर्म है, वही कर्मातीत अवस्था में उनका एक मात्र कर्म रह गया, तात्पर्य यह कि वे क्रिया की परावस्था में हमेशा स्थित रहने लगे—कर्मातीत अवस्था में ही तल्लीन रहने लगे। भगवान श्री कृष्ण ने ऐसा ही कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥ गीता : ४।१८

अर्थात् जो कर्म में अकर्म एवं अकर्म में कर्म देखते हैं वे ही मनुष्यों में बुद्धिमान हैं और सभी कर्मों का सम्पादन करने के बावजूद वे ही ब्रह्म से संलग्न या जुड़े हैं। तात्पर्य यह है कि फलाकांक्षा से जुड़े हुए जो सभी सांसारिक कर्म हैं उन्हें जो अकर्म के रूप में देखते हैं एवं फलाकांक्षा से रहित जो निष्काम प्राणकर्म है उसे बाह्य दृष्टि से सामान्य लोगों द्वारा अकर्म मानने के बावजूद उस अकर्म रूप निष्काम प्राणकर्म को कर्म के रूप में देखते हैं वे मनुष्यों में बुद्धिमान व्यक्ति हैं। वे सभी कर्म करके भी उस निष्काम प्राणकर्म की अतीतावस्था रूप स्थिर ब्रह्म में सर्वदा लीन या युक्त होकर रहते हैं। तब वे उस प्राणकर्म के द्वारा मुक्त बुद्धिशाली होकर सर्वदा ब्रह्म से युक्त रहकर अनासक्त भाव से सारे कर्म करते रहते हैं। फिर उनमें कोई आसक्ति नहीं रहती। अर्थात् जब नासिका के मार्ग में प्राणों के आने-जाने के कर्म को स्थितावस्था प्राप्त होकर कर्मातीत अवस्था में प्राणों में स्थित हो जाती है तभी वास्तविक कर्म-त्याग की स्थिति होती है। इसीलिये योगिराज ने १८७३ ई० १९ जून को लिखा है—**"हवा अयसा ऊपर चढ़ा कि बड़ा जोर सांगे उठाने के लिए। आब बड़ा मजा से बेकाम हय सोइ काम हुआ—याने कुछ नहि करना एहि काम हुआ—बड़ा आश्चर्य कि बातें इसिमे हमेसा गरक रहना**

चाहिए।" अर्थात् प्राणवायु इस प्रकार ऊपर उठ गया या ऊर्ध्वमुखी हुआ जैसे शरीर को बल पूर्वक ऊपर उठा देगा—अब अत्यन्त आनन्द के साथ अकर्म हुआ अर्थात् कर्मरहित हो गया एवं उस कर्महीन अवस्था में रहना ही अब मेरा काम है। बड़े आश्चर्य की बात है कि. उस अकर्म स्थिति या बे-काम अवस्था में हमेशा स्थित रहना चाहिये यही क्रिया की परावस्था है और इसी में हमेशा रहना चाहिए।

सांसारिक कर्म को पूणतः नहीं छोड़ा जा सकता। इसीलिये भगवान ने अर्जुन से कहा है—

"नियतंकुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध येदकमणः।।"

गीता : ३।८

तुम जो करणाय कर्म हैं उन्हें करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कम करना अच्छा है। सारे कर्मो का त्याग कर देने से शरीर-यात्रा का निर्वाह नहीं होगा। जिस कार्य को न करना दोष है वही आवश्यक रूप से करणीय है। यह अजपा रूप प्राणकर्म अथवा प्राणायाम ही अनिवार्य कर्म है क्योंकि प्राणवायु के द्वारा ही देह की रक्षा होती है, अतः प्राणवायु ही हर प्राणी अथवा जीव की आयु है। सारे कार्यों के परित्याग के बाद भी श्वास-प्रश्वास का कार्य तो जारी ही रहेगा। उसके न करने का कोई उपाय या रास्ता ही नहीं है। और यदि यह कर्म न हो तो देह का कोई अस्तित्व ही नहीं। वह प्राण-जन्य है। उसके बिना जीव जिन्दा नहीं रह सकता। वही प्राण की बाह्य अभिव्यक्ति है। मनुष्य जो भी कार्य या कर्म करता है वह सभी सकाम है, उसके साथ उसकी कामनाएँ वासनाएँ निश्चित रूप से जुड़ी रहती हैं। एकमात्र श्वास-प्रश्वास कर्म ही निष्काम कर्म है; क्योंकि किसी प्रकार की इच्छा या अनिच्छा उसके साथ नहीं जुड़ी रहती। हम इच्छा करें या न करें श्वास-प्रश्वास का कार्य तो चलता ही रहेगा। चंचल प्राण से उत्पन्न चंचल मन जब तक है तब तक सकाम कर्म ही होगा किन्तु जिस कर्म में मन का कोई संयोग या स्पर्श नहीं है वही निष्काम कर्म है। मनुष्य जब गहरी नींद सोया रहता है, और जब इच्छा-अनिच्छा दोनों का भी कोई संकेत नहीं होता, तब भी श्वास-प्रश्वास का कार्य जारी रहता है। 'सोऊँगा' जिस प्रकार इच्छा की अभिव्यक्ति है उसी प्रकार 'नहीं सोऊँगा' यह भी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। यह दोनों इच्छाएँ भी जब नहीं रहतीं तब भी जो कार्य हो रहा है वही निष्काम कर्म है। इसलिये यह श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया या विशिष्ट कर्म ही निष्काम कर्म है। इसके अतिरिक्त मन द्वारा उत्पन्न होने के नाते सभी कार्यों को सकाम कर्म कहते हैं। मन

Scanned by CamScanner

स्वयं इन्द्रिय है, इसलिये इन्द्रिय द्वारा किया गया कर्म कभी निष्काम नहीं हो सकता। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने इसी निष्काम कर्म की चर्चा की है। क्योंकि जो प्राणवायु जीव-देह में गतिशील है वही जीव की वर्तमान अथवा अस्तित्वमान अवस्था है उसी को अजपा रूप हंस की संज्ञा दी गई है। उसकी बहिर्मुखी गतिशीलता में हंस की विपरीत क्रिया होने से विकार उत्पन्न होते हैं। जिससे जीव हमेशा विकारों से ग्रस्त रहता है। उसकी बहिर्मुखी गति आयुक्षय के साथ देह-क्षय का भी कारण है। किन्तु अजपा रूप हंस की अन्तर्मुखी गति के द्वारा विधिपूर्वक हंस क्रिया अथवा प्राण क्रिया करने से बहिर्मुखी गति रूप विरुद्ध क्रिया का निवारण किया जा सकता है और तब आत्मभाव अथवा स्वभाविक अवस्था प्राप्त होने पर सभी प्रकार के विकार दूर होते हैं। इसीलिये योगिराज ने २१ जुलाई १८७३ ई० को अपनी डायरी में लिखा है—"**आज आउर बड़ा स्थिर घर का हाल मिला आख आप बन्द हुआ जाता हय आउर ब्रह्म साफ दर्शन होने लगा—त्रिकुटा याने जिह्वा मूल—ऊपर तालु का छेद बन्द करता हय आउर जिह्वा का अग्रभाग तालु मध्य में लगता हय आउर जिह्वा का मूल तालु के नीचे लगता हय इसि तरह से बिलकुल बाहर का श्वासा बन्द होता हय धन्य भाग उसका जिसको इहि होय**"—अर्थात् आज और अधिक स्थिर घर का पता मिला—दोनों आँखें अपने आप बन्द होती जा रही हैं और ब्रह्म और भी साफ-साफ दिखने लगा। त्रिकूट का अर्थ है तीन शृंगों वाला पर्वत अथवा पवित्रतीर्थ। किन्तु योगिराज कहते हैं—**त्रिकूट अथवा जिह्वा मूल—यह जिह्वा ऊपर उठकर तालुकुहर या विवर को बन्द कर देती है; जिह्वा का अग्रभाग तालु के मध्य भाग में प्रवेश करता है एवं जिह्वा मूल तालु के नीचे लगा रहता है,** इस प्रकार खेचरी अवस्था में रेचक और पूरक प्राणायाम करते-करते आगमन-निर्गमन रूप श्वास-प्रश्वास सम्पूर्णतः बन्द हो गये हैं और 'केवल कुम्भक' की प्राप्ति हो गई है। इसीलिए वे कह रहे हैं कि उसका भाग्य धन्य हो जाता है जिसे इस प्रकार 'केवल कुम्भक' प्राप्त हो जाये। इस 'केवल कुम्भक' की सिद्धि कब प्राप्त होती है ? या यह कब सिद्ध होता है ? इसकी व्याख्या करते हुए उसका निर्दिष्ट प्रमाण देते हैं कि—"**दशलाख एकसठ हजार प्राणायाम में केवल कुम्भक सिद्ध होता है।**" योगी प्रतिदिन निरन्तर प्राणायाम करते-करते जब उक्त संख्यक प्राणायाम करने में समर्थ होंगे तभी उन्हें अपने आप ही 'केवल कुम्भक' की सिद्धि प्राप्त हो जाएगी। अर्थात् वह केवल कुम्भक अवस्था ही उसकी स्वाभाविक अवस्था होगी। उसे चाहे इस जन्म या जीवन में करो अथवा दो तीन जन्मों में करो। इस कर्म को कौन करेगा ? इस सन्दर्भ में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।'

गीता : ४।२१

अर्थात् जो इस शरीर के द्वारा यह 'केवल' नामक कर्म करते हैं वे निष्काम जितात्मा या यतचित्तात्मा और त्यक्त सर्व परिग्रह होने से पाप से ग्रस्त नहीं होते ।

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि भगवान ने 'केवल कर्म' को ही वास्तविक कर्मयोग की संज्ञा दी है । और इसी को अन्य स्थल पर 'सहज कर्म' कहा है इसलिए जो 'केवल कर्म' है वही सहज कर्म है और वही कर्मयोग है ।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से सभी मानव जाति को इस कर्मयोग के अवलम्बन करने का उपदेश दिया है । किन्तु इस कर्म को कैसे करना चाहिए । इसका स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध में भगवान ने संक्षेप में स्पष्ट करते हुए कहा है । संक्षेप में कहने का उद्देश्य यह है कि यह गुरुमुखी विद्या है पुस्तक पढ़कर इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।।

गीता : ४।२९/३०

अर्थात् कोई-कोई प्राणवायु का अपानवायु में और अपान वायु का प्राणवायु में होम करते हैं । इस प्रकार अभ्यास करते-करते 'केवल' नामक कुम्भक द्वारा प्राण की गति रुद्ध होती है अर्थात् प्राणायाम परायण होकर रहते हैं । अन्य कोई-कोई इस प्रकार प्राणायाम-परायण होकर इन्द्रियों की वृत्तियों का संयमन करके प्राण को प्राण में होम करते हैं अर्थात् ओंकार क्रिया करते हैं । यही वास्तविक होम कहलाता है । ऐसा करते-करते वे—

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। गीता : ५।२७

अर्थात् रुप-रस आदि बाहरी विषय-समूह को बाहर रखकर दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य रखकर (शाम्भवी मुद्रा में) नासाभ्यन्तरचारी होते हैं (अर्थात् नासिका के भीतर-भीतर ही श्वास-प्रश्वास का संचरण होता है) प्राण-कर्म नासिका के रास्ते से अजपा रूप में अविराम चल रहा है । प्राण कर्म द्वारा अथवा प्राणायाम के माध्यम से देह के भीतर स्थित सभी वायु को स्थिर करके उसकी ऊर्ध्व या निम्न गति को स्वतः रहितकर

नासिका के भीतर ही संचरण करते हैं। १८७१ ई० में आषाढ़ शुक्लपक्ष की नवमी के दिन योगिराज ने अपनी साधना की उपलब्धि की चर्चा की है—**"आँख ऊपर स्थिर हो गिया ब्रह्म देखने लगा—श्वासा भितर भितर चलेने लगा मन स्थिर भया—प्रणाम करिया बिन्दि आँख के उपर २ हात तफात के थोड़ी पिछेके प्रणाम के बखत् खालि आँख से देखा सबेरे देखा, सबेरे के बखत् आव प्रणाम करने को एरादा नाहि करता आपने आप प्रणाम होता हय—भितर-भितर जिह्वा गले के भितर बैठ गया।** अर्थात् अब उनकी दोनों आँखें ऊपर स्थिर हो गई है—स्पन्दन रहित हो गई है—(यह शाम्भवी अवस्था है) इसी स्थिति या मुद्रा में वे ब्रह्म का दर्शन कर रहे हैं। इस समय श्वास की गति सुषुम्ना के भीतर संचरणशील है। इसीलिए मन निरोध की स्थिति में स्थिर हो गया है। सुबह के वक्त प्रणाम करते समय खुली आँखों से दो हाथ की दूरी पर बिन्दु का दर्शन किया। किन्तु अब उनका मन, मन में स्थित होने और प्रणाम करने की भी इच्छा नहीं रखता। अपने आप ही स्वयं ही स्वयं को प्रणाम निवेदित हो रहा है। कण्ठकूप में स्थित तालु के छिद्र में जिह्वा बैठ गई है। इस स्थिति या अवस्था में किसी प्रकार की इच्छा अथवा चिन्ता नहीं होने से दुई अथवा द्वैत नहीं एवं द्वैत न रहने पर कौन किसको प्रणाम करेगा? सर्वं ब्रह्ममयं जगत हो जाने से अपने आप स्वयं को ही स्वयं प्रणाम किया जा रहा है। प्रणाम करने से ही द्वैत की स्थिति होती है। ऐसा होने पर प्राण-कर्म अथवा आत्मकर्म को ही वास्तविक कर्मयोग अर्थात् इड़ा और पिंगला का कार्य जीव-देह में निरन्तर जारी है। उसकी बहिर्मुखी गति को अन्तर्मुख करके दोनों का मिलन करवाना या मेल स्थापित करने को ही कर्मयोग की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार "सर्वचिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते" यह 'ज्ञानसंकलिनी तंत्र' की अवधारणा है। अर्थात् समस्त प्रकार की चिन्ताओं के परित्याग को ही योग कहते हैं। अन्य स्थल पर ऋषि ने कहा है—**"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (पातंजल योग-सूत्र : समाधिपादः २)** अर्थात् चित्तवृत्तियों की निरोध-अवस्था ही योग है। प्राणकर्म करते-करते वायुस्थिर होने पर चंचल प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण स्थिर होने पर ही वर्तमान चचल मन भी स्थिर होकर मन के भीतर स्थित मन में अवस्थित होता है। उस स्थिति में वर्तमान चंचल मन की अनुपस्थिति में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। इस प्रकार की चिन्ता-शून्य अवस्था को ही कर्मयोग कहते हैं। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगी होने का उपदेश देते हुए कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥ गीता : ६।४६

अर्थात् मेरे विचार से योगी, तपस्वियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, ज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, कर्मियों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन ! तुम योगी बनो। क्योंकि एकमात्र योगी ही इड़ा पिंगला का मिलन कराकर स्थिर साम्यावस्था या कर्मातीत अवस्था प्राप्त करते हुए परमात्म तत्त्व रूप विज्ञानपद में निरन्तर स्थिति प्राप्त करने में सक्षम होता है। योगी में ही स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने की क्षमता है। इस आत्मकर्म द्वारा आत्मा के साथ परमात्मा के मिलन के लिए अर्थात् स्थिति प्राप्ति की अभ्यास-क्रिया को ही अभ्यास योग कहते हैं।

दूसरे एक भक्त ने पूछा "शास्त्र का कथन है कि जीवों के प्रति दया करने से ईश्वर की सेवा हो जाती है तो फिर कृपा करके यह बतलाएँ कि किस प्रकार से जीवों के प्रति दया करना सम्भव है ? योगिराज ने कहा—जीवों पर दया करना, ईश्वर की सेवा करने के समान है, यह पूर्ण सत्य है। किन्तु तुम लोग जीव पर दया करने का जो अर्थ समझते हो वह वास्तविक दया नहीं है और उस पर दया करने से आत्मज्ञान नहीं होता। साधारणतः तुमलोग, दीन-दुखी, अनाथ, आतुर व्यक्ति के प्रति अर्थ, अन्न, कपड़ा, औषधि इत्यादि द्वारा दया या सेवा का प्रदर्शन करते हो। इस तरह या इस रूप में जीव के प्रति प्रकृत या वास्तविक दया या सेवा नहीं होती; क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं है। और जिसने दया का प्रदर्शन किया उसे भी आत्मलाभ नहीं होता। इससे तो जीव-देह के प्रति केवल सामयिक दया-प्रदर्शन किया जाता है जीव की देह तो जीव नहीं है। इसके अतिरिक्त आज जिस किसी के जिस भी प्रयोजन के लिए दया-भावना से कार्य किया गया, भविष्य में उसके उसी प्रयोजन की पुनरावृत्ति हो सकती है। जिस प्रकार क्षुधार्त्त या भूख से पीड़ित व्यक्ति को एक बार अन्न देने पर उसे फिर भूख तो लगेगी ही इसके अतिरिक्त क्षुधा तो देह का धर्म है। ऐसी सेवा से देह की सेवा की जाती है ईश्वर की नहीं। यह सत्य है कि ईश्वर का वास इसी देह में है किन्तु देह की सेवा करना देह के भीतर स्थित ईश्वर की सेवा करना नहीं है। जिस प्रकार जीर्ण मन्दिर का संस्कार या पुनर्निर्माण करना मन्दिर में स्थित देव-देवियों की पूजा करना नहीं है। इसी प्रकार दया से उसके भवरोग या सांसारिक आपदाओं का निराकरण नहीं होगा। फिर भी सामाजिक आचार-विचार या रीति के अनुसार इस प्रकार की दया अवश्य करनी चाहिए। किन्तु शास्त्र ने इस रूप में जीव के प्रति दया करने को नहीं कहा है। शास्त्रोक्त मर्म या रहस्य को समझने के लिए यथार्थ या वास्तविक जीव-दया किसे

कहते हैं इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए पहले 'जीव' की परिभाषा को समझना होगा। प्राण मूलतः स्थिर है; किन्तु वह स्थिर प्राण जब चंचल होता है तभी उसे जीव की संज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् देह के भीतर प्राण की चंचल अवस्था को ही जीवन कहते हैं। वह जीवन जब तक वर्तमान रहता है या जबतक प्राण की चंचल अवस्था है तभी तक जीव को जीवित कहा जाता है। इस प्रकार जीव-दया के अर्थ में प्राण की उस चंचल अवस्था के प्रति दया करने से ही ईश्वर की सेवा करने का अर्थ जुड़ा है तात्पर्य यह है कि प्राण-कर्म या प्राणायाम द्वारा चंचल अवस्था के प्रति दया करके उसे स्थिर प्राण में पुनः प्रतिष्ठित या रूपान्तरित करना ही वास्तविक ईश्वर सेवा है। क्योंकि स्थिर प्राण ही ईश्वर है। उस स्थिर प्राण की सेवा करने के लिये चचल प्राण को ही माध्यम बनाना पड़ेगा। जिस प्रकार काँटे से ही काँटा निकलता है। प्राण की सेवा प्राण के ही द्वारा सम्भव है। वाह्य वस्तुओं द्वारा प्राण की सेवा सम्भव नहीं। **"तन-मन वचन कर्म लगावे—इसी को अहिंसा कहते हय।"**—देह मन वचन और कर्म इन चारों को एकत्र करने अर्थात् स्थिर करने से जिस अवस्था का उदय होता है उसे अहिंसा कहते हैं। **वचन = व शब्द से कंठ, च शब्द से चक्षु, न शब्द से नासिका का ग्रहण होता है। नासिका द्वारा जो श्वास आ रहा है उसे कंठ द्वारा लक्ष्य करके बोलना।** कर्म का अर्थ है प्राणकर्म। इस प्रकार अहिंसा प्राणकर्म सापेक्ष है। उस समय तन मन वचन से सभी कर्मों में हिंसा का न होना ही अहिंसा है।

योगिराज सभी पदार्थों या सर्वभूतों में ईश्वर का दर्शन करते। इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है **"एइसा छाया-पुरुष घट-घट मे देखा—।"** छाया-पुरुष अर्थात् उत्तम-पुरुष और वही पुरुषोत्तम नारायण हैं, उन्हें ही पुराण-पुरुष कहते हैं। वे सभी घटों में अर्थात् सभी देहों में विद्यमान हैं। योगिगण उन्हें अपलक दृष्टि से देखते हैं।

१२ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—**"एक आदि पुरुष खड़ा देखा। आदि पुरुष सून्य में-।"** अर्थात् महाशून्य में एक आदि पुरुष को खड़ा हुआ देखा। उसके बाद लिखा है—**"चाँद मे ओहि पुरुषोत्तम का रूप रातभर देखा कभि हाथ पैर भि हय।"** कूटस्थ में जो चन्द्र दिखाई पड़ता है उसी चन्द्र के भीतर उस पुरुषोत्तम के रूप को रातभर देखा। कभी-कभी हाथों और पाँवों को भी देखा। **"नक्षत्र एक आदमि के छाति के भितर देखा"**—एक व्यक्ति के वक्ष के भीतर उस ध्रुवतारा को देखा।

"ओ के भजन करे साधन करे के कार किबा करे
ओ कि सादा मानुषटि ओ कि कालो मानुषटि
ओजे सादार ऊपर कालो साजे एमन मानुषटि।"

• • •

"भेलकी लागे देखले तारे
तारे—तारे डाको तारे
ओंकारेर पर ज्योति आकारे
से जे आछे साकार निराकारे।"

सफेद और काले से परे या ऊपर जिसे देखने से इन्द्रजाल अथवा बाजीगरी की प्रतीति होती है—वह मनुष्य कौन है, उसे किस प्रकार जाना जा सकता है ? योगिराज ने कहा है—**'स्थिर बुद्धि से मालुम होता हय—ज्योति स्वरूप बड़ा नेसा बड़ा आनन्द। ओंकार द्वारा जाहा जानिते इच्छा करे ताहा तार हय।"** अर्थात् स्थिर बुद्धि के द्वारा उसका अनुभव होता है—वह ज्योतिस्वरूप है उस में बेहद नशा है, अत्यन्त आनन्द या परमानन्द की अनुभूति होती है जो ओंकार द्वारा जानना चाहते हैं उन्हें उसका अनुभव होता है।

उनकी गुरु-भक्ति असाधारण थी। उन्होंने कभी गुरु के पास जाकर उनका दर्शन किया हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् दीक्षा के पश्चात् उन्होंने गुरु का स्थूल शरीर में दर्शन किया हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उनके द्वारा लिखी १४ वर्षों की डायरी में अपने प्रिय गुरु बाबा जी महाराज के साक्षात्कार करने का कोई उल्लेख नहीं है। उन्होंने डायरी में प्रायः प्रतिदिन की घटनाओं को लिखा है। यदि उन्होंने बाबा जी से स्थूल शरीर में कहीं अन्य स्थान पर या घर पर भेंट की होती तो उसके बारे में अवश्य ही लिखा होता। किन्तु वे साधना के माध्यम से अपने प्रिय गुरु बाबा जी से मिला करते थे, इस प्रकार की अनेक घटनाओं को उन्होंने लिपिवद्ध किया है। इसलिए यदि बाबा जी ने उन्हें सशरीर दर्शन दिया होता तो वे निश्चित रूप से कम से कम एकाध बार उस घटना का उल्लेख करते। किन्तु कहीं भी इस तरह का प्रमाण नहीं मिलता। १८७३ ई० १७ मई को ३ नम्बर की डायरी में एक मनुष्य की मुखाकृति का अंकन करके उसके नीचे उन्होंने लिखा है—**"बाबा जी के रुप एहि जम ओ धर्म।"** यह बाबा जी का रूप है ये ही यम हैं, ये ही धर्म हैं। उसके कई माह पूर्व उसी तीसरी डायरी में

१८७२ ई० १३ दिसम्बर को जब वे दानापुर में रहते थे..लिखा है—**"जब प्राणवायु सिर के उपर चढ़ा तब बाबा जी से मिला, जब बाबा जी से मिला तब केया नहि कर सकता हय·· ···।"** अर्थात् साधना करते-करते जब प्राणवायु मस्तक के ऊपर उठ गया तब बाबा जो से मिला और जब बाबा जी से मिला तो लगा कि क्या नहीं कर सकता इस प्रकार का अनुभव हुआ अर्थात् कोई कार्य असाध्य नहीं रह गया।

अपने गुरु बाबा जी महाराज के सम्बन्ध में उनका परिचय देते हुए १८७३ ई० १६ फ़रवरी को लिखी अपनी तीसरी डायरी में उन्होंने लिखा है—**"जो किसुन सो बुड़ुआ बाबा"** अर्थात् जो कृष्ण हैं वहीं बूढ़ा बाबा अर्थात् बाबा जी महाराज हैं। इस से प्रमाणित होता है कि उनके गुरु केवल साधारण साधक नहीं हैं, वे ही साक्षात् कृष्ण हैं।

नौ नम्बर की डायरी में १८७१ ई० पौष शुक्ल पक्ष अष्टमी (तारीख़ नहीं है) को काशी में रहते समय लिखा है—**"खोद बाबा जी कालडंड लिए उपर सूर्य चन्द्रमा के भीतर देखलाई दिया··।"** अर्थात् स्वयं बाबा जी कालदण्ड के साथ ऊपर सूर्य-चन्द्र या आत्मसूर्य के भीतर दिखाई दिये।

उसी नौ नम्बर की डायरी में १८७२ ई० चैत्र कृष्ण पक्ष पंचमी (तारीख नहीं है) को काशी में रहते समय साधना के माध्यम से उन्होंने अपने प्रिय गुरुदेव के साक्षात्कार के बारे में एक अपूर्व वर्णन लिपिवद्ध किया है—**"गुरु का आदर भाओ सुषम्ना जागा, बिच-बिच में आओत हेय कभि कभि ज्योत मालूम होत हेय खालि आखछे सुषम्ना देखा जागरित सपन सुषुप्ति गुरु से बातचित भया।"** अर्थात् गुरु का आदर-भाव सुषुम्ना जगी, बीच-बीच में अर्थात् एक अन्तराल पर आ रही है, कभी-कभी ज्योति का अनुभव हो रहा है खुली आँख से सुषुम्ना को देखा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ बातचीत की।

योगिराज के साले के पुत्र प्रोफेसर तारकनाथ सान्याल उनसे ही दीक्षा प्राप्त करके साधना के उच्च स्तर पर पहुँचे थे। उन्होंने एक दिन योगिराज से कहा—"अपने गुरुदेव महायोगी बाबा जी महाराज को एक बार लाइए हम उन्हें देखना चाहते हैं।

उत्तर में योगिराज ने कहा था कि "बाबा जी से पूछने के बाद बताऊँगा।" कई दिन बाद उन्होंने तारकनाथ बाबू को बताया कि बाबा जी की आने की इच्छा नहीं है।"

इन सब बातों से पता चलता है कि बाबा जी महाराज सशरीर कभी भी योगिराज के निकट नहीं आए। बाबा जी अपने दल के किसी साधु-संन्यासी को बीच-बीच में योगिराज के पास दीक्षा की एकत्र राशि

लाने के लिए भेजते। इस कारण लोगों को भ्रम है कि बाबा जी स्थूल शरीर धारण करके योगिराज के निकट आते थे। लेकिन योगिराज की लिखी डायरी से यही प्रमाणित होता है कि बाबा जी महाराज कृष्ण-सदृश अवतार विशेष हैं। ऐसे महायोगियों को संदेह आने की आवश्यकता नहीं पड़ती। विशेष रूप से श्यामाचरण को दीक्षा देने के समय उन्होंने वचन दिया था कि जब आवश्यकता होगी वे स्वयं आकर उन्हें आध्यात्मिक भूमि पर दर्शन देंगे। इसलिए उन्होंने श्यामाचरण को साधना के माध्यम से अनेक बार दर्शन देकर कृतार्थ किया है; यही ठीक लगता है और सही है। और श्यामाचरण ने भी अपनी चौदह वर्षों में लिखित डायरियों में बार-बार उल्लेख करते हुए इस बात की पुष्टि की है।

योगिराज की लिखी डायरियों में उनकी स्वरचित ४६ रचनाएँ गीत, कविता, दोहा रूप में लिपिबद्ध है। इनके ऊपर अथवा नीचे कभी 'श्यामाचरण' कभी 'श्यामा' और कभी 'श्या' लिखकर लेखक के नाम का संकेत दिया है। वहीं से कुछ रचनाएँ ज्यों की त्यों उद्धृत की गई हैं। वास्तविक गुरु-भक्ति की परिभाषा क्या है एवं गुरुनाम क्या है, इस सम्बन्ध में एक सुन्दर गीत-रचना के माध्यम से सम्पूर्ण साधनतत्व एवं उसके मर्म की अभिव्यक्ति देखिए।

गुरु नाम सदा निए जा मजा
देखे जा सदा ध्वनि सुने जा
चोर कुठरीर भीतर मजा
लूटे जा बूकेर जोरे
आत्माराम के रामनाम सुनाए जा
जे जाबार जाक बए
तुइ आपन कर्म करेजा—
तोर होबे भालो शेषेतुइ स्थिर
घरे चले जा।

संसार रूपी इस अरण्य या महावन में रहकर महायोगियों को भी अपने मन पर शासन करना पड़ता है योगिराज ने भी अपने मन पर शासन करके एक अपूर्व गीत-रचना को जन्म दिया था—

जेथाय आछे बड़ो मजा
आनन्देरई उड़ाइया ध्वजा
लोट तुमि सर्वागे मजा
ताहार नाइ अन्त
मन चले जा तुइ आगे, बेड़े चले जा

सुख निश्चय होबे अभय पद पाबे
देखे सुने पाबे बड़ो मजा
श्री श्यामाचरण भने सदा
रेखो सवायु मने
इहातेइ अन्ते होबे मजा।

साधारण लोग समझते हैं योगी साधरणतः नीरस होते हैं, प्रेम से उनका क्या वास्ता; किन्तु श्यामाचरण वैसे योगी नहीं थे। वे एक महान प्रेमी -योगी थे। ईश्वर-प्रेम किस प्रकार और किस रूप में प्राप्त हो, इसके सम्बन्ध में एक मनोरम गीत रचना उन्होंने की है—

प्रेमेर घर कोथाय बल दिकिन
प्रेम की एमनि मेले
मेहनत कर किछु दिन
हाते-हाते चाँद पाबे,
मिलन होबे जे दिन
दीन भावे थेको सदा
आनन्दे रात दिन
आनन्देर नाइको सीमा
ताकाओ येमन मीन
काला चाँदेर प्रेमे पड़े
होबे नाको क्षीण
केनो बेड़ाओ ए दिक ओ दिक
ओ रे बुद्धिहीन ॥

काशी क्या है, काशी की स्थिति कहाँ है और विश्वनाथ किसे कहते हैं इस सम्बन्ध में उनकी दो गीत-रचना हैं वे कितनी सुन्दरता के साथ आध्यात्मिक अर्थ को उजागर करती हैं।

साधेर प्रेमेश्वरी दीप्यमान हरी
आसेन जान खुशी यखन देखान चमत्कारी
हरि बिना नाइको गति ब्रजेश्वरी
जगतमय देखि आमि व्यापक हरी
हरि जानेन कतो रंग भवेर कांडारी।
हरिर ऊपर हर आछेन त्रिपुरारी
धन्य त्रिपुरारी काशीर स्थिति त्रिशूलोपरि
जेखाने सब किछु नाइ दिवाशर्वरी।

● ● ●

मेरो मन आनन्द कानन काशी
जाहाँ विराजै सदा आनन्द शशी
अध: ऊर्ध्व बिच स्थिर घर हय
जहाँ खड़े विश्वनाथ अविनाशी।

योगिराज अनेक बार कबीर दास के नाना दोहों का उल्लेख करते हुए भक्तों को तत्त्व की बातें समझाते थे। कबीर की साधना एवं योगिराज की साधना में प्रायः समानान्तरता दिखाई देती है। इसी कारण उस समय जनश्रुति थी कि कबीरदास ही उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर श्यामाचरण लाहिड़ी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इस सम्बन्ध में यथेष्ट तथ्यात्मक प्रमाण न प्राप्त होने के बावजूद उन्होंने स्वयं डायरी में एक जगह लिखा है—"**जो कबिरा, सोइ सूर्य सोइ ब्रह्म सोइ हम।**" अर्थात् जो कबीर है वह आत्म सूर्य है वही ब्रह्म है वही मैं हूँ। फिर लिखा है—"**जो कबिरा सूर्य का रूप सोइ अविनाशी ब्रह्म सोइ हम।**" अर्थात् जो आत्मसूर्य रूपी कबीर, वही अविनाशी ब्रह्म है—फिर वही मैं हूँ। दूसरे स्थान पर लिखा है—'**काया के बीर कबीर याने श्वासा।**" काया अर्थात् देह। इस देह की प्रधान शक्ति ही श्वास है और वह श्वास रूपी शक्ति ही कबीर है। और एक जगह लिखा है—"**सत्ययुग में कबीर साहेब का नाम—सत्य सुकृत; त्रेता में मुनीन्द्र; द्वापर में करुणामय; कलियुग में कबीर।**" इसलिए उनकी इन समस्त उक्तियों से यह प्रमाणित होता है कि वह जनश्रुति सही थी—जो कबीर वही श्यामाचरण। हालांकि परवर्ती काल में अनेक लोगों ने कबीर शब्द का जीवात्मा के अर्थ में भी प्रयोग किया है। वे अपने विगत जन्मों की समस्त घटनाओं के बारे में जानते थे उसका और भी प्रमाण उनकी डायरी में मिलता है। जैसे उन्होंने एक जगह लिखा है—"**मेरी पत्नी पूर्व-जन्म में बहन थी, उसके भीतर स्वयं को प्यार करो।**"

● ● ●

योगिराज प्रतिदिन की तरह उस दिन भी अपने कमरे में ध्यानमग्न अवस्था में बैठे हैं। वे साधारणत: प्रात:काल किसी से भी नहीं मिलते थे। किन्तु उस दिन एक भक्त अत्यन्त प्रयोजनीय कार्यवश उनसे मिलने के लिये आए और दरवाजे से ही उन्हें ध्यानमग्न अवस्था में देखकर वहीं से उन्हें प्रणाम करके निकट ही स्थित दशाश्वमेध बाजार

में कुछ खरीदने की दृष्टि से चले गए। बाजार करते-करते भक्त ने देखा कि कुछ दूर पर उनके गुरु योगिराज भी बाजार कर रहे हैं। भक्त ने सोचा शायद यह उनका भ्रम है। अच्छी तरह देखा। नहीं—भ्रम तो नहीं है यही तो मेरे आराध्य गुरु महात्मा श्यामाचरण हैं। किन्तु मन सहजता-पूर्वक स्वीकार नहीं करना चाहता। इसीलिये वे पुनः सन्देह दूर करने के लिए गुरु के घर की ओर रवाना हो गए। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि वे पूर्ववत ध्यानमग्न बैठे हैं। भक्त ने अपनी भूल समझ कर उन्हें दण्डवत प्रणाम करके कहा—"प्रभु! तुम्हारी लीला समझना मुश्किल है; तुम्हारी लीला तुम्हीं जानो। मेरे जैसे अकिंचन क्षुद्र व्यक्ति के लिए उसे जानना मात्र धृष्टता है।"

योगिराज एक ही समय में विभिन्न स्थानों पर विचरण करते। ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं। सिद्ध, मुक्त एवं सदा ब्रह्मयुक्त महायोगियों के पक्ष में यह कोई असम्भव कार्य नहीं है। इस प्रसंग में योग-दर्शन के व्यास भाष्य में योगज कार्य व्यूह के प्रमाण एवं उपाय की चर्चा है।

एक भक्त काशी से कई मील दूर रहते थे। एक दिन वे बैलगाड़ी से सपरिवार अपने गुरुदेव का दर्शन करने के लिए काशी की ओर रवाना हुए। बीच रास्ते में गाड़ी का चक्का टूट गया। गाड़ी आगे बढ़ नहीं पाई। गाड़ीवान की अनेक चेष्टाओं के बावजूद चक्के की मरम्मत नहीं हो पाई। भक्त सपरिवार बहुत चिन्तित थे; क्योंकि काशी अभी यहाँ से तीन-चार मील दूर है फिर शाम के पहले न पहुँचने पर रास्ते में लुटेरों का भी डर है। अतः उन्होंने उस विपद से उद्धार पाने के लिए अपने दयालु गुरु की आकुलता पूर्वक प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। तभी अचानक दोनों बैलों ने गाड़ी खींचना शुरू कर दिया। सबने देखा कि गाड़ी सही-साबूत चल रही है। इस अप्रत्याशित घटना से सचमुच सभी को आश्चर्य हुआ, किन्तु उस ओर कोई विशेष ध्यान न देकर सभी सायंकाल तक योगिराज के मकान के निकट आ पहुँचे। उसके बाद उन लोगों ने गुरुगृह में प्रवेश किया और उन्हें प्रणाम करके एक ओर बैठकर पथ की बाधाओं के बारे में गुरु के समीप बार-बार चर्चा करने लगे। प्रत्येक बार गुरुदेव ने कहा—"हुँ"। भक्त ने सोचा शायद गुरुदेव का ध्यान इधर न होने से वे उसकी बात ठीक से नहीं सुन रहे हैं इसलिये उन्होंने रास्ते की भयानक मुसीबत के बारे में पुनः निवेदन किया। तब योगिराज ने कहा—"देखते नहीं हो, पसीने-पसीने हो गया हूँ? थोड़ी हवा करो, तुम्हारी गाड़ी को ठेल-ठेलकर कौन लाया?

विपत्ति में फँसे भक्त के प्रति गुरुदेव की असीम करुणा की बात सोचकर भक्त की आँखों में आँसू आ गए। एवं उपस्थित अन्यान्य भक्त विस्मय में पड़ गए। वे संकटापन्न भक्तों के संकट का मोचन अनेक प्रकार से करते थे। ब्रह्मज्ञानी पतित पावन महायोगियों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है, यह सत्य है; किन्तु वे हर समय अपनी अलौकिक विभूति को दिखाना नहीं चाहते। किन्तु प्रयोजनवश अथवा दीनदुखी आर्त्त शरणागत शिष्यों की कातर प्रार्थना पर ये सब ईश्वर-प्रेरित महापुरुष पर दुःख से कातर होकर उनके दुखों, कष्टों को दूर करने की चेष्टा करते हैं। योगिराज को भी ऐसा करते अनेक बार देखा गया है।

और एक दिन की बात है। किस प्रकार प्रकृति जयी योगीराज गृहस्थाश्रम में रहकर भी घर-संसार एवं देहबोध के प्रति सर्वदा निर्लिप्त रहते। प्रतिदिन की तरह उस दिन भी सुबह गंगा-स्नान के पश्चात् घर वापस आते समय रास्ते में उनसे एक व्यक्ति ने कहा—"आपका पैर कट गया है खून बह रहा है।"

योगिराज ने कपड़े के एक टुकड़े से घाव को बाँधा और यथारीति घर आकर अपने कमरे में समाधिस्थ हो गए। कई घण्टे बीत गये। घर के लोगों ने उनके बगल से आते-जाते समय देखा कि खून की एक पतली रेखा नाली से होकर बाहर की ओर जा रही है। उनलोगों ने देखा कि जिस घर में योगिराज समाधिस्थ हैं उस घर से खून की धार आ रही है वे लोग उत्सुकतावश घर में आए। बहुत बार जोर-जोर से बुलाने पर जब उनकी समाधि टूटी तो पूछा कि शरीर में कहीं कोई चोट आई है क्या?

योगिराज को कुछ याद नहीं इसीलिए उन्होंने कहा—"कहीं तो कोई चोट नहीं या कुछ कटा-फटा नहीं है।" उन लोगों ने फिर पूछा—तो फिर खून कहाँ से आ रहा है?

अकस्मात् महायोगी को याद आया। उन्होंने कहा—"गंगा-स्नान करके लौटते समय पाँव कट गया था; किन्तु उसे तो कपड़े से बांध दिया था।" उसके बाद घाव की जगह दिखाई पड़ा कि पाँव की उँगली कट गई है और उन्होंने दूसरे पाँव की उँगली को बाँध रक्खा है और घाव से बराबर खून बह रहा है। ऐसी ही उनकी देहातीत अवस्था थी।

इस विषय में वे भक्तों से कहा करते थे—"प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते प्राणवायु जब सर्वदा के लिये माथे में चढ़कर बैठ जाती है तब योगियों को देहबोध नहीं रहता। तभी योगी कूटस्थ में ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करके योगारूढ़ की अवस्था प्राप्त करते हैं और सदा ब्रह्ममय या ब्रह्मयुक्त स्थिति में रहते हैं एवं घर-संसार की भावना से निर्लिप्त रहते हैं। चेष्टा करने से तुम लोग भी इस स्थिति को प्राप्त कर

सकते हो।" इसके अतिरिक्त वे यह भी कहा करते थे कि "क्रिया से परे की स्थिति या कर्मातीत अवस्था में रहकर सारे कार्य करो।" जिस प्रकार राजस्थानी ग्रामीण महिलाएँ सर पर पानी भरा घड़ा रखे हँसी-मज़ाक करती हुई चलती हैं; किन्तु मन घड़े की ओर ही रहता है ताकि वह कहीं गिर न जाए और हाथ का सहारा देकर उसे गिरने से रोक लें। वैसे ही कूटस्थ में मन को स्थित करके सारे कार्य करो। किन्तु यह ध्यान में रक्खो कि बिना अनुशीलन या अभ्यास के जिस प्रकार बिना सहारा दिए सर पर उस प्रकार घड़ा लेकर नहीं जाया जा सकता उसी प्रकार साधना के बिना कूटस्थ में मन को स्थित करके सारे कर्म नहीं किए जा सकते। वह प्राणायाम सापेक्ष है अर्थात् यह सब कुछ प्राणकर्म या प्राणायाम से सम्बन्धित है।

योगिराज के घर के पास ही थोड़ी दूर उनके एक प्रिय शिष्य रहते हैं। शिष्य की आन्तरिक इच्छा है कि गुरुदेव को अपने घर बुलाकर परितृप्ति पूर्वक भोजन करायें। एक दिन उन्होंने गुरुदेव के निकट अपनी इच्छा व्यक्त की और गुरुदेव राजी हो गए। शिष्य ने अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों-व्यंजनों के साथ मछली की तरकारी भक्तिपूर्वक प्रचुर मात्रा में गुरुदेव को खाने के लिए दिया। योगिराज ने भी आनन्द पूर्वक जितना खाया जा सका खाया। बाक़ी बची सामग्री उठाकर फेंक दिया। भक्त की इच्छा थी कि गुरुदेव के पत्तल पर कुछ प्रसाद बचेगा तो वह गुरु-प्रसाद घर के सभी लोग ले लेंगे। इसी विचार से उन्होंने खाने के लिए कुछ अधिक परोसा था। किन्तु गुरुदेव ने बाकी बचे खाने को फेंक दिया यह देखकर सभी चुप रहे। हाथ-मुँह धोने के बाद योगिराज ने अकस्मात् ही कहा—"पत्तल का प्रसाद खाने से कोई लाभ नहीं। देखो, इसके सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने कितना स्पष्ट कहा है—"**प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।**"१ (गीता : २।६५) प्रकृत या असली प्रसाद से सभी दुखों का नाश होता है; मगर वह प्रसाद क्या है, जानते हो? वह प्रसाद, आत्मप्रसाद है। प्राण की चंचलता के ही कारण तमाम हानि, दुःख कष्ट होते हैं। प्राणकर्म या प्राणायाम के द्वारा प्राण की ऊर्ध्व एवं निम्न या अधःगति में जब चंचलता नहीं रहती तब कर्मातीत अवस्था या कर्म की निवृत्ति-अवस्था रूपी स्थिरत्व प्राप्त होता है उसे ही आत्मप्रसाद कहते हैं। वह आत्मप्रसाद जब प्राप्त होता है तभी जीव के समस्त प्रकार के कष्ट दूर होते हैं और प्रसंन्नचित्तता की प्राप्ति होती है। तुम लोग वही प्रसाद प्राप्त करने की चेष्टा करो।" इस प्रकार वे कभी भी किसी को भी अपना उच्छिष्ट या जूठन खाने नहीं देते थे। योगिराज ने अपनी दिनलिपि या डायरी में लिखा है—

"गले में मिठा रस उपर से निचे गिरता नाक से लहुगि गले के भितर से खोकि के सात–इसिका नाम अमृत—इसिको पिने से अमर होता हय।" अर्थात् जीभ को उपर की ओर उठाकर तालु रन्ध्र में लगाकर प्राणकर्म करते-करते गले के भीतर मीठे रस का अनुभव किया जो ऊपर से अर्थात् सहस्रार से नीचे आ रहा है जो गले और नाक के मध्य भाग में खाँसते समय प्रवेश करता है—इसी का नाम अमृत है। इस अमृत का पान करने से अमरता प्राप्त होती है। देवताओं ने समुद्र मंथन के समय इसी अमृत का पान किया था। देवता यानी क्रियावान मनुष्य उत्तम क्रिया करके इस अमृत का पान कर अमरपद प्राप्त कर लेते हैं।

वहीं उनके एक दूसरे शिष्य भी उपस्थित थे। उनकी भी इच्छा थी कि गुरुदेव को एक दिन मध्याह्न भोजन या दोपहर के खाने पर अपने घर आमन्त्रित करेगे। गुरुदेव के राजी हो जाने पर शिष्य ने नाना प्रकार के मछली आदि के स्वादिष्ट व्यंजनों को भक्ति पूर्वक उनको खाने के लिए दिया और पास ही बैठकर पंखा करने लगे। शिष्य ने बार-बार गुरुदेव को प्रसन्न करने के लिए यह कहना प्रारंभ किया कि "बाबा इलिश मछली का झोल या शोरबा खाइए, रोहू मछली का कलेजा खाइए, आदि-आदि—। दो चार बार इस प्रकार कहे जाने के बाद योगिराज अचानक खाना छोड़कर उठ गए। शायद कोई अपराध हो गया क्या, यही सोचकर शिष्य ने पूछा—"बाबा सारा खाना तो छोड़ दिया।" योगिराज ने कहा—" क्या मैं मछली खाता हूँ? मुझे मछली क्यों खाने को दिया? शिष्य ने हाथ जोड़कर डरते हुए कहा—'बाबा, मैंने तो उस दिन वहाँ उनके घर आपको मछली खाते हुए देखा था इसीलिए साहस करके मैंने मछली का प्रबन्ध किया था।"

योगिराज ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा—"मैंने मछली कब खाया मैं तो निरामिष भोजी हूँ।"

ये सारी घटनाएँ इस बात का प्रमाण है कि वे इसी तरह निर्लिप्त रहा करते थे। इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन जिघ्रन्नश्नन् गच्छन स्वपन स्वसन।
प्रलपन विसृजन गृह्णन्न् न्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

—गीता : ५।८-१०

अर्थात् कर्मातीत अवस्था रूप ब्रह्मयुक्त एवं आत्मतत्त्व ज्ञानी जो विशेष रूप से तत्वज्ञ हैं, वे दर्शन, श्रवण, स्पर्श भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, कथन त्याग-ग्रहण, उन्मेष-निमेष सारे कार्यों का सम्पादन करते हुए जानते हैं कि इन्द्रियाँ इन्द्रियगत विषयों में रत हैं या अपना कार्य कर रही हैं। इसको दृष्टि में रखकर ही ऐसा सोचते हैं कि 'मैं कुछ भी नहीं करता' और अहंकार रहित होकर कर्म में लिप्त नहीं होते। अर्थात् इन्द्रियों का कार्य इन्द्रियाँ तो कर ही रही हैं ऐसी धारणा दृढ़ होती है। इसी प्रकार जो ब्रह्म के प्रति समर्पित होकर या सर्वदा कर्मातीत अवस्था में रहने के कारण फलाकांक्षा को त्यागकर कर्म करते हैं वे सर्वदा स्थिर प्राणरूप ब्रह्म से युक्त रहकर पाप या पुण्य सम्बन्धी कर्मों द्वारा उसी तरह आसक्ति के वशीभूत नहीं होते—जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी पर रहकर भी पानी में लिप्त नहीं होता।

एक बार की घटना है। कलकत्ता के राजवैद्य गंगाधर सेन के छात्र कविराज परेशनाथ राय कलकत्ता से काशी आकर कविराजी चिकित्सा द्वारा काफी यश एवं धन का उपार्जन करने में सफलता प्राप्त की थी। वे कविराजी चिकित्सा के क्षेत्र में ही पारंगत एवं विख्यात नहीं थे बल्कि काव्य, व्याकरण, दर्शनशास्त्र आदि विषयों का भी गहरा अध्ययन किया था। जिससे उन्हें काफी यश प्राप्त था; इसीलिए उनमें काफी दम्भ या अहंकार भी था। योगिराज के साले राजचन्द्र सान्याल के साथ उनकी घनिष्ठता थी। उनके माध्यम से ही योगिराज के साथ परेश बाबू का परिचय हुआ। परेश बाबू नें चरक-संहिता पर एक टीका की रचना की थी। एक बार योगिराज के समक्ष उस टीका पर आलोचना हुई। उस समय वहां कई शास्त्रज्ञ पण्डित भी उपस्थित थें। टीका के किसी विशेष अंश के पाठ के पश्चात् अपना-अपना विचार प्रकट करते हुए पण्डितों ने उस टीका की उच्च प्रशंसा की। किन्तु योगिराज को मौन देखकर परेश बाबू ने पूछा—"टीका कैसी हुई, इस सम्बन्ध में आपने कुछ नहीं कहा ?"

योगिराज ने शान्त स्वर में धीरे से कहा—"सब कुछ गलत हुआ है।"

विख्यात अहंकारी परेश बाबू के सामने उनके मुँह पर इस प्रकार कोई उनका प्रतिवाद करे, किसी में भी ऐसा साहस नहीं था। सभी लोग चुपचाप एक दूसरे का मुँह देखने लगे। अपने आक्रोश को कुछ संयत करते हुए परेश बाबू ने कहा—"क्या आप चरक के सम्बन्ध में जानते हैं ?"

योगिराज ने मुस्कराते हुए कहा—"जो सही या यथार्थ है वह जानता हूँ।"

यह बात उन्हें तीर की तरह लगी। कई दिन इसी चिन्ता में कटे। अन्त में एक दिन योगिराज के पास आये और कहा—"मेरे शिक्षक अध्यापक कविराज गंगाधर सेन ने चरक पढ़ाते समय कहा था कि चरक के सम्बन्ध में जो जानता हूँ उतना पढ़ाया तो अवश्य; किन्तु इसका सही अर्थ एक मात्र योगी-पुरुषों को ही ज्ञात है। यदि ऐसे योगी से मिलने का कभी सौभाग्य प्राप्त होगा तभी इसके रहस्यार्थ को जान सकोगे।"[१]

इसके बाद परेश बाबू ने योगिराज की शिष्यता स्वीकार कर ली और उनके अनुगत शिष्य हो गये। परेश बाबू का कहना था कि वे केवल तीन के प्रति अपना सर झुकाते थे। वे तीन थे क्रमशः—प्रथम परमेश्वर जिसे वे जानते नहीं; द्वितीय उनके वैद्यगुरु गंगाधर सेन एवं तृतीय श्यामाचरण लाहिड़ी। और चौथे के प्रति उनका माथा कभी नहीं झुकेगा।

यही परेश बाबू अन्त में योग-साधना की उस भूमि पर प्रतिष्ठित हो गये थे जहाँ वे प्रायः समाधिस्थ हो जाते थे और उस समाधि को भग करने के लिए योगिराज को स्वयं उनके घर जाना पड़ता था। परेश बाबू ने सोचा, इससे उनके गुरु को कष्ट हो रहा है इसलिए उन्होंने योगिराज के निवास-स्थान के निकट ही एक मकान ख़रीदा और वहीं रहने लगे।

परेश बाबू ने देह-त्याग के पूर्व अपनी स्थावर सम्पत्ति का अधिकांश गुरु पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय के नाम स्वेच्छापूर्वक दान-पत्र के रूप में लिख दिया था।

योगिराज की एक महिला भक्त ने एक दिन योगिराज से उनकी फोटो प्राप्त करने का निवेदन किया। योगिराज ने अपना एक फोटो देकर कहा—"यदि इसे फोटो समझो तो यह केवल फोटो ही है और यदि रक्षा-कवच समझो तो रक्षा-कवच है।"

कई दिन पश्चात् उक्त शिष्या अन्य एक भक्त शिष्या के साथ मेज पर गीता रखकर पढ़ रही थी। सामने दीवार पर योगिराज का वही फोटो टँगा था। इसी समय प्रचण्ड वज्रपात (बिजली गिरने की आवाज) के साथ मूसलाधार वृष्टि प्रारम्भ हो गई। आंधी-पानी साथ-साथ। दोनो महिलाएँ भय से आक्रान्त होकर फोटो के सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगीं—"प्रभु (ठाकुर) इस विपद् से रक्षा करो।"

१-योगिराज ने बाद में चरक संहिता पर एक गम्भीर व्याख्या लिखकर उसके रहस्यार्थ को उद्घाटित किया था।

अचानक पास ही बिजली गिरी और दोनों महिलाओं को लगा कि वे झुलस गईं। बाद में दोनों महिलाओं ने बताया था कि उस समय बर्फ की दीवार से जैसे किसी ने उन्हें घेर रखा था।

इस प्रकार योगिराज हमेशा शरणापन्न भक्तों की रक्षा करते थे।

योगिराज के और एक प्रिय शिष्य पंचानन भट्टाचार्य काशी आकर योगिराज के यहां ही रह रहे थे। उस समय उन्होंने योग-क्रिया में ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली थी कि उनमें मनुष्य को परखने की क्षमता आ गई थी। एकदिन वे गंगास्नान के पश्चात् गुरु-गृह की ओर लौट रहे थे। जाते-जाते उन्होंने देखा कि उनके कुछ आगे-आगे एक अच्छे उच्च साधक व्यक्ति जा रहा है उनसे परिचय करने की दृष्टि से वे तेज चलने लगे। किन्तु उक्त व्यक्ति भी पीछे मुड़कर देखे बिना उसी तरह तेज-तेज चलने लगा। भट्टाचार्य महोदय ने ज्यों ही उनको पकड़ने के लिए दौड़ना चाहा त्यों ही वह व्यक्ति अदृश्य हो गया। उनके मन में एक अनुताप का भाव बना रहा। उन्होंने सोचा अपने गुरु के रहते हुए दूसरे महात्मा के पीछे दौड़ने का अपराध तो हो ही गया; मैं दोषी हूँ। वे इसी तरह की बातें सोचते हुए योगिराज के निकट ज्यों ही आए त्यों ही योगिराज ने उपहास करते हुए कहा—"आप क्या नहीं पकड़ सके ?[१]

अनुताप से पीड़ित भट्टाचार्य महाशय यह सुनकर काफी लज्जित हुए और योगिराज के चरणों पर गिरकर रोने लगे।
योगिराज ने कहा—"रोइए मत, वे आपके ही एक गुरुभाई हैं। आप यदि उन्हें देखना चाहते हों तो कहें; वे मेरे स्मरण करते ही आएँगे।"

भट्टाचार्य ने शान्त होकर कहा।—"मुझे अब देखना नहीं है।"

योगिराज ने मुसकराते हुए कहा—"वे आपके ही एक मुसलमान गुरुभाई हैं; वे किसी से मिलना नहीं चाहते इसलिये कि पीछे हिन्दुओं में किसी तरह का असन्तोष न पैदा हो।"

एक वृद्ध ब्राह्मण कर्मक्षेत्र से अवकाश प्राप्त करने के बाद काशी में बस गए और अधिकांश समय पूजा-पाठ में ही बीतता। प्रतिदिन की तरह उस दिन भी गंगा-स्नान के पश्चात् योगिराज के पास आकर योगदीक्षा के लिए उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

१-योगिराज भट्टाचार्य महाशय को आप कहकर सम्बोधित करते। योगिराज के ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय कलकत्ते आने पर अनेक बार काफी दिनों तक उनके निवास-स्थान पर रहा करते।

योगिराज ने कहा—"अभी आप जो कर रहे हैं वहीं करें। समय आने पर दीक्षा प्राप्त होगी।"

वृद्ध उदास होकर चले गये। उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। इसके कई दिन पश्चत् एक वृद्धा ने आकर योगिराज को प्रणाम करके क्रियायोग की दीक्षा प्राप्त करने का निवेदन किया। योगिराज ने कहा "कल सुबह स्नान करके आइये।" दोनों दिन वहाँ एक ऐसे भक्त उपस्थित थे जिन्होंने वृद्धा महिला के चले जाने के बाद योगिराज से पूछा—"पहले जो वृद्ध ब्राह्मण आए थे, वे अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति हैं; किन्तु उन्हें दीक्षा नहीं मिली; किन्तु इस महिला को आपने दीक्षा दी, इसका क्या कारण है ?"

योगिराज ने शान्त स्वर में कहा—"उस ब्राह्मण में अभी कुछ दिन ही हुए धर्म की भावना जाग्रत हुई है इसलिए अभी बाह्य पूजा-पाठ ही अच्छा है; किन्तु महिला ने पूर्व जन्म में योगक्रिया पाने के बावजूद उसकी उपेक्षा की थी। इस जन्म में पूर्व कर्मफल समाप्त करके मेरे पास आई है इसीलिए उसे योग-दीक्षा देना आवश्यक है।"

योगिराज़ के एक भक्त हरिनारायण मुखोपाध्याय काशी में डाक एवं तार-विभाग में कार्यरत थे। उनके एक अन्तरंग मित्र एवं सहकर्मी कालीबाबू, सुन्दरी पत्नी के बावजूद कुपथगामी थे। इस कारण हरिनारायण बाबू को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने अपने मित्र को उस कुपथ से विरत करने के लिये बहुत समझाया-बुझाया। किन्तु कोई लाभ नहीं। तब उन्होंने सोचा कि यदि वे अपने मित्र को किसी प्रकार गुरुदेव के निकट ले जा सकते तो फिर वह बुरे मार्ग पर जाने से बच जाता। इसलिए उन्होंने एक दिन अपने मित्र से कहा—"चलो, योगिराज का दर्शन कर आएँ।" उनके मित्र किसी भी तरह वहाँ जाने के लिए राजी नहीं हुए बल्कि ऊपर से योगिराज के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की ऊटपटांग बातें करने लगे।

हरिनारायण बाबू अपने मित्र के बड़े ही हितैषी थे। उनका विश्वास था कि यदि एक बार वे मित्र को अपने गुरुदेव के समीप तक ले जा पाते तो फिर वह गलत रास्ते पर जाने से बच जाता। इसीलिए उन्होंने गुरु के सम्बन्ध में ऊलजलूल बातें सुनने के बावजूद हिम्मत नहीं हारी और चेष्टा करने लगे, उन्हें अपने गुरुदेव के पास ले जाने की। इस प्रकार कुछ दिन चेष्टा करने के बाद उनके मित्र राजी हो गये और एक दिन सायंकाल दोनों योगिराज के पास आए।

योगिराज उस समय उनेक भक्तों से घिरे थे और उपदेश दे रहे थे। दोनों मित्रों ने आकर योगिराज को प्रणाम किया और एक ओर

बैठकर उपदेश सुनने लगे अनेक ज्ञानपूर्ण उपदेश की बात सुनने के पश्चात् दोनों मित्र उस दिन चले गये। दूसरे दिन काली बाबू ने स्वयं अपने मित्र से कहा—"चलो, आज भी योगिराज के दर्शन कर आएँ"।

हरिनारायण बाबू आनन्दपूर्वक मित्र को लेकर पुनः गुरुदेव के पास गए। इस प्रकार कई दिन तक मित्र को लेकर जाते रहे। इसके बाद से कालीबाबू ने गलत रास्ते पर न जाकर सदाचार पूर्वक रहना आरम्भ कर दिया। और कुछ दिन बाद योगिराज से योग की दीक्षा प्राप्त करके साधना के पथ पर पाँव रखा। इस प्रकार देखा जाता है कि कितने विपथगामी या कुमार्गी व्यक्ति उनके सान्निध्य में आते ही **परिवर्तित** हो जाते और सदाचार का जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाते।

उक्त हरिनारायण बाबू ध्रुपद संगीत के विख्यात गायक थे। योगिराज की देह-लीला के संवरण के अनेक वर्षों बाद १९३७ ई० में जिस कमरे में वे रहते थे उसी में योगिराज की संगमर्मर की मूर्ति स्थापित की गई।[१] प्रथमबार मूर्ति स्थापना के समय वहाँ एक उत्सव का आयोजन किया गया था। योगिराज के पौत्र सत्यचरण लाहिड़ी महाशय ने उस उपलक्ष्य में हरिनारायण बाबू को आमन्त्रित करके संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिये अनुरोध किया था; किन्तु हरिनारायण बाबू ने नाक-कान मलते हुए और जीभ काटते हुए कहा था—"यहाँ गाने के लिये मत कहो; यहाँ फक्कड़पन दिखाना उचित नहीं।" कारण पूछने पर उन्होंने कहा था कि—"एक दिन मेरे संगीत विद्या के गुरु एवं योगिराज के शिष्य श्रीरामपुर निवासी रामदास गोस्वामी महाशय के साथ अर्थात् हम दोनों योगिराज को प्रणाम करने आये थे उस समय वे उत्सुकतावश हम लोगों के साथ सुर, ताल-लय के सम्बन्ध में आलोचना करने लगे। आलोचना के दौरान अचानक उन्होंने मुँह बन्द करके ऐसे कई नाद स्वर की ध्वनि उत्पन्न की जो आज भी कान में बज रहे हैं। उस स्वर के सामने मेरा स्वर तो कुछ अर्थ ही नहीं रखता। कौन सा सुर, कौन सी ध्वनि किस स्थानीय प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं उस दिन उन्होंने सब दिखा दिया था। इसी कारण अब उनके सामने गान प्रस्तुत करने का साहस नहीं करता हूँ।"

१—सम्प्रति योगिराज की वह मूर्ति एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय की संगमर्मर की मूर्ति 'सत्य लोक' डि २२/३ चौसठ घाट वाराणसी में स्थापित की गई है।

नवम परिच्छेद

योगसाधन-रहस्य

अनेक भक्तों से घिरे हुए महागुरु बैठे हैं और उपदेश दे रहे हैं। एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"माता-पिता एवं निकट के गुरुजनों के अतिरिक्त और कौन-कौन प्रणम्य हैं ? एवं किनको प्रणाम करना उचित है तथा ऐसे कौन-कौन हैं जो प्रणाम पाने के लिए उपयुक्त हैं।"

योगिराज ने कहा—"माता-पिता श्रेष्ठ गुरु हैं वे अवश्य ही प्रणम्य हैं। इसके अतिरिक्त मनु ने कहा है—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयोवरस्य च॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

अर्थात् जो गाड़ी पर चढ़कर जा रहे हैं अर्थात् कूटस्थ में स्थित रहकर चल रहे हैं, जिन्होंने कंठ से दश अंगुल ऊपर उठकर प्राणवायु को स्थापित किया है; जिस के अपने चक्षुओं में प्रबल दृष्टि आ गई है, प्राण-कर्म या प्राणायाम करते-करते जिसका मस्तक भारी हो गया है; जिसके मूलाधार से मस्तक तक प्राणवायु के स्थित हो जाने से मस्तक में घूँघट खींचने जैसा बोध हो रहा है, जो कूटस्थ में हैं, सदा सवंदा डूबे रहते हैं, जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है, और जो ओंकार क्रिया रूप प्राणकर्म या प्राणायाम करते रहते हैं; ऐसे सभी व्यक्ति प्रणम्य हैं। इन सबके सामने पड़ने पर रास्ता छोड़ देना उचित हैं। ऐसे व्यक्तियों के आगे नहीं बैठना चाहिए।

मनु ने इस विषय में और कहा है—

तेषास्तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयौ रैश्चव स्नातको नृपमानभाक्॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

इन सब के एकत्र होने पर इनमें जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है एवं जो कूटस्थ में डूबकर मग्न हैं, ये दोनों श्रेष्ठ व्यक्ति हैं। फिर इनमें जो कूटस्थ में हमेशा डूबे हैं वे श्रेष्ठ हैं। इसीलिए इन सभी व्यक्तियों के

साथ कभी वैर-विरोध नहीं करना चाहिए। उम्र में छोटे होने पर भी इस प्रकार के व्यक्तियों को यथोचित सम्मान देना चाहिए।

एक भक्त ने पूछा—"हमारे देश में महात्माओं का अभाव नहीं है। अनेक लोग महात्मा बने बैठे हैं। ऐसी स्थिति में महात्मा को पहचानने का सहज उपाय क्या है ? एवं किस व्यक्ति से धर्म सम्बन्धी उपदेश प्राप्त किया जा सकता है ? या कौन ऐसा व्यक्ति है जो धर्म सम्बन्धी उपदेश देने के योग्य है ?

योगिराज ने कहा—"ऊपर हमने जिन व्यक्तियों की चर्चा की है उन सबको धर्मोपदेशक के रूप में समझना चाहिए। जिनकी जीभ तालु में पहुँच गई है, सहज उपाय द्वारा उन्हें ही महात्मा के रूप में पहचानना चाहिए।"

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधमस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रोवृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥

—मनु रहस्य : द्वितीय अध्याय

आत्मधर्म ही स्वधर्म है। उस स्वधर्म के सम्बन्ध में जो उपदेश दाता एवं जो क्रिया के निमित्त अर्थात् स्वधर्म के लिए शासन करते हैं वे यदि बालक भी हों तो पिता स्वरूप समझना चाहिए। इसीलिए क्रिया के उपदेश दाता एवं शिक्षा दाता को पितृवत जानना चाहिए।

दूसरे एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"हम सब अनेक बार अज्ञानवश पापकर्म कर बैठते हैं। जिस प्रकार रास्ता चलते-चलते अनजाने गिरकर, दबकर अनेक प्राणी मर जाते हैं। इस प्रकार अनिच्छा के वावजूद जो सब पाप होते हैं उनसे उद्धार का उपाय क्या है ?

योगिराज ने कहा कि शास्त्र में मनु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"अह्ना रात्र्या एषां जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुध्द्‌र्थं प्राणायामान् षडाचरेत॥"

—मनुरहस्य

जो यति या साधु अनजाने जीवहत्या रूप पाप करता है। मात्र छह बार विधि पूर्वक प्राणायाम करने से ही उस पाप से विशेष रूप से शुद्ध होता है; क्योंकि षटचक्रों के द्वारा अन्तर्मुखी प्राणायाम ही परम तप है।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः॥

व्याहृति के साथ प्रणवयुक्त होकर ब्राह्मण को विधिपूर्वक तीन बार प्राणायाम करना चाहिए। यही परम तप है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात ।।

—मनु रहस्य

अग्नि द्वारा जिस प्रकार धातु को शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों को शुद्ध किया जाता है। वर्तमान चंचल मन ही पापकर्म में रत रहता है। प्राणायाम द्वारा प्राण के स्थिर होने से वर्तमान मन भी स्थिर हो जाता है और मन के स्थिर होने पर समस्त इन्द्रियों में भी स्थिरता आती है तब उनके कार्य-रहित होने से सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसे ही इन्द्रियों की शुद्धावस्था कहते हैं। क्योंकि वे जब कार्य-रहित हो जाती हैं तब पाप-कर्म की प्रवृत्ति नहीं रहती। इसीलिए योगिराज कहा करते थे—"**जिह्वा उठने से इन्द्रिय दमन होता हय।**" इसको ही खेचरी मुद्रा या जिह्वाग्रन्थि-भेदन अथवा गोमांस भक्षण कहते हैं। यह योग-साधना का मुख्य अंग है। शास्त्रों में कभी भी गोवत्स को यज्ञाहुति के पश्चात् खाने का उल्लेख नहीं किया गया है; किन्तु वाह्य रूप से ऐसा ही लगता है; उसका रहस्य कुछ और है। यज्ञ का यथार्थ स्वरूप है प्राणयज्ञ; अर्थात् प्राणायाम द्वारा चंचल प्राण की स्थिर प्राण में आहुति देना या उसमें लय करना। यह प्राणयज्ञ ही प्रकृत या वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ को सम्पादित करने में जिस गोमांस का भक्षण करना पड़ता है, तंत्र की भाषा में उस गो का अर्थ है जिह्वा। इस सन्दर्भ में हठ प्रदीपिका का एक श्लोक उद्धृत है—

'गोमांसं भोजयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
तमहं कुलीनं मन्य इतरे कुलघातकाः ।।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांस भक्षण तत्तु महापातकनाशनम् ।।

—हठ प्रदीपिका: ३।४७-४८

अर्थात् जो नित्य गोमांस-भक्षण करते हैं और चन्द्र से झरते हुए अमृत या अमर वारुणी का पान करते हैं वही कुलीन हैं, अन्य कुलघातक हैं। गो शब्द का अर्थ है जिह्वा एवं उसका ताल में प्रवेश कराना ही गोमांस भक्षण है। इस गोमांस के भक्षण से महापातकी भी पाप से मुक्त हो जाते हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर वैष्णव शास्त्र में भी गोमांस-भक्षण की चर्चा है।

'गो भोजने महापुण्य
जाया थाकिते गृह शून्य
गुरु मेरे स्वर्गवास
हरि भजले सर्वनाश।

अर्थात् इस प्रकार का गो-भोजन करना महापुण्य है। पत्नी सहित सभी विषयों के प्रति आसक्ति दूर हो जाती है। चंचल प्राण ही गुरु है, उसकी हत्या करके अर्थात् स्थिर प्राण में लय करने पर स्वर्गवास या आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो हरि की या भगवान की उपासना करते हैं उसका सर्वनाश होता है अर्थात् जिन इन्द्रियों के द्वारा जीव विषय-भोग करता है वे निष्क्रिय हो जाती हैं। हरि अथवा स्थिर प्राण ही तब साधक की समस्त इन्द्रियोन्मुखी वृत्तियों का हरण करके उनका नाश करता है।

प्राचीन काल में सारे ऋषि ही इस प्रकार के प्रतीकात्मक गोमांस का भक्षण करते थे। शास्त्र-प्रणेता सभी जीवों में ईश्वर दर्शन करते थे और जीवहत्या को महापाप समझते थे और जीवहत्या न करने का उपदेश देते थे। ऋषिगण सभी जीवों में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करके किसी जीव की हत्या करने का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि वे अहिंसा के पक्षपाती थे। अहिंसा ही उनके जीवन की मौलिक पृष्ठभूमि थी। शास्त्र-कर्त्ताओं ने प्रतीकी भाषा में संकेतों, बिम्बों के द्वारा ही सब कुछ व्यक्त किया है; किन्तु इन दिनों वह सब कुछ बाहरी एवं व्यावहारिक अर्थ से जुड़ गया है।

योगिराज योग-साधन की शिक्षा देते समय सभी भक्तों से कहा करते थे कि क्रियायोग अत्यन्त सूक्ष्म कर्म है इसलिये सभी के लिये आवश्यक एवं उचित है कि बार-बार गुरु के सान्निध्य में उपस्थित होकर क्रिया-योग को दिखवा लेना या परख करवा लेना चाहिये तथा उसके सम्बन्ध में गुरु के उपदेश को बार-बार ग्रहण करते रहना चाहिए। नहीं तो, सूक्ष्म क्रियायोग को समझना पहले पहल सभी के पक्ष में असुविधाजनक है एवं भूल की सम्भावना रहती है यदि कोई यह समझे कि प्रथम बार में ही सब कुछ समझ लिया है तो यह उसका भ्रम है। सभी भक्तों का कर्त्तव्य है कि वे स्वयं को गुरु के समीप सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर दें। स्वयं को जितना ही समर्पित किया जा सके उतना ही गुरु के पास से योग-प्रणाली के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। समर्पण के बिना गुरु से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। गुरु एवं देवता के सान्निध्य में कभी रिक्तहस्त या खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। गुरु के समीप हमेशा विनीत भाव से जाना चाहिये और उनके आगे नहीं बैठना चाहिये। गुरु के क्रुद्ध होने पर भी स्वयं को संयत रखना चाहिये। पाण्डित्य प्रदर्शन एवं शास्त्रज्ञता का भाव भी नहीं प्रदर्शित करना चाहिये। शास्त्र के सम्बन्ध में गुरु से तर्क नहीं करना चाहिए। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में वे जो कुछ कहें उसे सर झुकाकर स्वीकार करना चाहिए।

वे और भी कहा करते—"जो नियमित रूप से क्रिया करते हैं उन्हें प्राय: रोग नहीं होता। धर्म अर्थ काम, और मोक्ष इन चारों का मूल आरोग्य है; किन्तु रोग सारे आरोग्य अथवा नीरोगता को नष्ट करता है तथा मुक्ति और जीवन को भी नष्ट करता है। अतएव क्रियावान यदि गुरु के उपदेश के अनुसार यथोचित क्रिया करें तो वे नीरोग रहते हैं और परिणामस्वरूप मुक्तिपद प्राप्त होता है। इसलिये शरीर की रक्षा के लिए हमेशा गुरु की आज्ञा का पालन करोगे। वायु ही भगवान है, क्रिया करने पर उस भगवान की रक्षा होती है। इस प्रकार शरीर और आत्मा की रक्षा करना कर्त्तव्य है। क्रियावान यदि किसी आपत्ति-विपत्ति में पड़ जायें तो क्रिया करने पर ही उससे रक्षा होगी। जीभ हमेशा ऊपर रखना उचित है और जीभ उठाकर सारी क्रिया करोगे। जीभ उठाकर या ऊपर करके सम्भोग करोगे। महिलाओं को ऋतु-काल में क्रिया नहीं करनी चाहिये। खाने के बाद बायें करवट लेटना चाहिए यह वायु क्रिया उत्तम रीति से करने पर कभी भी हृदय-रोग नहीं होता।"

"सद्गुरु की परिभाषा या व्याख्या करते हुए योगिराज कहा करते थे कि 'गु' शब्द का अर्थ है, अन्धकार एवं 'रु' शब्द आलोक का द्योतक है। इस प्रकार जो अज्ञान रूप अन्धकार को चीरकर ज्ञानरूप आलोक को प्रकट करते हैं वहीं गुरु हैं। श्वासवायु ही इस अन्धकार का नाश कर सकता है। इसीलिए अन्धकार से आलोक की ओर ले जाने वाला यह श्वासवायु ही वास्तविक सदगुरु है। अन्धकार के निरोध करने के कारण ही उसे गुरु कहा जाता है एवं कूटस्थ ही श्री गुरु है।"

शाक्त, शैव, गाणपत्य, वैष्णव एवं सौर इत्यादि सम्प्रदायों से सम्बन्धित मनुष्यों या व्यक्तियों को धर्म-अर्थ काम मोक्षप्रद एवं सर्वसिद्धि दाता आत्मक्रिया में रत रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में शास्त्र का भी कथन है—

जपेच्छाक्तश्चशैवश्च गाणपत्यश्चवैष्णवः ।
सौरश्च सिद्धिदं देवी धर्मार्थ काममोक्षप्रदम् ॥ —गुरुगीता :

योगिराज विवाहित व्यक्तियों को उनकी पत्नियों के साथ दीक्षा प्रदान करते थे। क्योंकि उनकी दृष्टि में पत्नी के साथ योग-साधन प्राप्त होने पर साधना में कम विघ्न उपस्थित होते हैं। वे यह भी कहा करते थे कि क्रिया योग सभी प्रकार के संस्कारों से ऊपर है।

● ● ●

योगिराज के निवास-स्थान के सामने वाले मकान में एक सज्जन हारानचन्द्र राय रहते थे। वे प्रतिदिन शाम के बाद अपने मकान की छत से रास्ते की ओर पेशाब किया करते थे। इससे योगिराज के घरवालों को काफी असुविधा होती। एक दिन योगिराज ने उन्हें यह कर्म करने के लिये मना किया; किन्तु जिसके सर पर काल मंडरा रहा हो वह महापुरुषों की बातों पर भी ध्यान नहीं देता।

हारान बाबू ने कहा—"अपने घर में मैं जो भी करूँ उससे तुम्हारा क्या प्रयोजन है; तुम्हें उसे देखने की कोई जरूरत नहीं।" इसके अतिरिक्त अनेक अश्लील शब्दों का भी प्रयोग किया। योगिराज यह सब सुनकर काफी दुखी हुए और उनकी बात का कोई उत्तर न देकर दूसरे दिन उसी ओर एक दीवाल उठा दी गई।

कुछ दिनों बाद ही हारान बाबू की अचानक मृत्यु हो गई। परवर्ती काल में ऐसा देखा जाता है कि हारान बाबू के वंश में और कोई जीवित ही नहीं रहा। मनु का कथन है—

'सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ —मनुरहस्य

अर्थात् जो व्यक्ति निस्पृह भाव से परमात्मा के भरोसे निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोते हैं अर्थात् स्थिरता को समझकर पृथिवी पर सुख से विचरण करते हैं ऐसे व्यक्ति का जो अपमान करता है उसका विनाश होता है ऐसे व्यक्ति जो मान-अपमान से ऊपर या उससे परे रहकर ईश्वर-कृपा पर ही निर्भर रहते हुए जीवन यापन करते हैं उनके अच्छे-बुरे सभी को ईश्वर ही देखता है। इसलिये ऐसे व्यक्ति का यदि कोई अपमान करता है या किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने की चेष्टा करता है तो ईश्वर ही उसे दण्ड देता है। भगवान ही दुष्टों का दमन और शिष्टों या भले लोगों का पालन करते हैं। इसीलिए योगिराज हमेशा सभी भक्तों से कहा करते थे—**"जो भगवान को हामेसा ध्यान करे उस्को काम उह करता हय।"**

समाधिस्थ अवस्था में देश-काल अथवा नामरूप कुछ नहीं रहते। उस समय सब एकाकार हो जाते हैं। नाम-रूप की सीमा के भीतर जो कुछ भी है वह नित्य या सनातन वस्तु हो नहीं सकती। इस सन्दर्भ में योगिराज कहा करते थे कि आत्मतत्त्व के अन्वेषण में डूब जाओ एवं समाधि के माध्यम से उस स्थिर अवस्था को प्राप्त करो। उसके पश्चात् तो देखोगे कि नाम-रूपात्मक जगत कहीं नहीं है। उस समय क्षुद्र अहंबोध के लय हो जाने पर अखण्ड स्थिर सत्ता को अपने स्वरूप जैसा प्रत्यक्ष देखोगे। जिस ज्ञान में द्वैत है या जो दो देखता है, वह तुच्छ ज्ञान

है और वह इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मैं भक्त हूं, तुम भगवान हो, यह भी तुच्छ ज्ञान है; किन्तु जो ज्ञान सब के भीतर एक ही आत्मसत्ता को देखता है, वही यथार्थ ज्ञान है। जो आत्मसत्ता सब के भीतर प्रतिष्ठित है उसे वर्तमान चंचल मन या बुद्धि द्वारा नहीं पहचाना या जाना जा सकता। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ज्ञान अथवा अनुभूति उपलब्ध होने पर, मात्र व्यक्ति स्थान अथवा किसी मूर्ति विशेष में ईश्वरत्व को आरोपित नहीं किया जा सकता। उस समय तो सभी जीवों एवं सर्वभूतों में ईश्वर का दर्शन होता है और यही दर्शन ऋषियों का चिन्मय प्रत्यक्ष दर्शन है। जिसमें हिन्दू मुसलमान, क्रिश्चियन अथवा ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच नीच का कोई भेद नहीं रहता। उस समय सर्वत्र महाप्राण का प्रत्यक्षदर्शन करने पर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत' का बोध उजागर होता है।

यही कारण है कि योगिराज स्वयं उच्च ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने के बावजूद किसी प्रकार के भेदाभेद भाव से मुक्त थे। उनके निकट हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन या किसी भी वर्ग या वर्ण या धनी-गरीब में कोई भेद नहीं था। उनके यहाँ सभी आश्रय पाते थे। सभी सम्प्रदाय के लोगों ने उनसे दीक्षा लेकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।

वे सभी प्रकार के कु-संस्कारों एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों या आचारों से ऊपर उठकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने में सफल हुये थे, एवं संसार के सभी धर्मों के मूल सत्य को उन्होंने एक स्थान पर देखा था। उनकी दृष्टि में सभी अमृत-पुत्र हैं, न कोई छोटा है, न बड़ा। इस दृष्टि से देखने में आता है कि कुछ ऐसे महामानव ही हैं जिन्होंने भेदाभेद भाव से रहित होकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। जैसे चैतन्य, कबीर, नानक, दयानन्द इत्यादि। इस सन्दर्भ में योगिराज की प्रायोगिक अभिज्ञता या जानकारी अपूर्व थी। वे साधना के माध्यम से उस स्थिति को प्राप्त करने के सन्दर्भ में अपनी पाँच नम्बर की डायरी में लिखते हैं—**"ज्योत के भीतर नीला, नीला के भीतर एक सफेद विन्दी देखा उसके भितर आदमि वोहि बहुत किस्म के हिन्दू इंग्रेज होता हय।"** अर्थात् प्राणायाम के माध्यम से कूटस्थ की ज्योति के भीतर नीलापन और नीलेपन के भीतर एक श्वेत विन्दु देखा और उसके भीतर एक मनुष्य को देखा; वही पुरुषोत्तम हैं। वही सभी प्रकार के हिन्दू अंगरेज इत्यादि रूपों में स्थित हैं।

एक और स्थान पर लिखा है—**"दम पर दम अल्ला—दम के परे जो दम हय सो अल्ला याने स्थिर घर।"** अर्थात् हर साँस के आरोह-या साँस लेने अथवा बाहर निकालने के मध्य एक बार स्थिरता आती

है अर्थात् साँस लेने के अन्त में और बाहर निकालने के शुरू के क्षणों में तथा साँस निकालने के अन्त में और लेने के शुरू के दोनों समय ही एक-एक बार स्थिरता आती है। वही स्थिर अवस्था ही अल्ला है। किन्तु उस स्थिरत्व के प्रति किसी का भी लक्ष्य या ध्यान नहीं है। अल्लाह अर्थात् खुदा जो खुद या आदि है वही खुदा है।[१] खुद का अर्थ है स्वयं या मूल। उत्तम प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते प्राण की जो स्थिर अवस्था होती है; वही मूल या आदि अथवा स्वयं है जिसकी परिभाषिक संज्ञा '**स्वधा**' है जो सभी जीवों में वर्तमान है और वह खुद या स्वयंस्वरूप स्थिर प्राण की चंचलता ही जीवभाव है। स्थिर प्राण से सभी कुछ उत्पन्न हुआ है, वही आदि पुरुष ब्रह्म है, वही खुदा है। पूरक के अन्त में एवं रेचक के आरम्भ में एवं रेचक के अन्त में तथा पूरक के आरम्भ में जिस स्थिर अवस्था की उपलब्धि होती है जिसे केवल योगीगण ही जानते हैं। उसे प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा बढ़ाओ एवं उसी में स्थिति प्राप्त करो, वही मूल और खुद है, वही क्रिया की परावस्था है। "**खोदा याने खोद—आ जब आपने से आता हय। अल्ला—आला बड़ा जो सबसे बड़ा।**" अर्थात प्राणकर्म करते-करते अपने आप ही जिस स्थिर अवस्था का उदय होता है वही मूल या खुदा है और वह स्थिर अवस्था रूप महाकाश ही सर्वव्यापी होने से सर्व वृहत है इसलिए वही अल्ला है। अतएव उन्होंने फिर लिखा है—"**बेदम में जो दम हय सोइ असल दम हय।**"—बेदम अर्थात् दम या श्वास विहीन अवस्था। श्वास-प्रश्वास को स्वेच्छापूर्वक न रोकने पर अन्तर्मुखी प्राण-कर्म करते-करते अपने आप जब केवल-कुम्भक की अवस्था प्राप्त होती है तब उसे ही बेदम कहते हैं। उस समय श्वास-प्रश्वास की बहिर्मुखी गति पूरी तरह रुक जाती है। यह प्राणकर्म सापेक्ष है। वह बेदम ही अर्थात् दम विहीन अवस्था ही असली दम है (जो गुरु वचन द्वारा बोधगम्य है) इस अन्तर्मुखी प्राणायाम में बाहरी वायु का ग्रहण एवं त्याग कर्म नहीं है। इस प्राणायाम के आरम्भ में ही इड़ा और पिंगला को छोड़कर देह के भीतर स्थित प्राण एवं अपान को लेकर ही कर्म करना है। बाहर का वायु बाहर और भीतर का वायु भीतर कार्यशील रहता है। कूटस्थ के भीतर जो खुद या स्वयं स्वरूप पुरुषोत्तम है वही सभी मनुष्यों के शरीर में एक ही भाव से वर्तमान है। वह हिन्दू अंगरेज, मुसलमान इत्यादि रूप में अलग नहीं है। मूल में सभी एक हैं। मूल ही अद्वैतभाव है, पार्थक्य केवल

१-खुदा-फारसी खुद-शब्दज।

द्वैतभाव है। अद्वैत में प्रतिष्ठित होने पर अर्थात् स्थिरत्व में प्रतिष्ठित होने पर कोई पार्थक्य या भिन्नता नहीं रहती।

इस प्रकार देखते हैं कि सभी सम्प्रदायों के हिन्दू, अनेक मुसलमान जैसे अमीर खाँ, रहीमुल्ला खाँ, अब्दुल ग़फ़ूर खाँ, वगैरह कुर्ग राज्य के कमिश्नर एक अंग्रेज साहब हजारीबाग के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट स्पेन्सर साहब सहित अनेक अँगरेज भक्तों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। वह उनकी डायरी में लिपिबद्ध भी है। विश्ववरेण्य पतितपावन अन्यान्य महागुरुओं की तरह योगिराज भी पतित, समाज द्वारा निन्दित व्यक्तियों के प्रति अकृपण भाव से कृपालु थे।

● ● ●

योगिराज के शिष्य अविनाश बाबू बंगाल नागपुर रेलवे सम्प्रति साउथ ईस्टर्न रेलवे में नौकरी करते थे। गुरुदेव का दर्शन करने की इच्छा से उन्होंने एक सप्ताह की छुट्टी के किए अपने उच्च अधिकारी के लिए आवेदन-पत्र दिया। उस समय उनके उच्च अधिकारी थे स्वामी योगानन्द के पिता श्री भगवती चरण घोष। भगवती बाबू ने अविनाश बाबू को बुलाकर कहा—"धर्म के नाम पर इस तरह के पागलपन से नौकरी में उन्नति नहीं की जा सकती। आफिस के कार्य को मन लगाकर करो।"

अविनाश बाबू उदास मन से पैदल ही घर लौट रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि भगवती बाबू पालकी में जा रहे हैं। पास आने पर भगवती बाबू पालकी से उतरकर साथ-साथ पैदल चलने लगे। सान्त्वना देने के बहाने एवं जिससे सांसारिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो, इसी दृष्टि से अविनाश बाबू को समझाने लगे। अविनाश बाबू उदासीनता के साथ उनकी बातें सुन रहे थे और मन ही मन अपने दयालु गुरुदेव के निकट प्रार्थना भी कर रहे थे जिससे उनका दर्शन हो सके।

दोनों मैदान के रास्ते से जा रहे थे। अपराह्न की सूर्य-किरण ने उस समय चारों ओर उद्भासित होकर एक उद्दीपन पूर्ण मायाजाल की सृष्टि की थी। अचानक कई गज़ की दूरी पर उन लोगों ने देखा कि योगिराज अपार्थिव शरीर धारण करके आविर्भूत हुए हैं और कह रहे हैं—"भगवती बाबू आप अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति अत्यन्त निर्दय हैं।" यह कहकर ही वे अन्तर्धान हो गए। अविनाश बाबू हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

इस अप्रत्याशित घटना से भगवती बाबू अत्यन्त विस्मित हुए। कुछ मिनट तक चुप रहने के बाद कहा—"कल से आपकी छुट्टी मंजूर; आप अपने गुरुदेव का दर्शन करने अवश्य जाएँ। और यदि अपने साथ मुझे भी ले चलें तो अच्छा हो। मैं उस महायोगी का दर्शन करना चाहता हूं।"

दूसरे दिन भगवती बाबू सपत्नीक अविनाश बाबू के साथ ट्रेन से काशी के लिए रवाना हो गये। योगिराज के निवास स्थान पर पहुँच कर देखा कि वे पद्मासन लगाकर बैठे हैं। उन लोगों ने प्रणाम किया।

योगिराज ने अपनी दोनों अधखुली आँखों को खोलते हुए मधुर मुस्कान के साथ कहा—"किसी को भी धर्म-पथ पर जाने के लिए रोकना उचित नहीं है।"

इसके बाद भगवती बाबू ने अपनी पत्नी सहित योगिराज से क्रियायोग की दीक्षा प्राप्त की और स्वयं कृतार्थ हुए थे।

यही भगवती बाबू अपने अद्वितीय पुत्र मुकुन्दलाल के जन्म के कुछ दिन बाद शिशु-पुत्र को लेकर सपत्नीक गुरु के समीप काशी आए हैं। उस समय ध्यानमग्न योगिराज भक्तों से घिरे बैठे हैं। भगवती बाबू की पत्नी ने नन्हें बच्चे को गोद में लेकर ज्यों ही प्रणाम किया—आँख खुलते ही महायोगी ने हाथ बढ़ाकर शिशु को अपनी गोद में लेकर कहा— **"तुम्हारा पुत्र योगी होगा और अनेक लोगों को ईश्वरानुसन्धान का मार्ग दिखाएगा।"**

सर्वदर्शी महागुरु के आशीर्वाद से इसी मुकुन्दलाल ने बाद में परमहंस योगानन्द के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। और प्राच्य तथा प्रतीच्य के तमाम लोगों को क्रियायोग के माध्यम से ईश्वरानुसन्धान का मार्ग दिखाया।

और एक प्रिय शिष्य स्वामी प्रणवानन्द (गार्हस्थ्य जीवन में जिनका नाम नीलमाधव मुखोपाध्याय था। गृहस्थ जीवन में रेलवे आफिस में नौकरी करते थे। उन्होंने साधना के द्वारा प्राप्त उच्च आध्यात्मिक अवस्था की रसमयता का आस्वादन किया था। वे हमेशा ब्रह्मानन्द रस में विभोर रहकर आफिस का कार्य अच्छी तरह नहीं कर पाते थे। उन्होंने सोचा कि नौकरी से यदि किसी प्रकार मुक्त हो जाएँ तो साधना और अत्यधिक मनोयोग पूर्वक की जा सकती है। इसीलिए उन्होंने अपने गुरुदेव से निवेदन किया कि अब नौकरी से रिहाई दिलवाएँ।

योगिराज ने कहा—"पेन्शन ले लो"

प्रणवानन्द ने कहा—"इतने कम समय की नौकरी में किस आधार पर पेन्शन लूँगा!"

योगिराज ने कहा—"तुम्हारी जो भी इच्छा हो, अतः कोई कारण दिखाओ।"

प्रणवानन्द ने दूसरे दिन ही शारीरिक अस्वस्थता का कारण दिखाते हुए पेन्शन पाने का आवेदन-पत्र प्रेषित किया और शीघ्र ही अप्रत्याशित रूप से विभागीय चिकित्सकों एवं उच्च अधिकारी की सहमति से आवेदन मंजूर कर लिया गया। प्रणवानन्द नौकरी से अवकाश प्राप्त करके नयी स्फूर्ति एवं उत्साह के साथ साधना में तल्लीन हो गए। यही प्रणवानन्द योगिराज के उत्तर साधक के रूप में सुविख्यात हुए थे।

योगिराज हमेशा बैठकखाने वाले कमरे में एक तख्त पर पद्मासन लगाए बैठे रहते थे। सामने शिष्य एवं भक्त बैठते। खूब कम ही बोलते थे। कभी-कभी आँखें खोलकर मन ही मन जिज्ञासा करने वाले किसी भक्त की ओर देखकर संक्षेप में उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। हर समय उनसे कोई प्रश्न पूछता, ऐसी बात नहीं थी बल्कि वे ही भक्तों के मन की बात समझकर उत्तर दिया करते थे। यदि कभी कोई भक्त किसी जटिल प्रश्न को लेकर उनके पास आता तो वे उसके मन की बात या भावना के अनुकूल सहज एवं सरल उत्तर द्वारा सभी प्रकार के संशयों को दूर कर देते थे। जिस किसी भी भक्त के मन की तरग उनके लिए अपरिचित नहीं थी। ग्रन्थों में वर्णित विद्या के माध्यम से वे कभी भी किसी शास्त्र की व्याख्या नहीं करते थे। जो साधना से प्राप्त है वही भक्तों को बतलाते थे। वेद, वेदान्त, उपनिषद गीता इत्यादि जटिल एवं गूढ़ शास्त्रों की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक तात्विकता को उपलब्ध अनुभूति के माध्यम से अपूर्व कौशल के साथ समझाया करते थे। उनका कहना था कि पुरातन-प्राचीन, सभी शास्त्र, प्राचीन ऋषियों-मुनियों की साधना द्वारा उपलध्ध ज्ञान के भण्डार हैं। उस प्रकार की जिनकी उपलब्धियाँ एवं अनुभूतियाँ होगी एकमात्र वही उन ग्रन्थों या शास्त्रों की यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम होंगे।

सायंकाल जब उनके निवास-स्थान पर भक्त एवं अभ्यागत आते तब योगिराज सौजन्य के साथ सबकी अभ्यर्थना करते और उन्हें आप्यायित करते। किसी धनी अथवा विशिष्ट गुण-सम्पन्न व्यक्ति के लिए विशेष आप्यायन का प्रदर्शन अथवा किसी दीन-दरिद्र या मूर्ख व्यक्ति की कोई अवहेलना उनके लिये सम्भव नहीं थी। वे सभी को समान दृष्टि से देखते थे। सभी ब्रह्मज्ञानी ही देहाभिमान एवं अहंकार रहित होकर सबके भीतर एक अद्वयता या अपरूप ऐक्य का दर्शन करते हैं। साधुओं की समदृष्टि का आधार आत्मज्ञान है। योगिराज के

प्रत्येक वाक्य में ज्ञान की तीक्ष्ण प्रखरता की अभिव्यक्ति होती थी। उनके देवत्व की गरिमा के सम्मुख सब के मस्तक झुक जाते थे। योगिराज जब चुप रहते अथवा जटिल धार्मिक विषयों की आलोचना करते तब देखने में आता कि वे भक्तों के मन में एक अनिर्वचनीय ज्ञान का संचार कर रहे हैं। कोई भक्त यदि चिन्ताग्रस्त मन के साथ उनके पास आता तो अनजाने ही उसके मन के भाव बदल जाते थे। यहाँ तक कि योगिराज के दर्शन मात्र से ही सभी, मन में शान्ति एवं आनन्द के आस्वाद का अनुभव करते। उन्हें दुःख में विचलित एव सुख में आनन्दित होते हुए कभी भी नहीं देखा गया। यदि कोई उनके पास अपने अतीत के बारे में कुछ प्रश्न उपस्थित करता तो वे कहा करते थे कि अतीत को पूरी तरह भूलकर आत्मसाधना में तन्मयता एवं मनोयोग के साथ आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने की चेष्टा करो; उसी से लोकमंगल एवं वैयक्तिक मंगल का पथ प्रशस्त होगा। इसीलिए वे सभी को क्रियायोग के अनुशीलन की प्रयोजनीयता का स्मरण दिला देते थे। वे कभी भी किसी को अपना निजी कार्य करने के लिये नहीं कहते थे और आन्तरिकता के अतिरिक्त किसी से भी कोई दान या सहायता ग्रहण नहीं करते थे। क्योंकि सामान्यतः उन्हें आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त थी। उन्होंने सरकारी नौकरी की थी, पेंशन मिलती थी, छात्रों को पढ़ाते भी थे। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि अन्यान्य गुरुगण जिनका न तो कोई स्वयं की आर्थिक आय का स्रोत है या उन्हें आर्थिक स्वाधीनता या सम्पन्नता नहीं प्राप्त है वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शिष्यों के ऐश्वर्य या उनकी धन-सम्पन्नता पर आश्रित रहते हैं।

किन्तु योगिराज ने स्वयं उपार्जित अर्थ से जीविका निर्वाह किया है वे कभी दूसरों के अन्न पर आश्रित नहीं रहे। उनमें दूसरों की अनुकूलता के प्रति कोई प्रत्याशा नहीं थी। उनके द्वारा स्थापित आदर्शों में यह एक वृहत्तम आदर्श के रूप में मान्य है। वे अपने सभी भक्तों को वैसे ही जीवन-यापन का उपदेश दिया करते थे।

योगिराज कहा करते थे कि जिस योग-साधना के द्वारा अन्तर में ईशा-भावना का बोध उजागर नहीं होता वह योग, योग ही नहीं है। वास्तविक एवं श्रेष्ठ योग-साधना से मन में ईश्वर-भाव अथवा प्रेम अवश्य ही उभरेगा। कामना, वासना, हिंसा, द्वेष, लोभ, परश्रीकातरता सहित सभी प्रकार के इन्द्रिय जन्य विकार एवं मनधर्म का अपने आप दमन हो जाता है। इसीलिए उसे श्रेष्ठ कहा गया है। योगसाधना के द्वारा अन्तर में ईश-भावना की उपलब्धि होने पर बाहर के सभी पदार्थों में ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव होता है। अन्तर्देवता को प्राप्त

करने का आग्रह जिसमें नहीं है वह यदि सारे तीर्थों का भ्रमण करता फिरे तो भी कोई लाभ नहीं।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और ज्ञान इत्यादि की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र चेष्टा का प्रयोजन नहीं है। हालांकि स्वतंत्र चेष्टा के द्वारा यदि ये प्राप्त भो हो जाएँ तो भी इनका मूल्य स्थायी नहीं होगा; किन्तु उत्तमरूप से प्राणकर्म या प्राणायाम करते रहने से ये स्वयं प्राप्त होंगे एव उनका स्थायी मूल्य होगा। स्थायी भक्ति शुद्धा भक्ति है और स्थायी ज्ञान ही विज्ञान है। दूसरी ओर काम, क्रोध हिंसा लोभ मोह इत्यादि जितनी भी प्रकार की आसुरी वृत्तियाँ हैं जो साधना-पथ पर बाधायें उपस्थित करती हैं, उन्हें भी मन के द्वारा चेष्टा करने पर छोड़ा नहीं जा सकेगा। जितना कुछ भी का त्याग होगा वह अस्थायी होगा। किन्तु सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से प्राणकर्म करते रहने से ये स्वयं दूर हो जाएँगी और उनके स्थान पर श्रद्धा, विश्वास, भक्ति एवं ज्ञान आदि उपलब्ध होंगे। इस प्राणकर्म की ऐसी महिमा है कि इसके करते रहने से एक ओर आसुरी वृत्तियों का अवसान होता है और दूसरी ओर साथ ही सात्विक वृत्तियों का उदय होता है और तब किसी के त्याग या ग्रहण की स्वतंत्र अथवा मन के द्वारा की गई चेष्टाओं की आवश्यकता ही नही पड़ती; वे स्वयं आएँगी, जाएँगी। आसुरी वृत्तियों के जाने से ही सात्विक वृत्तियाँ स्वयं आएँगी। मन या इच्छा के द्वारा चेष्टा करके त्याग करने से यथार्थ त्याग नही होगा; क्योंकि जब तक वर्तमान चंचल मन है तब तक यथार्थ त्याग सम्भव नहीं। इसलिए उत्तम प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा इच्छा एवं मन पर नियंत्रण स्थापित करके इच्छातीत की स्थिति में आना होगा। उस इच्छातीत अवस्था में कुछ भी नहीं शेष रहेगा; वही यथार्थ त्याग का स्वरूप है। इसीलिए वे सब से कहा करते—**"क्षुधार्त्त के लिए अन्न का जितना प्रयोजन है मुमुक्षु या मोक्षकामी के लिए क्रिया का भी उतना ही प्रयोजन है।"**

अनेक बार देखा गया है कि दूसरे के संचित रोग या पाप को नष्ट करने के लिए वे उसे स्वयं ग्रहण कर लिया करते थे। इसी कारण वे कभी-कभी अस्वस्थ भी हो जाते थे। महान योगी आध्यात्मिक उपायों के द्वारा दूसरों के रोग या पाप को स्वयं अपने शरीर पर झेलकर उन्हें संकट-मुक्त करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार महायोगी अपने शिष्यों की रक्षा करते रहते हैं। वे ऐसा तभी करते हैं जब उन्हें यह पता चलता है उनके किसी उन्नत शिष्य की साधना में और भी द्रुतगति से विकास प्रयोजनीय है। इसमें उन्हें कुछ सामयिक क्लेश अवश्य होता

है; किन्तु उनकी कोई आध्यात्मिक क्षति नहीं होती बल्कि उपकार ही होता है।

• • •

योगिराज ने अपने उन शिष्यों को जो योग-साधना एवं अध्यात्म-चेतना के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित होते थे, स्वयं अनेकों बार पत्र द्वारा वे जिन बातों पर अधिक बल देते उनका उल्लेख करते हुए सम्बोधित किया है। उन्होंने कभी तो यह लिखा है—**मैं अब और कितना करूँ? लोगों के लिए ही मैं अस्वस्थ हुआ, तिस पर सारे काम-काज हैं। क्रिया कीजिए, कोई भय नहीं।"** फिर उन्होंने किसी को लिखा है—**"अपने इस शरीर पर मैंने उनके रोग को कितना झेला था भोगा था। तेल के अभाव में दीपक बुझ जाता है प्रकृति के विरुद्ध देह में कितनी देर तक जीवन रह सकता है। आत्मा की मृत्यु नहीं होती; क्योंकि आत्मा ही महाकाल स्वरूप है। स्थिति-पद काल से भी ऊपर है। महाकाल समुद्रस्वरूप गतिहीन है, जीव, नदी के समान उस समुद्र में गिरता है। काल के प्रति सतर्क रहने से मृत्यु नहीं होती।"** फिर किसी और एक शिष्य को लिखा है—**"अकाल मृत्यु समझकर शोक मत करो, जीव के पक्ष में कालाकाल (काल-अकाल) प्रतीत होता है; किन्तु काल का अकाल नहीं, इसलिए जीव का कर्त्तव्य है समस्त कालों में ही काल रूपी हंस का शरणापन्न होकर रहना।"** यहाँ श्वास-प्रश्वास को ही काल रूपी हंस कहा गया है उसकी शरण में जाने पर काल से परे की स्थिति प्राप्त होती है।

महान योगीगण अपने अनुगत शिष्यों के उपकार के लिए कई बार प्रयोजनवश उनके रोग को अपने शरीर पर झेलकर उन्हें रोगमुक्त कर दिया करते हैं। यह उनकी अहैतुकी कृपा कही जाएगी। योगिराज को भी अनेकबार भक्तों के उपकार के लिए ऐसा करते हुए देखा गया है। इसीलिए वे कहा करते थ कि अनन्त महाकाल जो अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है, वह अखण्ड है। केवल श्वास-प्रश्वास के लेने-छोड़ने के माध्यम से वह अखण्डकाल खण्ड रूप में प्रतीत होता है; किन्तु वस्तुतः वह अखण्ड है। उसमें कहीं कोई खण्ड नहीं है, वह अविच्छेद्य है। वह महाकाल घट अथवा देह के भीतर हंसरूप (श्वास-प्रश्वास) में प्रत्येक जीव देह में विद्यमान एवं विराजमान है। इसीलिए वे सब से कहा करते

थे कि उस श्वास-प्रश्वास रूपी हंस का आश्रय ग्रहण करो फिर तो शरणापन्न होने की उस स्थिति में काल-अकाल अथवा मृत्यु नहीं होती।

योगिराज के जो शिष्य या भक्त काशी से दूर रहते थे वे कभी-कभी गुरु के दर्शन के लिए काशी आने की अनुमति चाहते हुए पत्र लिखते, तो उनमें से अनेकों को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है—"तुम लोगों के कूटस्थ के भीतर जब मैं सर्वदा हूं तो फिर इस हाड़-मांस की देह का दर्शन करने के लिए आने का क्या प्रयोजन है ?' इस प्रकार के अनेक पत्रों में कभी किसी को लिखा है—"दर्शन के लिए इतनी व्यस्तता क्यों ? मेरे इस हाड़-मांस को देखने से क्या लाभ ?" कूटस्थ की ओर लक्ष्य रखिए, वही मेरा रूप है, मैं हाड़-मांस अथवा 'मैं' शब्द भी नहीं, मैं सबका दास हूं।" फिर किसी को लिखा है—"गुरु सब चला रहे हैं। मैं कूटस्थ रूप में हमेशा साथ हूं।" दूसरे एक शिष्य को लिखा है—"माया द्वारा हाड़-मांस दिखाई दे रहा है वह जितनी जल्दी जाए अर्थात् माया का विषय जितनी शीघ्रता से जाए या समाप्त हो जाए उतना ही अच्छा है। भले-बुरे की पहचान नहीं। अपना जो कुछ मेरा है वह गुरु के प्रति अर्पण करना चाहिए। अर्पण के पश्चात् फिर उसमें स्वत्व की गुंजाइश नहीं। जब देह अर्पित किया है तो स्वयं अपनी देह देखने से ही तो स्थूल में मेरा ही दर्शन होता है। सब इसी रूप में मेरी देह को समझते हैं। श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक क्रिया कीजिए।

भक्तों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा है—"योगी बनने के लिए इतना दुर्बल हृदय क्यों ? वृक्ष की छाया पर और नदी के जल पर तो किसी का अधिकार नहीं है। उन्हें कोई ले नहीं सकता। अनित्य विषय,(पदार्थ) के लिए इतनी चिन्ता क्यों ? आपका कर्त्तव्य है भूत या अतीत एवं भविष्य की चिन्ता को छोड़कर या उनका परित्यागकर प्राण की चिन्ता के साथ वर्तमान के समस्त कार्यों को करना। अर्थ से किसी को सुख मिला नहीं, मिलेगा भी नहीं। मन की करकराहट में अर्थ की चेष्टा है। भविष्य के लिए इतनी चिन्ता क्यों ? सब पुतली-नृत्य के पुतले हैं। हायरे पैसा ! कहते हुए भी चीं-चीं कर रहे हैं। संसार तो परीक्षा का स्थल है। सभी दृष्टि से दक्ष होना चाहिए। किसी भी विषय में अभाव का बोध नहीं करना चाहिए। अभी जिससे मनोबल कम न हो वही करना चाहिए। विशेष दक्षता के साथ समस्त कार्य करना चाहिए। किसी भी विषय में डरना नहीं चाहिए। शैतान सर्वत्र मन को घेरे हुए है। आत्मा से अलग किसी दूसरी ओर मन न जाए। इस ओर ध्यान दीजिएगा। क्रिया का अभ्यास ही वेदपाठ है।

इस क्रिया का अभ्यास करते-करते जब क्रिया से परे की अवस्था की ओर लक्ष्य होगा तब उसे ही वेदान्त कहेंगे।[1]

उसे क्रिया के द्वारा ही देखना उचित है पुस्तक देखने से क्या होगा ? क्रिया ही यज्ञ है। क्रिया ही सत्य है और सब मिथ्या है। यह यज्ञ सभी को करना चाहिए, इसे करना सब के लिए उचित है। मन के त्राण की अवस्था का नाम मंत्र है। कोई म्लेच्छ नहीं, मन ही म्लेच्छ है। नारायण सभी घट में विराजमान है कोई कुछ नहीं करता, सभी कुछ भगवान करते हैं जीव उपलक्ष्य मात्र है। उस गुरु भगवान की ओर ही लक्ष्य रखने की विधि पूर्वक चेष्टा करें। इसी में मंगल है। आत्मा ही गुरु है। मन के इसी बल के साथ क्रिया करनी होगी—मेरा कोई भी नहीं है, मैं किसी का भी नहीं हूं। एक दिन निश्चित रूप से सब को सब कुछ छोड़ना पड़ेगा। वह दिन किसके लिए और कब आएगा, निश्चित नहीं। लोग निश्चित रहते हैं, किन्तु जब वह अवस्था अचानक आती है तब सभी हाय हाय करते हैं। अतएव लक्ष्य को स्थिर करके सब को उस अवस्था के प्रति ध्यान रखना उचित है। वस्तुतः उनके लिये प्राण में यदि क्रन्दन नहीं है तो फिर उन्हें अन्तर में बुलाने की शक्ति नहीं आती। अव्यय, अविनाशी गुरु ही (आत्मा) अहैतुकी प्रेम-भक्ति के उदाहरण हैं। वे सर्वदा सब के अत्यन्त निकट हैं तब भी कोई उनके अन्वेषण के प्रति यत्नवान अथवा सचेष्ट नहीं। क्या अच्छा है ? वह जीव नहीं जानता, जान ले तो फिर शिव हो जाये। अच्छा क्या है उसे न जानने से समय पर अच्छा—बुरा प्रतीत होता है। क्रिया की परावस्था के बाद जिस अवस्था या कर्मातीत अवस्था में सांस लेने-छोड़ने की इच्छा स्वतः न रहे उसी पर मन को केन्द्रित करना चाहिय। उक्त अवस्था ही कृष्ण पदवाच्य है वही कृष्ण का स्वरूप है। कृष्ण शब्द का अर्थ भी वही है।"[2]

१—वेद का अर्थ है ज्ञान। जिसने कूटस्थ को जान-पहचान लिया है वही वेदज्ञ है ज्ञान के अन्त की अवस्था ही वेदान्त है। उस समय किसी प्रकार की क्रिया या कर्म न होने से उस कर्मातीत अवस्था को ही वेदान्त कहते हैं। तब ज्ञान भी नहीं, अज्ञान भी नहीं। श्वास ही वेदमाता गायत्री है।

२—श्री कृष्ण : श्री का अर्थ सुन्दर। श का अर्थ है श्वास, प्राणवायु; 'र', अग्निबीज है, तेजस्तत्व (जो आंख मे है; 'ई', शक्ति का प्रतीक है अर्थात् शक्ति पूर्वक प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा चक्षु अथवा आंख में वायु के स्थिर होने पर आंख की जो स्पन्दन रहित [दृष्टि: स्थिरा यस्य विनाव-लोकनम् इति : ज्ञान संकलिनी तन्त्र] अवस्था होती है उसी सुन्दर अवस्था

"सांस खींचने-छोड़ने की निवृत्ति-अवस्था जो स्वतः होती रहती है वही स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण है। जो एकान्त या गोपन में साधना करते हैं उन्हें ही गोपी कहते हैं। गोपी शब्द का अर्थ भी वही है।"[१]

"गोपी अपने शरीर रूप वृन्दावन में इस जीवन कृष्ण के प्रकाश रूप आगमन की प्रतीक्षा सर्वदा करती रहती है। यह गुरु कृपा के बिना होता नहीं, वह गुरु की आज्ञानुसार कार्य करने पर स्वयं न चाहने पर प्राप्त होता है। अतएव गुरुवाक्य को दृढ़ मानकर गुरु के उपदेशानुसार अपने स्थिर प्राण में भगवान का बोध करना चाहिए। गुरुवाक्य पर विश्वास करके काय करने पर एक दिन वह प्रत्यक्ष होगा यह अवश्य निश्चित है। मन में जोर न होने से जिस स्थान में रहने पर मनोबल आए उसी स्थान पर रहना उचित है एवं उसी स्थान में रहकर क्रिया करना उचित है। भय के साथ क्रिया करने पर सम्पन्न नहीं होती और उस क्रिया द्वारा अपनी रक्षा नहीं होती। क्रिया करने से ही स्वयं की रक्षा की जा सकती है। क्रियावान को खिलाओगे। क्रियावान को खिलाकर तृप्त-तुष्ट करने पर देव-देवी भी तुष्ट-तृप्त होते हैं। क्रियावान ही देवता है सारे देवता यही क्रिया कर रहे हैं। इस देह में ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक क्रिया करनी चाहिए। तभी गुरु कृपा से जो प्रार्थनीय है वही होता है। जो कहते हैं केवल सुख एवं दीर्घायु चाहिए मुक्ति नहीं चाहिए, वे सब झूठे हैं। वे इसके लिए आशीर्वाद चाहते हैं, किन्तु होता नहीं।"

अनेक बार वे नाना प्रकार से निर्दिष्ट भक्तों को आकर्षित करते, उनके पार्थिव एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार के भार को अनेक बार वहन करते एवं उनके साधना-रत जीवन को केन्द्रीभूत करते। भक्तों को वे यही शिक्षा देते थे कि किस प्रकार आत्म समर्पण के माध्यम से जीवन में आध्यात्मिक रूपान्तर लाया जा सकता है। उनकी करुणा-धारा अनेक बार स्नेह-प्यार के माध्यम से अथवा किसी अलौकिक दशन के माध्यम से प्रवाहित होती रहती थी। उनकी यह सब अलौकिक करुणा लीला को

का नाम 'श्री' है। कृष्ण में 'कृष्ण, धातु का अर्थ है कर्षण करना, 'ण'— निवृत्तिवाचक हैं। अर्थात इस देह रूप क्षत्र का प्राणकर्म द्वारा कर्षण करते-करते जो स्पन्दन रहित निवृत्ति रूप शाश्वत स्थिरत्वपद प्राप्त होता है वही श्रीकृष्ण है। वह श्रीकृष्ण अविनाशी है सभी देहों में वर्तमान है।

१—इसीलिए योगिराज सबको चुपचाप गोपी-भावना के साथ अर्थात् गोपन रूप से आत्म-साधना करने के लिए कहा करते थे। महात्मा रामप्रसाद ने भी ऐसी ही बातों की ओर संकेत किया है।

देखकर भक्तों के विस्मय का अन्त नहीं होता था। वे सबके यथार्थ या सच्चे कल्याणकामी और पथ प्रदर्शक थे। इसीलिए वे हमेशा भक्तों को ईश्वर-बोध एवं गहरी योग साधना के तत्त्व के सम्बन्ध में सहजता एवं सरलता पूर्वक समझा देते थे। उनके उपदेश एवं आशीर्वाद से लोगों को सच्चे कल्याण-मार्ग पर चलने की कितनी प्रेरणा प्राप्त होती थी। यथार्थ जीवन की कितनी समस्याओं को लेकर अथवा आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा प्राप्त करने की आशा से कितने लोग उनके पास आया करते थे और वे भी हमेशा उनके सच्चे कल्याण-मार्ग की दिशा निर्धारित किया करते थे। भक्तों के सारे कर्म, आचरण एवं चिन्ता के साथ वे एकात्म-भाव से उनके प्रति प्रखर एवं सजग दृष्टि रखते थे।

उनकी इस अलौकिक करुणा-लीला के प्रसंग में यदि कोई प्रश्न करता तो वे कहा करते थे—**"सच्चे विश्वास के साथ यदि मेरी शरण में आओ तो फिर मैं चाहे जितनी दूर क्यों न रहूं तुम्हारे बीच उपस्थित होने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। जो क्रिया करते हैं मैं उनके निकट उपस्थित रहता हूं।"** वे कहा करते थे कि सभी जब मन्दिर में जाते हैं तो उस समय क्या कोई मन्दिर को प्रणाम करता है न कि उस मन्दिर के भीतर अधिष्ठित या अवस्थित देव-देवी को प्रणाम करता है? देव-देवी से अलग मन्दिर का कोई मूल्य नहीं। फिर ईश्वर तो सभी जगहों पर हैं, अतएव उस विग्रह या मूर्ति के भीतर भी हैं, यह जिस प्रकार जितना सत्य है उसी प्रकार उतना ही तुम्हारे भीतर भी हैं, यह भी सत्य है। बल्कि तुम्हारे भीतर हैं यह उससे अधिक सत्य है क्योंकि तुम चलते-फिरते दीखते हो। तो फिर दूर की वस्तु को न खोजकर निकट की वस्तु को खोजना ही अच्छा है। वे जबकि तुम्हारे भीतर भी हैं और सर्वापेक्षा निकट हैं तब तो निकट की वस्तु को खोजना ही बुद्धिमानों का काम है। इस सन्दर्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"ईश्वर : सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" गीता: १८।६१

समस्त भूतों या पदार्थों में वे हैं किन्तु हृदय प्रदेश में अधिक से अधिक उनका अवस्थान है। उस हृदय के भीतर डूबने की चर्चा रामप्रसाद ने भी की है—"**डूब दे मन काली बले, हृदि रत्नाकरेर अगाध जले।**" अर्थात्, 'रे! मन काली का नाम लेकर डुबकी लगा, हृदय-सिंधु के अथाह जल में।' हृदय के भीतर डूबने पर ही वह प्राप्त होगा, बाहर नहीं। वे कहा करते थे कि नारी सौन्दर्य के साथ ईश्वर द्वारा रचित समस्त सौन्दर्य को देखने की इच्छा, प्रवृत्ति या अधिकार सब को है; किन्तु उस रूप एवं सौन्दर्य की ओर दृष्टिपात करने के साथ-साथ उनके निर्माता की ओर ध्यान रखना होगा। जिसने अपूर्व दक्षता एवं कला-कौशल द्वारा उनको रचा है।

उस सृष्टिकर्त्ता या विश्व-निर्माता को भूलकर केवल उसके द्वारा रचित सौन्दर्य को देखने से काम नहीं चलेगा। उसके द्वारा रचित सौन्दर्य यदि इतना सुन्दर है तो फिर वह स्वयं कितना सुन्दर है ? इस प्रकार समस्त सृष्टि के भीतर यदि सृष्टिकर्त्ता को देखने की चेष्टा करो, तभी जीवन धन्य होगा। किन्तु ध्यान रक्खो, साधना के बिना ऐसी स्वच्छ या निर्मल दृष्टि किसी को भी नहीं प्राप्त होगी। यह केवल बात ही बात नहीं है बल्कि अकाट्य सत्य है। मन के द्वारा चाहे जितनी ही चेष्टा करो, स्थायी भाव नहीं आएगा। किन्तु जितना ही प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे उतना ही मन स्थिर होगा उतनी ही वैसी स्वच्छ दृष्टि प्राप्त होगी। तब उसके प्रकाश में समस्त रूपों एवं सौन्दर्य के भीतर उसका ही या ईश्वर का ही दर्शन होगा।

● ● ●

ब्रह्मज्ञ पुरुषों या ब्रह्मवेत्ताओं के लिए बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं पड़ती। योगिराज स्वयं भी कभी बाह्य पूजा नहीं करते थे। इसके सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो, वहिःपूजा अधमाधमः ॥

—महानिर्वाण तंत्र

अर्थात् ब्रह्म में अवस्थिति उत्तम है, ध्यान मध्यम है, स्तुति एवं जप अधम भाव है एवं बाह्य पूजा या स्थूल पूजा अति अधम है। किन्तु उन्होंने कभी भी साकार या सगुणोपासना के प्रति उन्मुख किसी को भी निषेधात्मक आदेश या परामर्श नहीं दिया। बल्कि वे इतना तक कहते थे कि साधारण लोगों के पक्ष में साकार पूजा या स्थूल पूजा प्रयोजनीय है उसे अवश्य करना चाहिए। साकार पूजा करते-करते ईश्वर के प्रति भक्ति और श्रद्धा का विकास होता है और समय पर जब वह आत्म-साधना में परिवर्तित हो जाएगी तब बाह्यपूजा न भी की जाए तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। समस्त प्रतिमाएं ही प्राणरूपी ईश्वर का प्रतीक हैं। ऋषियों ने ध्यान के माध्यम से जिन सब रूपों का दर्शन किया है उन सभी रूपों को प्रतिमा के रूप में स्थापित करके सर्वसाधारण को उसके प्रति श्रद्धा-निष्ठा एवं आकर्षण पूर्वक पूजा करने का निर्देश दिया है। सामान्य लोगों को आत्मकर्म की जानकारी नहीं है इसलिए वे अपनी

अन्तर्दृष्टि के द्वारा उन रूपों का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते। प्रतीयमान जो कुछ भी है उसके दो छोर या दो दिशाएँ हैं। जो बहिरंग और अन्तरंग के रूप में विभाजित हैं। साधना के क्षेत्र में यही दो दिशाएँ हैं मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, व्रत, उपवास, गंगा-स्नान, जप-संकीर्त्तन, स्तुति अतिथि-सेवा, दरिद्र-सेवा, साधु-सेवा इत्यादि साधना के बहिरंग हैं या बाह्य अंग हैं। एकमात्र आत्मकर्म ही अन्तरंग या आभ्यन्तर साधना है। नौकरी के क्षेत्र में जिस प्रकार उन्नति का क्रम या लक्ष्य है; वैसे ही जीव की भी उन्नति का क्रम या लक्ष्य है। दयालु एवं मानव प्रेमी सहृदय ऋषियों ने बहिरंग साधना का प्रचलन इसलिए किया है कि सभी मनुष्यों में अन्तर्लक्ष्य या अन्तरंग साधना की स्पृहा नहीं है। सभी लोग ईश्वर को प्राप्त करना नहीं चाहते। वे ईश्वर के ऐश्वर्य को पाने से ही खुश होते हैं। ऐश्वर्य को ईश्वर समझते हैं। इस प्रकार के लोगों की ही संख्या अधिक है। इन लोगों के लिये ही ऋषियों ने बहिरंग साधना की मान्यता दी थी और उसका प्रचार किया था। इस प्रकार की बहिरंग साधना करते-करते जन्मान्तर के द्वारा जीव शुद्ध होगा और साधना की अन्तरंगता की ओर ध्यान देगा, तभी वह अन्तरंग साधना में रत होने की उपयुक्तता प्राप्त करेगा और अन्तरंग या आभ्यान्तर साधना द्वारा आत्मराज्य की स्थापना कर सकेगा।

'यथागाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः।

—पंचदशीः ९।१५३

अर्थात् जिस प्रकार अगाध रत्नों की खान दृष्टिगोचर होने पर भी उनकी प्राप्ति के लिए उत्खनन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार आत्मचिन्ता अथवा आत्मकर्म के बिना मुझे (आत्मा को) देखने या प्राप्त करने का और कोई विकल्प या उपाय नहीं है।

बहिरंग साधना में अभिक्रम या प्रारम्भ अथवा स्थानच्युति का दोष है, किन्तु अन्तरंग साधना में कोई अभिक्रम नहीं है। जैसे बहिरंग साधना के अन्तर्गत किसी देव-देवी की पूजा करने के लिए पहले शुद्ध वस्त्र धारण करना पड़ेगा। क्योंकि अशुद्ध वस्त्र पहनकर किसी देव-देवी को स्पर्श करना पूजा-पद्धति के प्रतिकूल है। नहीं तो पाप होगा। विशुद्ध गाय के घी के बिना होम करने की विधि नहीं है, करने से पाप होगा। इसके अलावा फूल, गंगाजल, तुलसीपत्र, इत्यादि आवश्यक हैं। किन्तु अन्तरंग साधना में इन सब का कोई प्रयोजन नहीं। शुद्धवस्त्र न धारण करने से भी दोष नहीं। किसी बाहरी उपचार की कोई आवश्यकता नहीं। केवल मन एवं प्राण के साथ ही अन्तरंग साधना

करनी पड़ती है। ये दोनों वस्तुए सब के पास हैं इसलिए प्राणकर्म अथवा प्राणायाम ही अन्तरंग साधना का प्रधान वैशिष्ट्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते"—[गीता : २।४०] अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग (प्राणकर्म) में अभिक्रम अथवा प्रारम्भ की विफलता नहीं है और न तो कोई प्रत्यवाय या विघ्न-बाधा या पाप है तात्पर्य यह कि निष्काम कर्मयोग या प्राणकर्म का कोई अभिक्रम दोष नहीं है। क्योंकि निष्काम कर्म होने के कारण इसमें कोई कामना नहीं। यह स्वत: ही जारी है या स्वयं चल रहा है। इसका कोई नव या नया आरम्भ नहीं है। यह सहज है और जन्म के साथ प्राप्त है।

गंगास्नान बहिरंग साधना के अन्तर्गत है। सभी वर्ग-श्रेणी के ऊच-नीच जनसामान्य गंगा-स्नान कर सकते हैं। इसमें कोई बाधा-विघ्न नहीं। स्रोतस्विनी गंगा में स्नान करने से स्वास्थ्य में जो उन्नति होने वाली होगी, वह सबके लिए समान है। और होगी ही; किन्तु यदि कोई गंगा-स्तोत्र का पाठ करते हुए भक्ति पूर्वक गंगास्नान करता है तो उसके स्वास्थ्य के विकास या उन्नति से साथ उसकी भक्ति में भी उत्कर्ष की वृद्धि होगी। यह उसका अतिरिक्त लाभ होगा। इससे अधिक और कुछ नहीं होगा। यदि कोई गंगा की अधिष्ठात्री देवी का दर्शन करना चाहे तो वह ध्यान द्वारा प्राप्त होगा; किन्तु यदि कोई मनुष्य जीवन को सफल करने के उद्देश्य से कृतकृत्य अथवा कृतार्थ होना चाहता है तो उसे अपनी देह के भीतर स्थित त्रिवेणी में अवश्य ही स्नान करना होगा। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन मुख्य नाडियाँ हैं जो ज्ञान संकलिनी तंत्र के मतानुसार क्रमशः गंगा (इड़ा) यमुना (पिंगला) सरस्वती (सुषुम्ना) नाम से परिचित हैं।

'इड़ा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इड़ापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—ज्ञान संकलिनी तंत्र : ११।१२

अर्थात् इड़ा, गंगा, पिंगला, यमुना और इड़ा-पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी ही सरस्वती नदी है। आज्ञाचक्र में इन तीन नाड़ियों के संगम-स्थल को तीर्थराज त्रिवेणी-प्रयाग कहते हैं। यदि कोई उस आज्ञाचक्र में स्थित तीर्थराज प्रयाग में स्नान कर सके अर्थात् वहाँ सहस्रार से क्षरित या निर्झरित अमृत की सहस्रधारा में डूब सके तभी वह समस्त पापों से मुक्त हो सकता है, अथवा मुक्त हो जाता है। किन्तु वहाँ स्नान

कैसे किया जायगा ? उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में तंत्र की भाषा में उसका विवरण इस प्रकार है—

मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनम् ।
वायु स्थिरा यस्य विनानिरोधनम् ।।
दृष्टिः स्थिरो यस्य विनावलोकनम् ।
सा एव मुद्रा विचरन्तो खेचरी ।।

—ज्ञान संकलिनी तंत्र १४

अर्थात् विना अवलम्बन के मन को स्थिर करके, अवरोध या निरोध के विना श्वास-प्रश्वास को स्थिर करके और अवलम्बन के विना अर्थात् मन या कल्पना द्वारा कुछ न देखकर कूटस्थ में दृष्टि को स्थिर करके उस तीर्थराज में स्नान करना पड़ता है और उसे ही खेचरी मुद्रा में अवस्थिति की संज्ञा दी गई है। इसी को भगवान श्री कृष्ण ने 'मन्मना' कहा है, अर्थात् मुझमें (आत्मा में) मन रक्खो, निमग्नचित्त हो जाओ—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, (गीता : १८।६५) अर्थात् मुझ परमात्मा में ही नित्य निरन्तर मन को दृढ़ करो, निष्काम भाव से मुझ परमेश्वर (आत्मा) का ही भजन करो और प्रेम से विह्वलता पूर्वक उसकी ही अर्चना करो। तात्पर्य यह है कि चंचल मन ही जीव का वर्तमान मन है और वर्तमान के द्वारा ही जीव सारे कर्म करता है। इस वर्तमान मन को प्राण कर्म द्वारा स्थिर कर लेने पर वर्तमान चंचल मन का अस्तित्व विलुप्त हो जाएगा और वह स्थिर मन में पर्यवसित हो जाएगा तभी मन में मन का अवस्थान होगा। इस प्रकार जब मन में मन को अवस्थित करोगे तभी तुम मेरे (आत्मा के) सच्चे भक्त कहलाओगे। और मेरा ही यजन करते हुए यजनशील के रूप में अर्थात् मेरे ही यज्ञ के (आत्मकर्म या आत्मयज्ञ के) उपासक के रूप में मुझे ही (आत्मा को ही) नमस्कार करोगे अर्थात् स्वयं को ही स्वयं ही नमस्कार करोगे अथवा स्वयं ही स्वयं को जानोगे। इसीलिए प्रह्लाद को जब भगवान का दर्शन होता है तब उन्होंने अपने आराध्यदेव को **"नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः"** (विष्णुपुराण) कहकर प्रणाम किया था।

बाहर की गंगा में देह को डुबाकर स्नान किया जाता है; किन्तु आन्तिर गंगा में देह को डुबाया नहीं जाता, वहाँ तो मन एवं प्राण को डुबाना पड़ता है। इस प्रकार मन एवं प्राण को कूटस्थ रूपिणी त्रिवेणी में यदि डुबाकर स्नान कराया जा सके तो जीवन धन्य हो जाता है, सांसारिक मोह-माया या भवरोग दूर हो जाते हैं और जन्म-मृत्यु का प्रवाह समाप्त हो जाता है।

किस प्रकार या कैसे उस आज्ञाचक्र में स्थित तीर्थराज प्रयाग में मन एवं प्राण को डुबाकर स्नान किया जाता है; योगिराज ने उसके उपाय की चर्चा अपने क्रियायोग की साधना के प्रसंग में की है। वही अंतरंग साधना है; यही सब को करना चाहिए।

यमो वैवस्वतो देवो यस्तुवैस हृदि स्थितः।
ते न चेद विवादस्ते मा गंगां मा कुरुन गम.॥

—मनु रहस्य: ८।९२

अर्थात् आन्तर साधना द्वारा जिसके हृदय में सर्वदा स्थैर्य या जिसे स्थिरता की अवस्था प्राप्त है उसके लिए गंगा या कुरुक्षेत्र में स्नान का प्रयोजन नहीं है।

योगिराज द्वारा निर्दशित या प्रदर्शित साधना-मार्ग को शास्त्र की भाषा में आत्मविद्या, अध्यात्म विद्या या ब्रह्मविद्या कहते हैं; किन्तु उन्होंने स्वयं इसको 'क्रियायोग' या संक्षेप में क्रिया का नाम दिया था। यह 'क्रियायोग' न्यायशास्त्र सम्मत (Logical) एवं विज्ञान सम्मत (Scientific) है। योगिराज ने इसे गणित या अंक-विद्या जैसा सही और निर्भ्रान्त विज्ञानसम्मत बताया है। उनका कहना था कि भक्ति के बिना ईश्वर-साधना नहीं होती, यह सही है; किन्तु वैसी भक्ति कितनों में हैं ? जो ईश्वर-साधना का मूल आधार है। पहले तो वैसी भक्ति आती नहीं। इसलिए जिनमें भक्ति का अभाव है या नहीं है वे भक्ति की साधना कैसे करेंगे ? उनके मन में साधना की इच्छा नहीं उभरती। उन्हें भक्ति का अर्जन करना पड़ेगा। जिस प्रकार अरुचि के कारण खाना अच्छा तो नहीं लगता; किन्तु खाने से ही जिस प्रकार भूख शान्त होती है उसी प्रकार क्रिया करना, अच्छा लगे या न लगे; किन्तु क्रिया करने पर आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार अवश्य ही होगा। वास्तविक भक्ति स्वयं ही आयेगी। यह ठीक है कि पहले अभ्यास न रहने के कारण वह वस्तुतः नहीं आयेगी या अच्छी नहीं लगेगी, किन्तु क्रिया का नियमित अभ्यास करना निश्चय ही अच्छा लगेगा। क्रिया अर्थात् कर्म को ही उन्होंने गीता के कर्मयोग के समानान्तर क्रिया योग की संज्ञा दी थी। कर्म के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। इसीलिए गीता में कर्मयोग को इतनी प्रधानता दी गई हैं। पातंजल योग दर्शन सहित अन्य शास्त्रों में भी क्रियायोग का नामोल्लेख मिलता है।

'तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः।
स हि क्रियायोगः समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥

—पातंजल योगसूत्र : साधनपाद २।१-२

तपः स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान अथवा ध्यान आदि ही क्रिया योग हैं। यह क्रियायोग समाधि का अनुष्ठान है और अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करता है। इस प्रकार समाधि का अनुष्ठान अथवा प्रयत्न करते-करते शारीरिक और मानसिक क्लेश कम हो जाते हैं उसके बाद प्रकृष्ट रूप में नाद का श्रवण करने पर मन में किसी प्रकार की कल्पना नहीं उभरती। तत्पश्चात् सत्वपुरुष की प्राप्ति होने पर सूक्ष्म प्रज्ञा का उदय होता है। इसीलिए योगिराज कहा करते—**"शारीरिक कष्ट होने से ही समझोगे कि साधना ठीक से नहीं हो रही है।**

यही वह अमर योग है जिसे प्राचीन काल में समस्त ऋषिगण करते थे। भगवान श्री कृष्ण के जन्म से पहले भी यह था, आज भी है और चिरकाल तक रहेगा। इसी कारण यह अमर योग हैं। काल के प्रभाव से कभी-कभी यह मलिन होता है और तभी कोई महामानव आविर्भूत होकर इसे पुनः प्रतिष्ठित करता है। एक बार इस अमर योग के लुप्त प्राय होने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानव-समाज में इसका प्रचार किया था। उसके बाद दीर्घकाल तक इस महान अमर योग का अनुशीलन उपेक्षित रहा। तभी कृष्ण सदृश बाबा जी महाराज ने अर्जुन सदृश श्यामाचरण के माध्यम से इसे पुनः मनुष्य समाज के लिए सहजलभ्य बनाया **"जो किसुन सो बुड़ूवा बाबा"** —जो कृष्ण हैं वही बुढ़वा बाबा अर्थात् बाबाजी हैं। योगिराज की उक्ति से यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है।

केवल यही नहीं, उन्होंने और भी लिखा है—"बाबा जी के रूप, एही जम ओ धर्म।" इससे स्पष्ट है कि उनके गुरु केवल महान योगी ही नहीं थे बल्कि वे स्वयं ही यम और धर्म थे। इसीलिए भगवान ने आश्वासन देते हुए कहा है जब-जब धर्म की हानि होगी या ग्लानि उपस्थित होगी अथवा जब-जब यह महान अमर योग उपेक्षा या अवहेलना के कारण लुप्तप्राय होगा, तभी वे किसी महामानव के रूप में आविर्भूत होकर पुनः धर्म की संस्थापना करेंगे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्यामाचरण का आविर्भाव हुआ। भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।

—गीता : १८।४८

अर्थात् यह क्रियायोग ही वह सहज कर्म है या प्राणकर्म है जो सहजात है। पहले पहल अनाभ्यास के कारण दोषयुक्त होने पर भी इसको छोड़ना उचित नहीं है; क्योंकि प्रारम्भ से सभी कर्म धुएँ से ढँकी अग्नि की तरह दोषपूर्ण रहते हैं। इसीलिए योगिराज प्रायः इस बात को

दुहराते और सब से कहते—"बनत बनत बन जाय।" अर्थात् आत्मकर्म का नियमित अभ्यास करते रहने से एक दिन कर्मातीत अवस्था प्राप्त हो जाती हैं। और तब तुम अपने लक्ष्य या केन्द्र तक पहुँच जाओगे, वस्तुतः तभी तुम परमात्मा-दर्शन करोगे और स्वयं, स्वयं को जान सकोगे। योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस प्राणकर्म के सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है—

प्राणायामो महाधर्मो वेदानामप्यगोचरः।
सर्वपुण्यस्य सारोहि पापराशितुलानलः॥
महापातक कोटीनां तत्कोंटीनांचदुष्कृताम्।
पूर्वजन्मार्जितं पापं नाना दुष्कर्मपातकम्॥
नश्यत्येव महादेव धन्यः सोऽभ्यासयोगतः॥

—रुद्रयामल : पन्द्रहवां पटल

अर्थात्, प्रणायाम महाधर्म है जो वेद या विज्ञान द्वारा भी अगोचर है। यह सभी पुण्यों का सार है और सभी पापों का विनाशक है। इसके द्वारा करोड़ों दुष्कर्म एवं पूर्वजन्म के सभी पाप नष्ट होते हैं। जो इस प्राणायाम का अभ्यास करते हैं वे धन्य हो जाते हैं।

इस प्राणायाम के लाभ एवं उपकार के सम्बन्ध में योगशास्त्र ने उदात्त कंठ से घोषणा की है—"**आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।**" अर्थात् जो प्राणायाम करते हैं वे आनन्द या सुख पूर्वक सांसारिक जीवन व्यतीत करते हैं।

किन्तु यह नाक दबाकर किया जाने वाला प्राणायाम नहीं है। यह गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। जो प्राणायाम नाक दबाकर किया जाता है उसमें बलपूर्वक वायु को रोककर प्रकृति अथवा स्वभाव के विरुद्ध कुम्भक करना पड़ता है। इससे रोग या व्याधि होने की आशंका रहती है—"**बालबुद्धिभिरंगुलांगुष्ठाभ्यां नासिकाच्छिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्यः।**" (ऋग्वेद भाष्य) अर्थात् अल्पबुद्धि वाले लोग उंगली द्वारा नासिकाछिद्र को बन्द करके जो प्राणायाम करते हैं वह शिष्टजनों के लिए परित्याज्य है।

योगिराज ने कहा कि जिस प्रकार एक और एक मिलकर दो होते हैं, यह एक वैज्ञानिक एवं गणितीय सत्य है, उसी प्रकार १२ उत्तम प्राणायाम से प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियजन्य विषय से प्रत्याहार, १४४ प्राणायाम से धारणा अर्थात् आत्म विषयक धारणा होती है। क्योंकि इन्द्रिय सम्वन्धी विषयों या वृत्तियों से मन के सम्यक रूप से प्रत्याहृत या निरोध होने पर ही आत्म विषयक धारणा आती है। १७२८ उत्तम प्राणायाम से ध्यान अर्थात् आत्म-विषयक स्थिर लक्ष्य और २०७३६

उत्तम प्रंाणायाम से समाधि होगी यह भी निश्चित एवं वैज्ञानिक सत्य हैं।

> प्राणायामद्विषट्कन प्रत्याहारः प्रकीत्तितः।
> प्रत्याहार द्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥
> धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानं ध्यान विशारदैः।
> ध्यान द्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥
>
> —गोरक्ष संहिता

भोजन जिस प्रकार भूख या क्षुधा के लिए निवृत्तिकारक है, उसी प्रकार क्रिया योग ईश्वर प्राप्ति का माध्यम है। इस प्रकार साधना का एक वैज्ञानिक या विज्ञान सम्मत आधार योगिराज द्वारा प्रदर्शित साधनपथ की एक और विशेषता है।

योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस क्रियायोग की साधना कितनी विज्ञान सम्मत है इसके सम्बन्ध में उन्होंने और भी सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामान्यतः सभी लोग चौब्रीस घन्टे में २१६०० बार श्वास-प्रश्वास का ग्रहण एवं त्याग करते हैं। वही जीव की आयु है अर्थात् एक मिनट में सभी १५ श्वास-प्रश्वास, ग्रहण करते एवं छोड़ते हैं। इसी क्रम से जीव की आयु क्षीण या क्षयित हो रही है। जब भी श्वास की पूँजी शेष या समाप्त हो जाती है तभी जीव की मृत्यु होती है; किन्तु एक प्राणायाम में ४४ सेकण्ड का समय लगता है। इसके अनुसार योगी २४ घन्टे में लगभग १९६४ या दो हजार प्राणायाम करते हैं। तात्पर्य है कि योगी २४ घन्टे में मात्र दो हजार श्वास-प्रश्वास का ग्रहण एवं त्याग करते हैं। किन्तु साधारण आदमी २१६०० बार साँस लेता है और छोड़ता है। प्राणायाम करते-करते योगी जब निश्चल अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तब उनके श्वास-प्रश्वास में किसी प्रकार की गति नहीं रहती इसीलिए योगिराज कहा करते थे "जब छ चक्रों में मन न देकर स्वयं क्रिया होगी तभी सब कुछ बता सकोगे।" अर्थात् वैसे व्यक्ति जो कहेंगे वही सत्य होगा, क्योंकि उस समय वे युक्ततम अवस्था में स्थित होते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने और भी कहा है—"**२१६०० श्वास को रोके। १०० दिन रोके तो जों इच्छा करे सिद्ध होय—तब जत्ता रोज चाहे जिए।**" अर्थात् इस प्रकार कुम्भक होने पर योगी को इच्छामृत्यु की अवस्था प्राप्त होती है। "**पूरक रेचक छूटे तब केवल कुम्भक कहलावे।**" अर्थात् प्राण कर्म करते करते जब श्वास प्रश्वास का भीतर जाना और बाहर आना नहीं होगा—निश्चल हो जायेंगे—तभी केवल कुम्भक रूप आनन्द की अवस्था होगी। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"नास्ति बुद्धिर्युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।" गीता : २।६६
अर्थात् अयुक्त व्यक्ति या साधन रहित व्यक्ति के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि का अभाव है। आत्म-चिन्तन में अयुक्तता के कारण वास्तविक ध्यान भी नहीं होता, क्योंकि जीव की जो वर्तमान या उपस्थित बुद्धि है वह अयुक्त बुद्धि या चंचल बुद्धि है, वह मिथ्या है। इसलिए इस चंचल अवस्था से उत्पन्न बुद्धि भी मिथ्या है। जब श्वास-प्रश्वास ही जीव की आयु है तो फिर सहज में ही समझा जा सकता है कि योगी प्राणकर्म या प्राणायाम द्वारा उसके व्यय को कम करके स्वेच्छा से परमायु की वृद्धि करने में सक्षम होते हैं। और इसी प्रकार ही वे मृत्यु को भी नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं। जो जितना ही अधिक प्राणायाम करेंगे वे उतने ही दीर्घजीवी एवं सुन्दर स्वास्थ्य के अधिकारी होंगे इसलिए समाधि की अवस्था अर्थात् क्रिया की परावस्था भी मृत्यु का ही प्रतीक है या मृत्यु पदवाच्य है; क्योंकि उस समय श्वास नहीं रहता और श्वास का अभाव ही मृत्यु है।

यह क्रियायोग रूप श्वास-क्रिया एक अति प्राचीन विज्ञान है। वेद उपनिषद गीता एवं तंत्र-योग आदि शास्त्रों में इसके रहस्य एवं उपयोगिता का अत्यधिक वर्णन एवं विवेचन प्राप्त है। यज्ञ, नित्यपूजा एवं सभी प्रकार के धर्म-कर्म में भी इस योग का प्रतीक लक्षित है। वर्तमानकाल में जिस प्रकार प्रतीक की आड़ में देव-देवी आवृत हो गये हैं उसी प्रकार यज्ञ एवं बाहय पूजा के अन्तराल में या उनके भीतर प्राण-यज्ञ आवृत हो गया है। पुराणेतिहासिक दृष्टि से भगवान श्रीकृष्ण ने यह योग अर्जुन को प्रदान किया था। समस्त विश्व के अनेक महात्माओं ने इसी योग-मार्ग या साधना के माध्यम से जीवन में सार्थकता एवं सफलता के साथ परमात्म बोध को उपलब्ध किया है। जिनमें कपिल राजा जनक, व्यासदेव [कृष्णद्वैपायन] शुकदेव, पतंजलि, सुकरात, महात्मा यीशु ख्रिस्त, सेन्ट जॉन, सेन्ट पॉल, दादू दयाल, कबीर रविदास, गोरक्षनाथ, तुलसीदास, नानक, रामप्रसाद सेन आदि-आदि विख्यात हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अपने किसी पूर्व अवतार के समय इस महान अक्षय योग की प्रणाली सूर्य को प्रदान की थी। सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। इसी प्रकार राजर्षियों ने इस योग से परम्परागत सूत्रों द्वारा परिचय प्राप्त किया था। अर्थात् स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण ने यह अक्षययोग सूर्य को दिया था—प्राण ही सूर्य है—(**'आदित्यो ह वै प्राणः'**) जिस इड़ा और पिंगला में प्राण का प्रवाह चल रहा है या गतिशील है, उस पिंगला नाड़ी को ही सूर्यनाड़ी और इड़ा नाड़ी को चन्द्रनाड़ी कहते हैं। इसीलिए

पिंगला नाड़ी स्थित वायुरूपी प्राण ही सूर्य है। उन्होंने सूर्य से कहा अर्थात् अव्यक्त अवस्था रूप जो स्थिरप्राण जीवन कृष्ण हैं वे चंचल गति के रूप में सूर्यनाड़ी के भीतर प्रवेश करके चंचल अवस्था के रूप में अभिव्यक्त हुए या प्रकाशित हुए अर्थात् स्थिर प्राणरूप जीवन कृष्ण द्वारा चंचल प्राणरूप सूर्यनाड़ी में व्यक्त रूप अवस्था ही योग है उस योग को सूर्य ने मनु को बतलाया—यहाँ मनु का अर्थ है मन। प्राण चंचल होने पर जब मन की उपाधि या नाम धारण कर लेता है तब उसी मन में योग का व्यक्त भाव या स्वरूप स्थिर होता है। वायु की स्थिरावस्था ही योगयुक्त अवस्था है। उसी स्थिरावस्था से चंचल होकर पिंगलारूप सूर्य एवं मन पर योग की अभिव्यक्ति हुई। अर्थात् स्थिर प्राण रूप आत्मा चंचल होकर पिंगलारूप सूर्य में व्यक्त हुआ फिर सूर्य से मन या मनु में और फिर इक्ष्वाकु अर्थात् नासिका में स्थित बहिर्वायु के रूप में इस अक्षय योग की अभिव्यक्ति हुई। चारों वर्ण के लिए चार आश्रमों में विभाजित समाज-व्यवस्था में योगचर्या, ब्रह्मचर्य आश्रम से लेकर संन्यास तक हर स्तर के सभी वर्ण के लोगों के लिए अनिवार्य थी। रघुवंशी राजाओं में इसका व्रत के रूप में पालन करते हुए प्रायः सभी ने मरते समय योग-मार्ग के सहारे देह त्याग किया था। वह परम्परा हमारे देश में अन्ततः महाकवि कालिदास के काल तक अक्षुण्ण थी। 'रघुवंश' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में 'योगेनान्ते तनुत्यजाम' से इस तथ्य की पुष्टि होती है। धीरे-धीरे समय के प्रभाव से यह चर्या लुप्तप्राय हो गई थी। श्यामाचरण ने इस महान योग-साधना को पुनः प्रसारित प्रचारित करके उसे एक नया आयाम दिया है। उन्होंने इसका पुनरुद्धार करते हुए एवं उसकी कठोरताओं को सरलता का संस्पर्श एवं संस्कार देकर इसे वर्तमान दुर्बल एवं मनोबल हीन मनुष्य-समाज के लिए एक सशक्त शक्तिकूट के रूप में प्रस्तुत किया और सामान्य लोगों में आजीवन प्रचार-प्रसार किया। विश्व-वाङ्मय में मानव समाज के लिए यह उनका श्रेष्ठ ज्ञान-दान है।

● ● ●

आत्मा के अस्तित्व के कारण ही पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश की प्रतीति हो रही है। आत्मक्रिया के द्वारा कूटस्थ ब्रह्म में मन की तद्रूपता होने से ही मुक्त—इसलिये मुक्त होना और कुछ भी नहीं,

केवल क्रिया की परावस्था में हमेशा स्थित रहने का पर्याय है। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में स्थित रहने से देह पृथक रहता है। इस रूप में देह को यदि पृथक करके चित्त, मन इत्यादि को कूटस्थ ब्रह्म में रखो तो मन की भाग-दौड़ या उसका वेग-प्रवेग शान्त होगा एवं तभी सुन्दररूप ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करोगे। सुन्दररूप ब्रह्म में स्थित रहने पर तुम भी नहीं और तुम्हारा भी कुछ नहीं। अतएव दूसरी ओर मन को आबद्ध करने से मुक्त हुए। वस्तुतः उस समय तुम्हारा विप्र आदि वर्ण भी नहीं, कोई आश्रम भी नहीं, तुम्हारा कोई आकार भी नहीं, तुम इस चक्षु द्वारा गोचर भी नहीं, तथा तुम्हारी कोई इच्छा भी नहीं; अतएव तुम इस विश्व या संसार के मात्र साक्षी बनकर शून्य ब्रह्म में सर्वदा स्थित रहो अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहो, यही तुम्हारा एकमात्र कार्य है। इस महाशून्य का क्षणभर के लिये भी जिसने दर्शन प्राप्त किया है उसका जीवन सार्थक है। धर्म-अधर्म, सुख-दुख इत्यादि यह सब मन के कार्य हैं; किन्तु तुम्हारा जो विभु है उसका कुछ भी नहीं। तुम कर्त्ता भी नहीं भोक्ता भी नहीं; कर्त्ता एवं भोक्ता का अस्तित्व मन द्वारा होता है। वही मन जब ब्रह्म में लीन हो गया अर्थात् क्रिया की परावस्था में पूर्णतः दृढ़ता के साथ स्थित हो गया तब निश्चित रूप से सर्वदा मुक्त है। यह जो अवस्तु की वस्तु-ब्रह्म है, उसे ही सर्वत्र देख रहे हो; किन्तु द्रष्टा अर्थात् मन जब तक ब्रह्म-स्वरूप नहीं होता तभी तक ही दृश्य दिखाई पड़ता है। द्रष्टा एवं दृश्य दोनों होने पर मन की स्थिति अन्यत्र रहती है। इस प्रकार मन अर्थात् द्रष्टा का बन्धन हो रहा है और यही तुम्हारी बन्धन की अवस्था है। मैं कर्त्ता के रूप में ब्रह्म को देख रहा हूँ अथवा सामने तुम्हें देख रहा हूँ; यही अहं है। यह अहं ही तुम्हें काट या डस रहा है। इसीलिये तुम्हें तमाम सांसारिक यंत्रणाओं एवं छटपटाहटों का अनुभव हो रहा है। किसी प्रकार की मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त होने के कारण ही उपदेश की कामना-प्रार्थना रखते हो। इसीलिये कह रहा हूँ कि मैं कर्त्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं; क्रिया की परावस्था में रहने पर यह विश्वास अपने आप होता है। इस विश्वास रूपी अमृत का पान करके सुन्दररूप ब्रह्म में सर्वदा स्थित रहो अर्थात् हमेशा क्रिया की परा-वस्था में रहो। इसी को मुक्तावस्था कहते हैं और जो इसके विपरीत है, वह बन्धन की अवस्था है।

यह समग्र विश्व मन की कल्पना मात्र है; रस्सी में सर्पभ्रम जैसा। और फिर जब रस्सी में रस्सी का बोध होता है तब आनन्द प्राप्त होता है। उसी प्रकार जब क्रिया की परावस्था में तुम रहते हो तब स्वयंबोध स्वरूप तुम ही हो। वह तुम साक्षीस्वरूप हो, विभु हो,

पूर्ण हो। पूर्ण होने से ही एक और एक होने से ही मुक्त। ऐसी स्थिति में तब तुम अक्रिय, इच्छा रहित निस्पृह हो जाते हो, इसलिए शान्त एवं स्थिर हो जाते हो। केवल भ्रम में ही सांसारिक बन्धन है। देहरूप सदैव से अभिमान के पाश में बँधा है इसलिए 'मैं' का यह बोध हो रहा है। उस वर्तमान 'मैं' को क्रिया रूपी खड्ग द्वारा काट दो और जब क्रिया की परावस्था में 'मैं' का अस्तित्व नहीं रहेगा तभी 'मैं पन' दूर होगा एवं ब्रह्म में लीन होकर सुखी रहोगे। उस समय तुम कुछ भी नहीं करोगे; क्योंकि तब कर्म रहेगा नहीं। उस समय किसी प्रकार की इच्छा भी नहीं होगी इस कारण तुम निःसंगता की स्थिति में रहोगे। वस्तुतः यही निःसंग अवस्था है; क्योंकि इच्छा के अभाव में किसी प्रकार की इन्द्रिय-संगता या आसक्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में तुम ही स्वप्रकाश, निरंजन रूप हो। शुद्ध-बुद्ध स्वरूप क्रिया की परावस्था में तुम ही हो। तुम इतने महान व्यक्ति होकर क्षुद्र चित्त मत बनो। उस क्रिया की परावस्था में स्थित रहो, जहाँ कोई विषय नहीं, विकार नहीं, भय नहीं और वही शीतल-शान्त होने का और विश्राम-प्राप्ति का स्थान है। उसके पूर्व 'मैं' रूप का ज्ञान होने से यह जगत भासमान है किन्तु जब क्रिया की परावस्था में 'मैं' का अस्तित्व नहीं होता तब इस प्रकार का आत्मज्ञान होने से जगत का अस्तित्व नहीं। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में मैं ब्रह्म हूँ तब फिर मैं किसको नमस्कार करूँगा? तब मैं स्वयं ही स्वयं को ओंकार क्रिया द्वारा नमस्कार करता हूँ क्योंकि मेरा विनाश नहीं। अन्य किसी को नमस्कार करने पर द्वैत हुआ। फिर जिसको नमस्कार करूँगा उसका विनाश सम्भव है क्योंकि ब्रह्मादि स्तम्भ तक जगत का जो कुछ भी है, नाशवान है। इसलिए मैं अपने को ही नमस्कार करता हूँ।

मुझ से भिन्न अन्य होने पर द्वैत की सृष्टि होती है। यह ही महादुःख का मूल है। क्रिया की परावस्था से अलग इस दुःख की और कोई औषधि या उपचार नहीं। दो होने से ही कल्पना की सृष्टि होती है। यह शरीर स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष, भय, कामना, वासना सभी कल्पना मात्र है। इन सारी कल्पनाओं का परित्याग कर देने पर क्रिया की परावस्था में जब एकाकार की स्थिति होती है तब इच्छा भी नहीं, अनिच्छा भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। तब शान्त स्वरूप निराश्रय 'मैं' की स्थिति होती है। तुम जो जीवित रहने की इच्छा करते हो, यही तुम्हारा बन्धन है। यह इच्छा जब नहीं तो फिर बन्धन कहाँ? क्रिया की परावस्था में अटके रहना, जिसे ज्ञान कहते हैं, यह ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है अर्थात जो अटके रहे उनका यह ज्ञान ही

मित्रस्वरूप है। क्रिया की परावस्था में जो अटके रहते हैं उनके भीतर इहलोक-परलोक की कोई इच्छा नहीं रहती—वे कामना-रहित हो जाते हैं। किन्तु नित्य एवं अनित्य का जिन्हें बोध है, वे ही मोक्ष की कामना करते हैं। यह भी द्वैत है, किन्तु क्रिया की परावस्था में जो धीर व्यक्ति रहते हैं वे कुछ भी नहीं करते; लेकिन सभी कुछ करते हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**'पाँच दण्ड रोध होने पर कर्म होगा'**—अर्थात् क्रिया करते-करते कम से कम पाँच दण्ड के लिए भी प्राणवायु के रुद्ध होने पर अर्थात् पाँच दण्ड केवल कुम्भक की अवस्था प्राप्त होने पर जिस अवस्था की उत्पत्ति होगी, वही कर्म होगा अर्थात् उस रुद्ध अवस्था में रहना ही प्रकृत कर्म है और उसमें न रहना ही अकर्म है। ऐसे धैर्यशील व्यक्ति हमेशा ही आत्मा में स्थिर होकर रहते हैं। उन्हें सन्तोष भी नहीं, असन्तोष भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। वे कुवाक्य या अपशब्द सुनकर भी क्रुद्ध नहीं होते और स्तुति करने पर भी प्रसन्न नहीं होते। इच्छारहित होने पर आशा नहीं रहती। आशा रहित होकर क्रिया की परावस्था में रहने से हमेशा आत्मा में स्थित रहकर तृप्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति को ही महात्मा कहते हैं और ऐसे महात्मा के साथ किसी की तुलना नहीं। इस प्रकार के महात्मा के सम्बन्ध में जनक ने कहा है—

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्व देवताः।
अहो! तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥[१]

अर्थात् जिस पद-प्राप्ति के लिए सभी देवता दीन भाव से अपेक्षा रखते हैं उस पद को धीर योगीगण प्राप्त करके भी हर्षित नहीं होते।

जो क्रिया की परावस्था में हैं उन्हें पाप-पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते। वे ही विज्ञ हैं और वे ही प्रकृत इच्छा एवं अनिच्छा का वर्जन करने में समर्थ होते हैं। इस विश्व को जल के बुलबुले की तरह समझकर सुख-दुःख दोनों को समान जानकर तथा आशा-निराशा और जीवन-मृत्यु को समान समझकर क्रिया करो और क्रिया की परावस्था में लय हो जाओ। तब तुम्हारे भीतर ग्रहण और त्याग भी नहीं अर्थात् आगम भी नहीं निगम भी नहीं; श्वास भी नहीं, प्रश्वास भी नहीं।

जो काल है, वही वय या उम्र है क्योंकि काल भी समय है, उम्र भी समय है। यह जो काल चला जा रहा है उसे देखो; देखते-देखते जो कालस्वरूप श्वास चल रहा है वह जब स्थिर होगा तब 'सर्व ब्रह्ममयं जगत' हो जायगा और क्रिया की परावस्था में समता को प्राप्त करोगे।

१—अष्टावक्र संहिताः चतुर्थ प्रकरणम् द्वितीय श्लोक।

इच्छा करने का नाम ही संसार है; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सारी वासनाओं और इच्छाओं का त्याग कर देने से ही स्थिति होती है उस समय संसार का अस्तित्व नहीं रहता-यह प्राणकर्म सापेक्ष है। इसलिए इच्छा ही संसार है, इच्छा ही बन्धन है। और क्रिया की परावस्था में जब इच्छा भी नहीं तब संसार भी नहीं—वही मोक्ष है।

तीन गुणों से परे जो क्रिया की परावस्था है, वही भाव है। वह भाव जब नहीं अर्थात् क्रिया की परावस्था जब नहीं, तब वही अभाव है। उस भाव का अभाव मन के विकार से होता है। अर्थात् मन की चंचलता से ही मन विकार-ग्रस्त होता है। उस समय क्रिया की परावस्था में नहीं रहने से भाव का अभाव होता है। किन्तु क्रिया करते रहने से अभाव के चले जाने से स्वभाविक रूप से क्रिया होती हैं अर्थात् उस समय मस्तक में एक प्रकार का अनिर्वचनीय भाव स्फुरित होता है—वही नशा है। उसके बाद की स्थिति विकार-रहित होती है और विकार-रहित होने से ही निर्विकार स्थिति होती है। निर्विकार होने से ही शान्त, और शान्त होने पर और कोई आसक्ति नहीं रहती और न किसी प्रकार का क्लेश रहता है। इसलिए यह विश्राम की स्थिति है। चिन्ता करने से ही दुःख होता है; किन्तु क्रिया की परावस्था में चिन्ताशून्यता ही सुख एवं शान्ति का मूल आधार है।

भला-बुरा, हर्ष-विषाद, आश्रम-अनाश्रम की चिन्ता छोड़कर शान्त स्थिति में रहो अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहो, तभी प्रकृत विश्राम प्राप्त होगा। किन्तु याद रखो, उस अचिन्त्य रूप की भी यदि चिन्ता करते हो तो फिर चिन्ता ही का भजन हुआ। इसलिए 'मुझे क्रिया की परावस्था प्राप्त हो' इस चिन्ता का भी परित्याग करके शान्त स्थिर रहो, चिन्ताशून्य हो जाओ, एवं त्याग एवं ग्रहण दोनों का परित्याग करो। उस समय इच्छातीत होने का अर्थ भी नहीं रहेगा और अनर्थ भी या अर्थहीनता भी नहीं रहेगी। रूप में अथवा साकार में भी नहीं रहोगे, निराकार में भी नहीं रहोगे; बल्कि स्थिति में रहोगे। तब खाना, सोना, जाना सभी करोगे; किन्तु कुछ भी नहीं करोगे। जिस प्रकार मद्यप कोई कार्य करके भी नशा खत्म होने पर कहते हैं मैंने कुछ नहीं किया, उसी प्रकार क्रिया की परावस्था में एक विचित्र अवस्था प्राप्त होगी। उस समय सिद्धि की भी इच्छा नहीं रहेगी और सिद्धि-प्राप्ति का आनन्द भी नहीं रहेगा। क्रिया करते-करते इस प्रकार का त्याग अपने आप होता है। फिर इच्छा अनिच्छा दोनों के न रहने से, विषय संसार, शास्त्र, विज्ञान कुछ भी नहीं; बन्धन और मुक्ति भी नहीं; क्योंकि मुक्त होने की इच्छा भी नहीं। जिस प्रकार किसी वस्तु को प्राप्त करने

की इच्छा जागने पर उसे कैसे प्राप्त किया जाय, उसकी कल्पना उभरती है। उस इच्छा अथवा कल्पना की पूर्ति न होने पर द्वेष जन्मता है। यह सब कुछ मन का धर्म है। किन्तु जब क्रिया को परावस्था में मन आत्मा में मिल गया या एकाकार हो गया तब द्वेष, इच्छा, कल्पना, मन कुछ भी न रहने से निर्विकल्प स्थिति होती है। उस समय सुन्दररूप ब्रह्म में चरण करने से ब्रह्मचारी की संज्ञा प्राप्त होती है।

योगिराज भक्तों को उपदेश देते हुए और भी कहा करते थे कि —तुम्हारी आत्मा ही सभी भूतों या पदार्थों में है इसलिए सभी भूतों की आत्मा तुम्हारी आत्मा में है। कुछ भी पृथक नहीं अतएव तुम्हीं सर्व आत्मामय जगन्नाथ हो। क्रिया की परावस्था में यह विशेषरूप से जान लेने पर ही सभी के मन का भाव जान सकोगे एवं तभी सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से सभी भूतों के भीतर अनुप्रवेश करके उनके गुण एवं क्रिया को अपने आप ही जान सकोगे और सर्वशक्तिमान के रूप में सभी कार्य अनिच्छा की इच्छा द्वारा कर सकोगे। इस प्रकार गहरी क्रिया के द्वारा स्वयं को अणु से अणुतर जान लेने पर ही तुम्हारा अहंकार मिट जायेगा और अहंकार हीनता या निरहंकार की स्थिति प्राप्त होगी। तुम ही कूटस्थ स्वरूप हो उसके प्रति श्रद्धा रखो और बार-बार कह रहा हूँ उसी के प्रति श्रद्धा रखो। इस श्रद्धा से कभी च्युत-विरत मत होना; क्योंकि कूटस्थ स्वरूप भगवान, आत्मा तुम्हीं हो एवं तुम पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार से परे हो। जब क्रिया की परावस्था में एक हो जाओगे या अद्वैत की स्थिति प्राप्त हो जायेगी तब तुम्हीं जगन्मय हो, तुम्हारे विना जगत का अस्तित्व नहीं; अतएव भले-बुरे की कल्पना नहीं। एक हो जाने पर ही तुम्हीं अक्षय अविनाशी शान्त चिदाकाश अमर हो। उस समय फिर तुम्हारा जन्म, कर्म, संस्कार, अहंकार कहाँ? अतएव यह-वह आदि विभाग या खण्डता को छोड़कर सभी मैं हूँ—क्रिया की परावस्था में इस निश्चय के साथ निःसंकल्प हो जाओ। तुम स्वयं में स्वयं के न रहने से यह विश्व-संसार देख रहे हो; किन्तु जब क्रिया की परावस्था में स्वयं में स्वयं की स्थिति हो जाएगी तब तुम्हीं परमार्थ स्वरूप जगन्नाथ हो। एक बार सोचकर देखो कि तुम्हारे विना और कुछ भी नहीं; तुम्हीं संसारी हो फिर तुम्हीं असंसारी हो। क्योंकि जब तुम्हारा ध्यान दूसरी ओर रहता है तब तुम संसारी हो; किन्तु तुम में तुम्हारे रहने या होने से अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहने से तुम असंसारी हो। तुम्हारी इच्छा से ही यह विश्व-संसार सब कुछ है; किन्तु क्रिया की परावस्था में इच्छारहित होने से ही यह सब कुछ जो दृश्यमान है, केवल भ्रम है, इसका निश्चित रूप से ज्ञान प्राप्त होगा तथा सब कुछ ब्रह्ममय है यह

ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् साम्य या समता की प्राप्ति होगी। उस समय तुम्हारा बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं—इस प्रकार कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक विचरण करोगे—यह दृढ़ता और निश्चय के साथ कह रहा हूँ।

तुम चाहे जितना ही शास्त्र पढ़ो या सुनो, उससे कुछ नहीं होगा। इन सब को भुलाना होगा।

किन्तु क्रिया की परावस्था नहीं होने पर, विस्मरण नहीं होता, चित्त आशा रहित नहीं होता। क्रिया को परावस्था में स्थित रहकर चित्त को आशा-रहित करना होगा। इच्छा करने से ही दुःख होता है, किन्तु जो व्यक्ति क्रिया का उपदेश प्राप्त करके और क्रिया करके इच्छा रहित होकर निवृत्ति को प्राप्त करता है, वह धन्य है। उसकी तुलना में कोई भी सुखी नहीं। ऐसा व्यक्ति फिर पलक गिराने-उठाने की भी इच्छा नहीं रखता। उस समय वह आलसी के रूप में कर्म-प्रवृत्ति से शून्य होकर चुपचाप पड़ा रहता है। अतएव चिन्ताशून्य होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है फिर धर्म, अर्थ, काम मोक्ष सब से निरपेक्ष हो जाता है। उस समय वह ग्रहण और त्याग दोनों से रहित होने के कारण विरक्त भी नहीं, आसक्त भी नहीं। इस अवस्था के बारे में निश्चित रूप से सभी नहीं जानते, जिन्हें यह अवस्था प्राप्त है, वही समझ सकते हैं; इस सम्बन्ध में जितना ही कहा या लिखा जाय फिर भी कोई नहीं समझेगा, अतएव भले-बुरे के विचार एवं इच्छा से रहित होने से ही संसार रूपी वृक्ष के अंकुर नष्ट होते हैं; किन्तु कष्ट-निवारण के लिए यदि कोई संसार को छोड़कर जंगल, पहाड़ की गुफा, मठ, मिशन अथवा आश्रम की ओर जाना चाहता है और वहाँ सुख प्राप्ति की इच्छा रखता है तो वहाँ भी बन्धन का कारण वर्तमान है। किन्तु इस संसार में रहकर भी जो क्रिया द्वारा क्रिया की परावस्था प्राप्त करके इच्छातीत हो जाते हैं उनके लिए सुख भी नहीं; दुःख भी नहीं, बन्धन भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। लेकिन जब तक इस देह में ममता और इच्छा है तब तक वह ज्ञानी भी नहीं, योगी भी नहीं, मुक्त भी नहीं—केवल दुःख का भागी होता है। यह निश्चित रूप से जान लो कि जब तक क्रिया करके क्रिया की परावस्था में इच्छा रहित नहीं होते हो, सब कुछ भुला नहीं देते हो, तब तक तुम्हारे समक्ष स्वयं ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश भी यदि प्रकट होकर उपदेश प्रदान करें तो भी कुछ नहीं होगा। जो इच्छा रहित हैं वे हमेशा ही एकाकी रमण करते हैं। उनके निकट सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाने से फिर द्वैत की स्थिति नहीं होती। और जब उनमें भोग और मोक्ष की इच्छा नहीं रहती तो ऐसे व्यक्ति को

महाशय कहते हैं और यह पद विरले व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। उस समय वे कुछ भी न देखकर सब कुछ देखते हैं; क्योंकि तब उनकी दृष्टि शून्य ब्रह्म में होती है। वे उस समय जाग्रत भी नहीं, निद्रित या सुप्त भी नहीं और दोनों आँखें न तो खुली ही होती हैं और न बन्द ही। यह एक विचित्र अवस्था है। उन्हें सुख; दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, नर-नारी, लाभ-हानि बन्धन-मुक्ति का समान ज्ञान होता है अथवा इन सब को वे समदृष्टि से देखते हैं। उनके लिए किसी प्रकार का इनमें भेद-प्रभेद नहीं होता। उस समय उनके निकट सब कुछ है किन्तु इच्छा एवं आसक्ति रहित होने से कुछ भी नहीं—भोजन मिलने से खा लेते हैं; न मिलने पर नहीं खाते। तब शून्य ब्रह्म में चित्त की स्थिति होने पर अपने आप में ही निमग्न रहकर स्वयं, स्वयं को ही नमस्कार करते हैं। उस समय क्रिया की परावस्था में स्थित रहने से भाव और अभाव कुछ नहीं; क्योंकि ये दोनों केवल चिन्ताग्रस्त जीव की कल्पना मात्र हैं। अतएव भाव-अभाव को छोड़कर निष्काम या इच्छारहित होकर रहो। तुम्हें कुछ जानने की आवश्यकता नहीं, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं और कुछ करने की भी आवश्यकता नहीं। इसीलिए जो योगी हैं वे संकल्प विकल्प से रहित होकर सभी कुछ आत्ममय है—इस प्रकार की निश्चित अवस्था में सतत युक्त रहकर, स्थिर होकर बैठे रहते हैं। क्रिया की परावस्था में इस प्रकार शान्त योगी के लिये कोई विक्षेप या अस्थिरता नहीं और विक्षेप हीनता की स्थिति में कोई कर्म नहीं। कुछ करना होगा—इस प्रकार की इच्छा ही नहीं—तब ऐसी एक स्थिति होती है कि कुछ करता नहीं हूँ इसलिए ध्यान भी नहीं। क्रिया की परावस्था के पूर्व इस विश्व-संसार को देख रहे थे; किन्तु क्रिया की परावस्था में ब्रह्मलीन होने पर स्वयं नहीं; इसलिये इच्छा करेगा कौन? इस प्रकार की ब्रह्मलीनता प्राप्त होने पर फिर किसकी चिन्ता? इसलिए ऐसी स्थिति में निश्चिन्त हूँ, और मैं ही अद्वितोय हूं, अपने से भिन्न और कुछ भी नहीं देखता तब मैं ही ब्रह्म हूँ।

जिसका मन विक्षिप्त है या जिसमें बिखराव है; वह बहुत कुछ देखता है; इसीलिए क्रिया द्वारा विक्षिप्तता अथवा अस्थिरता का निरोध या उसे नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। किन्तु वही व्यक्ति क्रिया करके क्रिया की परावस्था में जब उदार चित्त होता है तब फिर मन विक्षिप्त नहीं होता। इसलिए उसके लिए और कोई साधना नहीं; क्योंकि लम्बी साधना करने के पश्चात जब वह हमेशा के लिए कूटस्थ में स्थिति प्राप्त कर लेता है तब फिर वह क्या करेगा। फिर तो कुछ भी करने योग्य नही। क्योंकि प्राप्ति के लिए ही तो चेष्टा का प्रयोजन है;

किन्तु जब प्राप्ति हुई तो फिर चेष्टा की और आवश्यकता नहीं। इसीलिए यही कर्म की परिसमाप्ति है। तब धीर एवं स्थिर होने से आसक्ति नहीं इसलिए समाधि के लिये चेष्टा भी नहीं उस समय मन के विक्षेप शून्य रहने पर अपने आप ऐसे क्रियावान क्रिया की परावस्था में मग्न रहते हैं अर्थात् बुत की तरह स्थिर हो जाते हैं। वे भाव और अभाव दोनों मे अलग रहकर हमेशा क्रिया की परावस्था में तृप्त रहते हैं, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बिना जब जो कर्म सामने आ पड़ता है, वही करते हैं उस समय उनका अनागत या भविष्य भी नहीं और अतीत भी नहीं। ऐसे व्यक्ति संसार में रहकर भी असंसारी, देह के रहते हुए भी विदेही हैं। वे कुछ प्राप्त भी नहीं करना चाहते हैं और न तो किसी वस्तु या विषय की समाप्ति या नाश की ही इच्छा करते हैं। शून्य ब्रह्म में चित्त की स्थिति के कारण वे इच्छानुसार जो चाहें कर सकते हैं। उन्हें फिर किसी प्रकार के मान-अपमान की भावना स्पर्श नहीं करती। कल्पनाशून्यता के कारण तब उनमें विचार नहीं, जानना, सुनना, देखना भी नहीं, वे मोक्ष-पद की भी इच्छा नहीं रखते, उस समय वे निश्चिन्त होते हैं, किन्तु जिसके भीतर चिन्ता है वह कुछ न करने पर भी सब कुछ करता है। क्रिया की परावस्था में स्थित व्यक्ति उद्विग्न भी नहीं, निरुद्विग्न भी नहीं अहंकारी भी नहीं निरहंकारी भी नहीं. कर्त्ता भी नहीं अकर्ता भी नहीं— वे आशा एवं सन्देह से हमेशा परे होते हैं। वे ध्यान भी नहीं करते, मूर्ख भी नहीं ज्ञानी भी नहीं, कोई कर्त्तव्य भी नहीं अकर्त्तव्य भी नहीं वे तब निर्मल ब्रह्म स्वरूप हो जाते हैं। इच्छा की उपस्थिति में मोक्ष नहीं होता और क्रिया का अभ्यास करना भी इच्छा है; किन्तु वे व्यक्ति धन्य हैं जो क्रिया करते-करते क्रिया रहित होकर क्रिया की परावस्था प्राप्त करके निष्क्रिय हो जाते हैं। और इच्छापूर्वक कोई कर्म नहीं करते। इच्छा ही अनर्थ का मूल है इसलिए मनीषी इच्छारूपी मूल को उखाड़ फेंकते हैं जो क्रिया करने से अपने आप होता है। अज्ञानी अथवा मूर्ख शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु इच्छा की उपस्थिति या वर्तमानता के कारण उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं होती। किन्तु जो क्रिया की परावस्था में स्थित हैं वे धैर्यवान एवं इच्छा रहित होने से प्रशान्त मानस एवं परब्रह्म स्वरूप होते हैं। वे उस समय आत्मा को भी नहीं देखते क्योंकि आत्मा को देखने से ही अवलम्बन होगा। क्रिया की परावस्था में अवलम्बन होगा। क्रिया की परावस्था में अवलम्बन नहीं इसलिए कौन किसे देखेगा? जो मूर्ख अज्ञानी अथवा कुबुद्धिग्रस्त हैं वे ही शुद्ध अद्वैत आत्मा को देखना चाहते हैं और आत्मा की चिन्ता करते हैं; किन्तु क्रिया की परावस्था में कुछ भी नहीं है। इस बात को वे नहीं जानते। क्रिया

की परावस्था में जो हमेशा अटके या टिके रहते हैं वे विशेषतः निःशंक एवं उदासीन होने से अपने आप में स्थित रहते हैं; यह एक विचित्र स्थिति है। वे पहले इच्छापूर्वक प्राणायाम के द्वारा ही युद्ध करके फिर इच्छा पर विजय प्राप्त करके सदैव कूटस्थ में रमे रहते है। इस संसार में जो कुछ भी देख रहे हो, वह सभी नाशवान है। किन्तु क्रिया की परावस्था में जिस शून्य ब्रह्म का अस्तित्व है, वह अव्यय; अक्षय और अविनाशी है। उसमें स्थित रहने पर सारे ताप-सन्ताप विनष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उसमें स्थिति होने पर योगी इच्छा रहित होने के कारण इस विश्व संसार में रहकर भी नहीं रहते इसलिए देह का भी आभास नहीं रहता। उस समय उनकी देह का रहना या न रहना दोनों ही बराबर है। जब वे स्वयं ही नहीं तब उनमें ममता भी नहीं किन्तु लोगों को दिखाने के लिये वे सभी कर्म करके भी कुछ भी नहीं करते। इस प्रकार के योगी के लिए अँधेरे और उजाले का कोई अर्थ नहीं; हानिलाभ की चिन्ता नहीं। धैर्य, विवेक, बुद्धि, भय, निर्भयता, यत्न, अयत्न, कर्म-अकर्म इच्छा-अनिच्छा इन सब का भी उनके लिए कोई मूल्य नहीं। वह न तो स्वर्ग चाहता है और न नर्क। वह बन्धनग्रस्त भी नहीं, मुक्त भी नही। वह मूर्ख भी नहीं, ज्ञानी भी नहीं, लाभ-अलाभ की चिन्ता नहीं, शोचना-अनुशोचना कुछ भी नहीं, न तो किसी की स्तुति ही, न किसी की निन्दा ही, सुख भी नहीं, दुख भी नहीं, कर्त्तव्य भी नहीं, अकर्त्तव्य भी नहीं। हर्ष भी नहीं, शोक भी नहीं, वे मरने पर भी नहीं, जिन्दा रहने पर भी नहीं, उन्हें स्नेह भी नहीं, ममता भी नहीं, सन्तोष भी नहीं, असन्तोष भी नहीं, द्वन्द्व भी नहीं संशय भी नहीं, आसक्ति भी नहीं, निरासक्ति भी नहीं उनके लिए मिट्टी और स्वर्ण दोनों समान हैं। वे हमेशा केवल-क्रिया में रमण करने एवं महाकाश स्वरूप ब्रह्म में लीन होकर स्थित रहने के कारण आत्मा को भी नहीं देखते। तब उनका साध्य भी नहीं, साधना भी नहीं, उनकी तुलना किसी के भी साथ नहीं की जा सकती। वे तब जानकर भी नहीं जानते, देखकर भी नहीं देखते, बोलकर भी नहीं बोलते खाकर भी नही खाते, सोकर भी नही सोते, वे संसारी भी नहीं, संन्यासी भी नहीं क्योंकि उनका सब कुछ चला गया है। वे उस समय कुछ भी नहीं। इस प्रकार क्रिया की परावस्था में रहने को ही ज्ञान कहते हैं। वे तब समाधिस्थ होकर भी समाधिवान नहीं; क्योंकि इस अवस्था में रहकर भी वे जड़ की तरह सारे कर्म करते हैं किन्तु जड़वत होकर भी जड़ नहीं, क्योंकि वे शून्य ब्रह्म में स्थिर रहकर सभी कुछ देख-जान सकते हैं। इसलिए पंडित होकर भी पण्डित नहीं; कहाँ तक कहा जाय—यहाँ तक कि उनमें द्वैत भी नहीं अद्वैत भी नहीं। इस प्रकार जिन्होंने क्रिया की

परावस्था में स्थित रहकर समस्त तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया है, उसे ही महाशय कहते हैं। वे कहीं किसी कुछ में भी नहीं; किन्तु सब में सर्वत्र हैं।

● ● ●

योगिराज कहा करते थे कि "किसी दूरस्थ, दुर्गम तीर्थ-स्थान की यात्रा करने पर नाना प्रकार के सुन्दर दृश्य एवं और दूसरे तीर्थों का दर्शन होता है। यदि कोई वहाँ आकर्षण वश ठहर जाए तो फिर लक्ष्य का दर्शन एवं उसकी सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। इसीलिये वे कहते थे कि आत्म-साधना करते-करते स्वयं ही अनेक देव-देवियों का दर्शन होगा। यदि कोई यह सोचे कि उनके दर्शन से ही जीवन सफल हो गया तो यह उसकी भ्रान्त धारणा है। उसे और आगे जाना होगा; यहीं रुकने से काम नही चलेगा। यदि विना रुके चलता रहे तो वही सारे देव-देवियाँ उसकी सहायता करेंगी और वे ही उसका हाथ पकड़ कर गन्तव्य स्थल पर पहुँचा देंगी। इस प्रसंग में कबीर का कथन है—**"इस राते में बीच मुसाफिर अक्सर मारे जाते हैं।"** अर्थात् वे गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुंच पाते।

जब गन्तव्य-स्थल की प्राप्ति होगी तब दर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं; क्योंकि वहाँ मन एवं बुद्धि दोनों अनुपस्थित होंगे; इसलिये वहाँ देखने या दर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं। इसके अतिरिक्त जानने पहचानने का भी कोई उपाय नहीं। वहाँ तुम नहीं हो, न तो ईश्वर ही है; वहाँ न तो भक्त है, न भगवान, न आनन्द, और न निरानन्द, इष्ट नहीं, अनिष्ट नहीं, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मुक्ति एवं कोई देव-देवी कुछ भी नहीं है। वह एक अनिर्वचनीय चिन्मय अवस्था या एक चिन्मय-प्रत्यक्ष स्वानुभूति है। वही अद्वैत की स्थिति है। इसी की ओर संकेत करते हुए महात्मा रामप्रसाद ने कहा है—**"से बड़ो अद्भुत ठाँइ जे खाने गुरु शिष्य देखा नाइ।"** अर्थात् अद्भुत बड़ा एक वह ठाँव, गुरु-शिष्य का गाँव न नाँव।" इसी को योगिराज ने 'क्रिया की परावस्था' कहा है। इस स्थिति में जो होता है वही इसे जानता है। क्योंकि एक के रहने पर दूसरे के रहने की बाध्यता है; किन्तु वहाँ केवल 'नहीं-नहीं'। यहाँ तक कि नहीं कहने वाला भी कोई नहीं है। इस स्थिति के प्रसंग में वे कहा करते थे उस समय तुम-अ-वाक् शून्यवत हो जाओगे। मैं निश्चय पूर्वक कह रहा हूं कि एक दिन सब को वहीं जाना होगा।

तुम चेष्टा करो या न करो; किन्तु उसके लिए तुम्हें लाखों योनियों में भ्रमण करना पड़ेगा! किन्तु हे साधक ! ईश्वर ने जो तुम्हें मन और बुद्धि प्रदान किया है उसके द्वारा-विचार करके देखो कि क्या तुम उन लाख लाख योनियों में भ्रमण करना चाहते हो ? जो साधक बुद्धिमान हैं, वे नहीं चाहते। यदि तुम बुद्धिमान साधक हो तो फिर सोचकर देखो कि गन्तव्य-स्थल की ओर जब जाना ही होगा तो फिर देर क्यों ? इस जन्म में ही वहां पहुँचने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाओ। हे साधक। तुम्हारे भीतर एक सत्ता सुप्त है उसे चिकोटी काट कर जगाओ, चाबुक मारकर उठाओ। उस वीर सत्ता को अश्व के रूप में परिणत करके उसकी पीठ पर सवार होकर वीरों जैसे दर्प के साथ बढ़ो; किन्तु भूल से भी लगाम अपने हाथ में न लेकर मालिक के हाथ में दे दो जिस प्रकार अर्जुन ने किया था वही कार्य करो। संसार में ही रहो; किन्तु उसकी पंकिलता एवं मलिनता से बचकर रहो। काम, क्रोध. लोभ मोह, मद और मात्सर्य रूपी गड्ढे में देह रूपी रथ के छह चक्रों को गिरने मत दो। हर तरह से दुर्बलता का त्याग करो; क्योंकि दुर्बलता ही पाप है, दुर्बलता ही मृत्यु है। अपनी मृत्यु को स्वयं मत बुलाओ। हे वीर साधक तुम स्वयं को दुर्बल समझते हुए दुर्बल हो गये हो; किन्तु तुम 'अमृतस्य पुत्राः' तुम अमृत-पुत्र हो। तुम जन्म, मृत्यु जरा एवं व्याधि से परे हो। तुम अपने स्वरूप को भुला बैठे हो। लम्बे होकर या टाँगें फैलाकर सोते हुए तुमने अनेक रातें बिता दी हैं। एक बार सोचकर देखो कि उसी तरह लम्बे लेटे लेटे तुम्हें चला जाना होगा। इस बार मेरुदण्ड को सीधा करके बैठो। इस पगले-बावले की बात सुनो मैं निश्चित रूप से कह रहा हूं; क्रिया-योग की साधना करो। क्रियायोग करने पर ही मुक्ति है, न करने से ही बन्धन। क्रिया ही सत्य है। साधना के द्वारा जबतक स्वयं को उद्दीप्त न किया जाय तब तक देव-देवी भी सहायता नहीं करते।"

सत्व, रज और तम ये तीन गुण जीव के शरीर में सर्वदा क्रीड़ारत हैं। जीव इन तीन गुणों के अधीन है। यही तीन गुण ही तीन देवता हैं। रजगुण सृष्टिकर्त्ता है, ब्रह्मा है, तमगुण महेश है जो नाशकर्त्ता है और सत्वगुण विष्णु है वही स्थिति अर्थात् पालनकर्त्ता है—

रजोभावस्थितो ब्रह्मा
सत्वभाव स्थितो हरिः
क्रोधभावस्थितो रुद्र—
त्रयोदेवा त्रयोगुणा।

—ज्ञानसंकलिनी तत्र : ८०

Scanned by CamScanner

ये तीनों गुण जिस प्रकार जीव के शरीर में खेल रहे हैं उसी प्रकार वश्व प्रकृति में भी खेल रहे हैं। जीव के शरीर में नाभि के नीचे तमगुण; नाभि से कंठ तक रजगुण एवं कंठ से आज्ञाचक्र तक सत्व गुण है, एवं उसके ऊपर गुणातीत अर्थात निर्गुण की स्थिति है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ —गीता : १४।१८

जीव जिस समय जिस गुण के वश में रहता है उस समय उसका मन उस स्थान पर रहकर उसके प्रति ही मोहित रहता है। इसी प्रकार सत्त्व से तम की ओर एवं तम से सत्व की ओर एक ऊर्ध्व एव निम्नगति निरन्तर कार्य-रत है। गुणातीत स्थिति में मन कभी जाता नहीं। साधना के द्वारा उस गुणातीत स्थिति को प्राप्त कर लेने से ही त्रिगुणातीत अवस्था ही ब्रह्म है। वहाँ, ब्रह्मा, विष्णु, महेश दुर्गा, काली जगद्धात्री कोई नहीं है। हिन्दू-संस्कृति में इन तीनों गुणों को तीन देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। अन्य धर्मावलम्बी इन तीन देवों को नहीं मानते; किन्तु सभी तीन गुण को स्वीकार करते हैं; क्योंकि वे तीन गुण सर्वदा ही सभी के शरीर के भीतर कार्य-रत हैं।

इस क्रियायोग की साधना से योगी का मन स्थिर होकर उस निर्गुण अवस्था में एक ऐसी स्थिति से जुड़ जाता है जहाँ योगी हमेशा स्थित रहने में सक्षम होते हैं। इस सन्दर्भ में योगिराज ने अपनी डायरी में लिखा है—**"जित्ता पियोगे ओत्ता मजूरी मिलेगा। सबेरे चार घड़ी रात रहते प्राणायाम करना आच्छि है।'** अर्थात् जितना प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे। उतनी मजदूरी मिलेगी अर्थात् जितनी ही स्थिरता आएगी उतना ही आत्मदर्शन होगा। प्रातःकाल चार बजे उठकर प्राणायाम करना अच्छा है उस समय बाह्य प्रकृति शान्त रहती है—यही आत्मसाधना का उपयुक्त समय है।

योगिराज का कथन है कि अपने कारणस्वरूप समुद्र की ओर दौड़कर जाना नदी का धर्म है। वह इच्छा करे या न करे; किन्तु एक समय वह अपने कारण में लीन होगी ही। उसी प्रकार जीव का भी धर्म उसके उत्स या मूल स्वरूप ब्रह्म की ओर दौड़कर जाना है। इसी को लक्ष्य करते हुए अर्जुन कहते हैं—

'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति

तथा तवामी नरलोक वीरा

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

—गीता : ११।२८

जिस प्रकार नदियाँ सागराभिमुखी होकर सागर में ही प्रवेश करती हैं उसी प्रकार नरलोक के वीर हर ओर से प्रदीप्त, प्रज्वलित तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

जीव अनन्त काल से पता नहीं कब और किस अज्ञात कारणवश ब्रह्म से विच्युत होकर अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर लाखों-करोड़ों योनियों में भ्रमण करने लगा। कालक्रमानुसार विकास एवं विवर्तन की भूमिका में वह वनस्पति, पेड़-पौधे लता-गुल्म, कीट-पतंग से मानव में रूपान्तरित हुआ। इसी प्रकार उन्नत स्तरों को पार करता हुआ अपने मूल स्वरूप ब्रह्म की ओर गतिशील हुआ है। वह इच्छा करे या न करे काल के प्रभाव द्वारा विकास और विवर्त के माध्यम से एक समय उसे अपने उत्स या मूल स्थान तक की यात्रा करनी ही पड़ेगी। यही जीव का धर्म है। इसके लिये उसे चौरासी लाख योनियों का भ्रमण करना पड़ेगा। चौरासी अंगुल माप की अपनी मानव-देह की उन्नति के लिए उस चौरासी लाख योनि का भ्रमण करना होगा। केवल वही नहीं, मानव-रूप में जन्म लेकर भी उसे अपने मानव-मस्तिष्क को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उपयुक्त एवं उपयोगी बनाने के लिए और भी दस वर्षों के प्राकृतिक विवर्तन या विकास की आवश्यकता है।

इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि क्रियायोग इस प्राकृतिक विवर्तन या-परिवर्तन की समय-सीमा को अधिकांशतः कम करने की दिशा में सक्षम है। उन्होंने इसका सटीक लेखा-जोखा करते हुए कहा है कि मात्र आठ घन्टा क्रियायोग की साधना करने से योगी के मस्तिष्क एक हजार वर्ष के प्राकृतिक विकास के समान्तर विकसित होते हैं। जो किसी वस्तु को पाने की चेष्टा या साधना करते हैं, वही साधक कहलाते हैं। और जो उस वस्तु को पाकर उसके साथ एकाकार हो गए हैं, तादात्म्य स्थापित करते हुए लय हो गए हैं अर्थात् युक्ततम अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, वे ही योगी हैं। इस निमित्त-प्राप्ति के न रहने से साधक नहीं कहा सकता। अर्थात् साधक अवस्था में देखने-सुनने की वृत्ति है; क्योंकि तब भी उनके मन और इच्छा कार्य करते हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**"जिस प्रकार किसी घर के भीतर सूर्य का प्रकाश जाता है और दरवाजा बन्द रहने पर यदि कोई पक्षी उड़कर जाता है तो उसकी छाया दीवार पर दिखाई देती है उसी प्रकार मन में प्रकाश होने पर जो देवतादि हैं उनका दर्शन होता है।"** इस अवस्था में ब्रह्म और मैं यही दो सत्ता अन्ततः विद्यमान रहती है अर्थात् जो साधना कर रहा है और जिसकी साधना कर रहा है यही दो वर्तमान हैं। इसीलिए योगिराज ने लिखा है—**"काली सोच सोच काली हुआ अब काली का**

बाबा होना हय बाबा याने ब्रहम अर्थात् जो सून्य के भीतर सून्य हय— एइ सब सूयं को देखने में मिलता हय।" अर्थात् काली का चिन्तन करते-करते काली हो गया, अब काली का बाबा या पिता होना होगा यानी ब्रह्म जो वर्तमान शून्य के भीतर शून्य है अर्थात जिस महाशून्य से पंचभूतों के अन्तिम भूत वर्तमान शून्य की उत्पत्ति होती है। आत्म सूर्य को देखते-देखते उस महाशून्य की प्राप्ति होती है। किन्तु योगियों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि स्थिरत्व का नाम योग है एवं जो स्थिर हो गए हैं वही योगी हैं। योगी जब समाधिस्थ होते हैं अर्थात् क्रिया की परावस्था प्राप्त कर लेते हैं तब उनका देखना-सुनना प्राप्ति-अप्राप्ति कुछ भी नहीं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—**"उहते बेमन केमन केमन मन न पावे। मन छोड़ तो मन नहीं होये।"** अर्थात् बेमन यानी निवृत्ति की अवस्था कैसी होती है मन नहीं जानता; किन्तु जब जानने की चेष्टा करता है तब मन, मन नहीं रहता, स्वयं ही खो जाता है और फिर जानना बाकी ही रह गया। इस प्रकार जो क्रिया की परावस्था होती है उसमें स्वयं की स्थिति नहीं होने से कोई कर्म नहीं; क्योंकि जो कर्म करेगा जब वही नहीं तो कर्म करेगा कौन? किन्तु साधक के क्षेत्र में कर्त्ता (मैं) करण (क्रिया) एवं अधिकरण (शरीर) सभी कुछ है किन्तु जिसे प्राप्त करना होगा अर्थात् ब्रह्म वही नहीं है। किन्तु योगी की क्रिया की परावस्था में कर्म के अभाव में निष्क्रियता है; क्योंकि उस अवस्था में समस्त गुण आकाश में युक्त होने से निष्क्रिय होते हैं। क्रिया की परावस्था में स्वयं के न रहने की जो अवस्था है, वह क्या है यह जानना सम्भव नहीं; क्योंकि जानने वाला ही नहीं तो जानेगा कौन? तो फिर क्रिया क्यों कर रहा हूँ? गुरु ने कहा है, इसलिए कर रहा हूँ किन्तु इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा—यह अज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता।

इस पर एक भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—'सभी कुछ पाने की आशा में कर्म करते हैं। 'क्रिया' करने से जब कुछ भी प्राप्त नहीं होता फिर सभी 'क्रिया' क्यों करते हैं?"

योगिराज ने कहा—"मूख वही करते हैं।" अर्थात् इस अवस्था में प्राप्ति-अप्राप्ति नहीं, लाभ-हानि नहीं। उस समय तीनों गुणों के एक हो जाने से गुणातीत अवस्था होती है। उसके अव्यक्त होने के नाते ही धर्म का अभाव अर्थात् तब धर्म-अधर्म कुछ नहीं। धर्म एवं कर्म के न रहने से उनका कोई दृष्टान्त नहीं है। जिस प्रकार जल का गुण एवं धर्म जिसमें है वही जल है; किन्तु गुणातीत एवं धर्मातीत अवस्था में वह जल नहीं। उसी प्रकार क्रिया की परावस्था हैं। इस अवस्था

Scanned by CamScanner

में स्वयं के न रहने से अन्य दिशा की ओर मन के जाने जैसा अधर्म नहीं रहता एवं धर्म भी नहीं रहता। धर्म का अर्थ है. जो सर्वदा रहता है, जो शाश्वत है। जिस प्रकार प्राणीमात्र का श्वास ही धर्म है। इस धर्म के जाने से आत्मा में स्थिर रहता है। इसीलिए योगिराज ने लिखा है— **"मनको दुसरे तरफ नहि जाने देना चाहिए मन से मन को देखना चाहिए मन ओ चक्षु स्थिर होने से क्या होगा जब तक शरीर स्थिर न होय। आज श्वासा बिलकुल बाहर नहिं निकलता हय। अब बड़ा मजा मतवाल के माफिक।"** जो कोई कुछ ग्रहण करते हैं या देखते हैं उन्हें तत्व ज्ञान प्राप्त नहीं होता; क्योंकि दो के नहीं रहने से कुछ भी ग्रहण करना या देखना सम्भव नहीं। क्रिया की परावस्था में दो का अस्तित्व नहीं है, इसलिए वहाँ कोई बात नहीं। केवल मौन है। दूसरी ओर मन लगाने का नाम बन्धन हैं, इस बन्धन से सर्वदा क्रिया की परावस्था में रहने का नाम मुक्त है। इस मुक्तावस्था में सतत स्थित रहकर वे समस्त वस्तुओं के प्रति अनासक्ति की भावना के साथ सर्वत्र, सब में ब्रह्म का दर्शन करते हैं। इस अवस्था में धर्म-अधर्म, इन्द्रिय एवं शरीर सभी का अभाव है क्योंकि ऐसी स्थिति में मन इन्द्रियों के साथ आत्मा में और आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इस अवस्था में मेघ का गर्जन तक भी सुनने में नहीं आता। क्रिया की परावस्था में कुछ नहीं है और यह कुछ भी होने की अवस्था ही ब्रह्म है। अतएव क्रिया की परावस्था में न रहना ही मिथ्या है। इस अवस्था में पृथकता का अस्तित्व नहीं-पृथकता के कारण ही देखने-सुनने का कार्य सम्पन्न होता है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है उसके विपरीत क्रिया की परावस्था किसी के आश्रय एवं आश्रित का भाव नहीं है क्योंकि यह अवस्था किसी के आश्रय में नहीं है। एक लाख ब्रह्माणुओं के संगठित या स्थूल होने पर मिट्टी का अणु अस्तित्व में आता है। और इसी स्थूल अणु के संयोग से सभी द्रव्यों की सृष्टि होती है। और इसी प्रकार संयोग से अवयव के समस्त अंशों का निर्माण होता रहता है जैसे मिट्टी के अणु से कंकड़ आदि की रचना होती रहती है। अणुओं के पारस्परिक सहयोग एवं संयोग से तमाम स्थूल मूर्तियों या पिण्डों तथा अवयवों की सत्तात्मक स्थिति है। संयोग से ही मूर्ति या पिण्ड की रचना होती है। किन्तु अस्थिरता या अव्यवस्था के कारण टिके रहना सम्भव नहीं, यह निमित्त अनित्य है; किन्तु क्रिया की परावस्था में ब्रह्म में स्थित रहने से कोई बाधा नहीं और एक होकर रहने की स्थिति में किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए ब्रह्म से अलग अन्य वस्तु में भलीभाँति मन का अनन्त लय नहीं होता। किन्तु सविकल्प समाधि अथवा क्रिया की परावस्था की पूर्वावस्था में अनन्त

द्रव्य एवं परिमाण-मात्रा के भेद की प्रतीति होने तक वह क्रिया की परावस्था नहीं है। शरीर, आत्मा मन एवं विभु मिलकर ही यह जीवन है। इस जीवन के कर्माधीन अथवा कर्म के आश्रय में रहने से सब कुछ हो रहा है। आत्मा का गुण मन और इस शरीर के भोगायतन होने से सुख-दुख सभी शरीर और मन के द्वारा हो रहा है। इसीलिए योगिराज ने कहा है—**'जल जब तक घट में तो उसका कुछ ताकत नहि, जब गंगा में मिला तो सब करे।''** श्वास की गति जब तक बहिर्मुखी है तब तक उसमें कोई शक्ति नहीं; क्योंकि बहिर्मुखी श्वास देहरूपी घट के भीतर सीमाबद्ध हैं। किन्तु जब अन्तर्मुखी होकर स्थिर होता है तब अनन्त महाशून्य के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है। इस अवस्था में पहुँचकर उन्होंने बार-बार लिखा है—**"बड़ा मजा सब अंग टूटने लगा।"** किन्तु आत्मा में पहले मन का संयोग फिर लय होने पर देखने-सुनने, प्राप्त-अप्राप्त का प्रश्न ही नहीं। इसलिए उन्होंने १८७१ ई०, २८ जुलाई को लिखा है—**'एक निर्मल सून्य देखा ओहि ब्रह्म हय उसिमें मनको लय करना चाहिए। जब दो एक हो जाय तो एक हय एहि हमजाद हय।''** अर्थात् एक निर्मल शून्य देखा, वही ब्रह्म है उसी में मन का लय करना होगा। जब दोनों मिल जाते हैं तब एक होता है, फिर दो नहीं रहता; वह एक अवस्था ही हमजाद अर्थात् पुरुषोत्तम है। ३० जुलाई को लिखा है—**"निर्मल रूप में मन को लय करना चाहिए।"** उसके बाद २६ अगस्त को लिखा है—**"सून्य निर्मल देखा उसिमें मिल जाना समाधि कहलावे—वोहि बाकि हय—पुरुषोत्तम के आगे ब्रह्म है—उसिमें लय होना बाकि हय। लय बिलकुल निष्काम न होने से नहिं होगा।"** अर्थात् जो निर्मल शून्य देख रहा हूँ उसमें मिल जाने को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं वह अभी बाक़ी है पुरुषोत्तम के बाद ब्रह्म है—उसमें लय होना बाकी है। सम्पूण रूप से निष्काम नहीं होने से लय नहीं होगा। उन्होंने फिर लिखा है—**"सून्य भवन में लय हो जाना।** वह शून्य भवन ही सही या अस्ल है उसमें मिलकर टिकु-अटके रहना होगा उसी में ही लय होना होगा अर्थात् एकाकार होना होगा। दो सितम्बर को लिखा है—**'निर्मल ज्योत मन देखता हय लेकन उह न लय हुआ—ओहा जाके अभि निर्वाण नहिं हुआ।"** अर्थात् मन अभी भी वह निर्मल ज्योति देख रहा है किन्तु अब भी उसका लय नहीं हुआ, वहाँ लय-प्राप्ति से जो निर्वाण होता है वह अब भी हुआ नहीं। इसीलिए वे और भी आगे जाकर क्रमोन्नति अथवा सिलसिलेवार ब्योरे का संकेत देते हुए लिखते हैं—**"अब हम निर्मल ज्योत में समाय गए।"** अर्थात् अब मैं निर्मल ज्योति में मिल गया।

"**बहुत तरहका घर दरवाजा देखने में आया—ॐ ध्वनि में लय होना चाहिए।** अर्थात् कूटस्थ में अनेक प्रकार के घर-दरवाजे देखने को मिले अर्थात् षटचक्र की अभिव्यक्ति हुई। इस अवस्था में जो ओंकार ध्वनि होती है उसी में लय होना होगा। उन्होंने और भी लिखा है—"**बड़ा दरवाजा खुला—जयसा नल का जल गंगा में मिलने से गंगा हो जाता हय वंसा स्वासा जाय के सून्य मकामे मिलने से एकाकार हो जाता है—एहि ब्रह्म है—आदि ब्रह्म सच्चा—आपहि आप भगवान रूप हय—अब बड़ा मजा हय।** अर्थात् प्रधान या मुख्य दरवाजा खुल गया, जिस प्रकार नल का जल गंगा में पड़ने से गंगा हो जाता है उसी प्रकार श्वास निर्मल शून्य में मिलकर एकाकार हो जाता है अर्थात् उसका लय हो जाता है। वह अवस्था ही ब्रह्म है और वह आदि ब्रह्म ही 'सत्' है और तब वह स्वयं भगवान का रूप धारण करता है—अब बड़ा मजा है वह श्वास आता है कहाँ से है? "सून्य के भीतर से हवा आता हय इह मालूम होने लगा।" अर्थात् उस महाशून्य के भीतर से से ही श्वास आ रहा है यह समझ में आया। कई दिन बाद फिर लिखा है—"**आज अभयपद दर्शन हुआ—याने महास्थिर हुआ, मोक्ष हुआ—फिर उह सून्य घर में रह करके सब कुछ देखे सब कुछ करे। जेतना इन्द्रियलय होता हय। ओहि स्वासा में।**" अर्थात् आज अभय-पद का दर्शन प्राप्त हुआ यानी महास्थिर हुआ, मोक्ष हुआ। उस शून्य घर में रहकर सब कुछ देखता हूं, सब कुछ करता हूं। सारी इन्द्रियाँ उस महाशून्य रूपी श्वास में मिल जाती हैं। अभय पद अर्थात् जहाँ कोई भय नहीं। उस महा-शून्य में बिना किसी अवलम्बन के रहना अभयपद है। फिर उन्होंने लिखा है—'**अब मय आनन्द का घर पाया याने श्वासा न आवे, न जाए।**" अर्थात् जहाँ स्थित होने पर श्वास-प्रश्वास का आना-जाना या कोई गति नहीं उस आनन्दरूपी घर को प्राप्त किया। इसके पश्चात अन्तिम या चरमतत्त्व के बारे में लिखा है—"**अब न आना न जाना।**" अर्थात् इस भव-संसार में पुनः आवागमन भी नहीं होगा उस स्थिर घर में पहुँच कर फिर क्या हुआ इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**स्थिर घर में ठहरे—अब अटकने का जगहि मिला।**" अर्थात् उस स्थिर घर में ठहरे—अब सर्वदा के लिए टिकने या अटकने की जगह मिल गई। इसके पश्चात वे वहाँ स्थित रह कर इस संसार को किस तरह देखते हैं; इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"**इह जीवन हय सब झूठ देखलाई देता हय वास्तविक कुछ नहि—जयसा मुदरा चमड़ा लगा रहा धोके से मालुम होता हय कि मेरा शरीर में लगा हय आउर मेरा हय—वैसेहि जागत संसार को मालुम होता हय। इह मालुम हुआ कि इह संसार स्वप्नवत**

हय सब कुछ मालुम हुआ। अब दुसरे पदार्थ पर ताकने को एरादा न करे। अर्थात् यह जीवन सभी मिथ्या है वास्तविक कुछ भी नहीं—यह देखा। जैसे मृत शरीर में चमड़ा लगा रहता है और धोखे या भ्रम से मेरे शरीर में लगा है और मेरा है। वैसे ही यह जगत या संसार भी मालूम पड़ता है। और यह भी मालूम हुआ कि यह जगत स्वप्नवत है। सब तुच्छ मालूम पड़ता है। अब और किसी वस्तु की ओर ताकने की इच्छा नहीं उभर रही है—"अब इह एरादा करता हय चुपचाप पड़ा रहे।" और वे गा उठे—

रगड़ में कभि कसर मत करो
रगड़ में मनोकामना पूर्ण करो।
मन दूसरे तरफ कठिन धरो
सून्य के ध्यान से सब काज निकारो,
देखोगे आश्चर्य सामर्थ तेरो
पिछेमे सब कुछ बनेगा तिहारो।
उदास मन तुम कठिन फिरो
आगर तुम जानो हो हुसियारो
लगे रहो साइया से भलितरो
तुझे साँइ पेयार जरूर करो
निरन्तर साँइजी का ध्यान धरो
होयगा जरुर काम तेरो पुरो॥

वे केवल योगी ही थे, ऐसी बात नहीं; किन्तु अपना परिचय स्वयं ही एकांत में लोगों की दृष्टि से परे अत्यन्त गोपनीय अपनी दिनलिपि या डायरी में छोड़ गए हैं। उनके जीवनकाल में उनका यह परिचय संभवत: कोई नहीं जानता था; क्योंकि प्रचार के प्रति उनकी तनिक भी रुचि न थी। प्रत्येक दिन की तरह साधना की उपलब्धि के बारे में लिखते हुए १३ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"आज हम महापुरुष हुए।" इसके बाद १७ अगस्त को एक मनुष्य की मुखाकृति आँक कर उसके बग़ल में लिखा है—"महापुरुष हम हय—सूर्य मे एयसा देखा हमहि ब्रह्म हय।" १८ अगस्त को लिखा है—"हमाराइ रूप से जगत प्रकाशित—अब बहु गाढ़ा प्राणायाम हुआ। हमहि एक पुरुष हय आउर कोइ नहि।" अर्थात् हमारे ही रूप से जगत की अभिव्यक्ति हुई है। अब बहुत गहरा प्राणायाम हुआ—मैं ही एकमात्र पुरुष हूँ और कोई नहीं। २२ अगस्त को लिखा है—"हमहि आदि पुरुष भागवान—कुछ पेट में ना ताकत से दरद हय—अब श्वास आउर भितर गया—अब चतुर्भुज होने का लक्षण हुआ—इह मालुम होता हय कि इह दोनो हात छोड़ाय आउरभि

शक्तिमय निराकार वुइ हात भितर से निकला।" अर्थात् मैं ही आदि पुरुष हूँ, पेट में कुछ कम ताकत होने से दर्द हो रहा है। अब श्वास और भी भीतर की ओर प्रवेश कर गया? अब मुझ में चतुर्भुज नारायण होने के लक्षण दिखे। यह समझ में आया कि मेरे उपस्थित दोनों हाथों के अतिरिक्त और भी अनन्त शक्तिशाली निराकार दो हाथ निकल आए। २५ अगस्त को उन्होंने एक सूर्य का अंकन करके उसके बग़ल में लिखा है। **"सूर्यनारायण भगवान जगदीश्वर सर्व्वव्यापी हम हय। एक ज्योत भितर मालुम होता हय। जो सूर्य से आता हय सूर्यहि हम हय। जो हम सोइ उह रूप निराकार का। जो बुद्धि के परे अनन्त रूप ओहि भगवान—आउर निर्मल। हमहिं अक्षर पुरुष।"** अर्थात् आत्म-सूर्य रूपी नारायण भगवान जगदीश्वर जो सर्वव्यापी है वह मैं ही हूं। भीतर एक ज्योति देखा जो आत्म सूर्य से आ रही है वह भी मैं ही हूं। जो मैं हूं वही वह निराकार रूप है। बुद्धि से परे जो वृहत कूटस्थ अनन्त रूप है वही भगवान है वह अत्यन्त निमल है। मैं ही वह अक्षर पुरुष हूं। अक्षर अर्थात् जीवात्मा जब स्वयं को निर्गुण या गुणातीत एवं परमात्मा से अभिन्न जान-मान कर उसमें विलीन हो जाता है तभी वह अक्षर की संज्ञा प्राप्त करता है। और भी लिखा है—**कटस्थ अक्षर अमर, ओहि सूर्यनारायण हय—एहि हम हय आउर एहि सूय है। कूटस्थ अक्षर आदि आउर हम हय। सूर्यहि मालिक और मजा आउर साफ। अक्षर सूर्य हय ओहि हम हय।"** अर्थात् वेह कूटस्थ अक्षर अविनाशी वही आत्मसूर्य रूपी नारायण है वहीं मैं हूँ। सनातन कूटस्थ अक्षर वह मैं हूं। वह आत्मसूर्य मालिक है वह और भी परिष्कार, और भी मजा। वह वृहत कूटस्थ अक्षर ही आत्म सूर्य है, वही मैं हूं। २३ अगस्त को लिखा है—**"हम जब सुर्य हय तब जो हम कहे सो वेद हय—याने निश्चय जाने।"** अर्थात् जब वह कूटस्थ स्वरूप आत्मसूर्य मैं ही हूं तब मैं जो बोल रहा हूँ वही वेद है अर्थात् इसे निश्चित रूप से अपौरुषेय समझोगे। २४ अगस्त को लिखा है—**"हमहि कृष्ण"। अर्थात् मैं ही कृष्ण हूं।** २७ अगस्त को लिखा है—**"जो पुरुष आदित्य में सो मय हूं। ब्रह्मरूप सूर्य का हमारा हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य में जो आदिपुरुष है, वह मैं हूं। उस सूर्य के भीतर जो ब्रह्मरूप है वह मुझसे ही आ रहा है। ३ अक्टूबर को लिखा है—**"हम सूर्य हय—महादेव।" मैं आत्म सूर्यस्वरूप महादेव हूं।** १२ नवम्बर को लिखा है—**हमहि महापुरुष पुरुषोत्तम"**—मैं ही महापुरुष हूं। ८ जनवरी १८७४ ई० को लिखा है-**सूर्यहि ब्रह्म एहि स्थिर घर पहुचाता है—अब स्थिर घर में गये, उसिका नाम अमर घर हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य ही ब्रह्म है यही स्थिर घर में पहुँचा देता है। अब

स्थिर घर में पहुँचा उसी का नाम अमर घर है। २९ जनवरी को लिखा है—**अब सुतोका दिल चाहता हय—आउर खालि ब्रह्मको देखे याने सून्य के भितर सून्य—अब स्थिर घर में मय गया अब मालुम होता हय जयसा शरीर उपके हवा से निचे से उठता हय जयसा हुक्का पिके पानि फेंक देने से निचे के छेद जहाँ से पिया जाता हय ओहाँ से धुआ निकस जाता हय वैसाहि होयगा। अब अगमघर गए—अब अजर घर से अमर घर गए अब कुछ नहि खालि मालिक।"** अर्थात् अब सोये रहने की इच्छा करती है, शून्य के भीतर जो शून्य है उस महाशून्य रूपी ब्रह्म को केवल देखता हूं। अब मैं स्थिर घर में पहुँच गया। अब ऐसा मालूम पड़ता है कि शरीर का उपचय हो रहा है और वायु द्वारा नीचे से ऊपर उठ रहा है ठीक जैसे हुक्के से धूम्रपान करने के बाद हुक्के का पानी फेंक देने के समय जिस छेद से धूम्रपान किया जाता है—धुआँ बाहर निकलता है, वैसा ही हो रहा है। अब अगम्य घर में पहुँचा, वहाँ से अजर घर में और उसके बाद अमर घर में पहुँचा, अब और कुछ भी नहीं, केवल महाशून्य रूपी मालिक ब्रह्म ही है। २ मई को और भी लिखा है—**"ब्रह्म रूप हमारा याने जो सून्य भितर, मन, सोइ सून्य बाहर, फिर मन देखने लगा बाहर का कूटस्थ अक्षर फिर उहभि गया—अब रह गया खालि शांतिपद इह सून्य जब ब्रह्म हुआ याने इह मन आउर कूटस्थ अक्षर ब्रह्म हय तब सून्य मन ब्रह्म हुआ।"** अर्थात् मेरा ही ब्रह्मरूप अर्थात् मनरूपी शून्य जो भीतर है, वही शून्य ही बाहर है, फिर मन बाहर के कूटस्थ अक्षर को देख रहा है; फिर वह भी लुप्त हो गया और कुछ भी नहीं देखता हूँ अब केवल महाशून्य रूपी ब्रह्म अर्थात् शान्ति-पद ही वर्तमान रहा, इस स्थिति में मेरे 'मेरेपन' के साथ कूटस्थ अक्षर सभी ब्रह्म हो गया। तब मन का भी महाशून्य रूपी ब्रह्म में विलय हो गया। इस विषय में अब उनके कंठ से आनन्द-पूर्वक एक गीत फूट पड़ा।

अब चलो पेयरे अमर पुर चलो
छोड़ जगजंजाल विषयरस त्यागो
आउर भटकत फिरो केंओ तुम भूलो
विषय रस से कुछ मजा नहि हय
आपहि आप तुम समाय लो
फिरते डोलते रहे एकेला
हरदम साँइ पास हाजिरी दे लो।

उस अभय पद को किस प्रकार प्राप्त किया जाय? योगिराज ने १५ अगस्त १८७४ ई० को लिखा—**"अभयपद गुरु विना मिलता नहि—सून्य**

भवन में स्थिर रहना, विना स्थिर में घुसनेसे नहि होगा।" गुरु के बिना वह अभयपद नहीं प्राप्त किया जा सकता। शून्य भवन में स्थिर होकर रहना होगा, बिना स्थिरत्व के वहाँ प्रवेश नहीं किया जा सकता। महायोगी ने और भी लिखा—

नाम सुमिर लेओ अमृत बानि
तुम भुलेहो आप ब्रह्म न जानि
कहोतो हाथ क्यौंकर हि हिलानि
मनहि मम तुमाहिइ हिलानि
हिलो किसमें ओके करो बखानि
सून्य में विचार देखेहु हिलानि
को हिलावे उह तो कहो सुनि
श्वास हिलावे एहि सत बानि।
केंओ हिले इहते कहो हम शुनि
इच्छा हेतु हिले इह ज्ञानि कि बानि
श्वास केंओ हिले से वर्णो हम शुनि
हवा स्वभावतः स्थिर नहि जानि
इह श्वास निकला कहुँ से भलानि
सून्य से निकला माया आय मिलानि
निकलेका क्या कारण कहहु ज्ञानि
कर्म फल भोग जन्य भुले फिरानि
इसलिए कर्म फलाफल छोड़ानि
ध्यान करो सदा ब्रह्म मन मिलानि
तब तद्रूप होगे सत्‌ने बखानि
हरदम देखे स्वरूप के निसानि
इह आनन्द मूल जाने ब्रह्मज्ञानि ॥

● ● ●

योगिराज स्वयं कभी भी नाम-जप या कोई मंत्र-जप न तो करते थे और न भक्तों को ही वह देते थे। उन्होंने कभी कोई तिलक-टीका, रोली-चन्दन नहीं लगाया। सामान्य पोशाक में रहते थे: वे इन सब स्थूल कर्म अथवा किसी प्रकार के बाह्य आडम्बर के पक्ष में नहीं थे। वे स्वयं आत्मसाधना करते और शिष्यों को भी वही प्रदान करते थे।

उनका कहना था वह सब कुछ करने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि उनके द्वारा आत्म-दर्शन नहीं होता। फिर जो आत्मदर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार कराने में सक्षम नहीं उसे करके व्यर्थ समय गँवाने का क्या प्रयोजन है ? श्री मद्भागवत में भी इसी प्रकार की चर्चा है—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढयाद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रियायोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्च्चितोऽर्च्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

—श्रीमद्भागवत् : ३।२९।२१-२२-२३

अर्थात् अज्ञानी लोग उस आत्मा की उपेक्षा या अवज्ञा करके प्रतिमा-पूजन आदि का आडम्बर रचते हैं। वह पूजा स्वांग मात्र है। जो मूढ़ता वश मेरी (आत्मा की) उपेक्षा करके केवल प्रतिमा पूजन में ही लगे रहते हैं वे तो जैसे भस्म में हवन कर रहे हैं या भस्म में आहुति देने जैसा व्यर्थ का कार्य कर रहे हैं। मैं सभी भूतों या पदार्थों में स्थित हूँ, विद्यमान हूँ इसे न देख कर बिना समझे-बूझे जो लोग नाना प्रकार के द्रव्यों अथवा सामग्रियों से दूसरे जीवों का अपमान करते हुए मेरी मूर्त्ति की अर्चना करते हैं उनकी इस अर्चना से मुझे प्रसन्नता नहीं होती।'

योगिराज का कहना था कि मानव-जन्म दुर्लभ और क्षण-स्थायी है। इसलिए ऐसी साधना करनी चाहिए जिसके द्वारा इस जन्म में ही जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति मिल जाए। उसके लिए उन्हें कभी भी उपवास या स्थूल पूजा करते नहीं देखा गया। वे केवल लोक-शिक्षा के लिए वर्ष में एक दिन शिवरात्रि के दिन उपवास करते थे। उन्होंने कहा था कि यदि मैं न करूँ तो फिर लोग नहीं करेंगे। इस दृष्टि से वे ठूँठ जैसे नीरस योगी भी नहीं थे। वे तो प्रेम-दया एवं करुणा के मूर्त्त प्रतीक एक उच्च कोटि के राजयोगी थे।

उनका कथन है कि किसी दूर देश की दो-चार-दस दिन की यात्रा पर जाने के लिए कुछ पाथेय अवश्य प्रयोजनीय है। उसके सम्बन्ध में कहाँ जाना है, किस जगह, कितने दिन तक रहना है इन सब की जानकारी के वावजूद एक निर्दिष्ट, निर्धारित पाथेय, मार्ग-व्यय खाद्यान्न आदि के प्रबन्ध बिना नहीं जाया जाता। किन्तु जब इस देह को त्याग कर अनिर्दिष्ट काल के लिए अनजाने देश की यात्रा पर रवाना होंगे तब कितना पाथेय आवश्यक है ? उस समय पार्थिव जगत की कोई भी वस्तु पथ-संबल या पाथेय नहीं होगी। कहाँ जाना होगा और कितने

दिनों तक उस अजनबी प्रदेश में रहना होगा; कुछ भी पता नहीं। किन्तु उस यात्रा पर जाने के लिए इस जीवन में ही योग-साधना द्वारा वह पाथेय प्राप्त करके ले जाना होगा। और वह साधना से उपलब्ध विषय या वृत्ति ही संस्कार के रूप में एक मात्र पथ का सम्बल या पाथेय होगा। वह पाथेय एक अमर पाथेय है। वही जीव के साथ गमन एवं पुनरागमन में पुनः प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में भगवान श्री कृष्ण की अभयवाणी गीता में गूँजती है कि योगभ्रष्ट व्यक्ति श्रीमानों एव श्री-सम्पनों के घर अथवा योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। जो श्रद्धा पूर्वक योग की ओर प्रवृत्त हुए हैं वे कभी भी दुर्गति-ग्रस्त नहीं होते अर्थात् कल्याणकामी व्यक्ति सर्वदा ब्रह्म-चिन्तन के साथ सुखी रहते हैं। इस आत्मकर्म रूपी शुभ कर्म का जो सम्पादन करते हैं उनके प्रति ही भगवान श्री कृष्ण की अभय वाणी है—

"नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।"

—गीता : ६/४०

इस आत्मसाधना के द्वारा जो अपना कल्याण करते हैं वही यथार्थतः कल्याणकृत हैं। पंचदशीकार ने भी ऐसा ही कहा है—

इह वा मरणे वास्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत।
ब्रह्म साक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम॥

—पंचदशी : ९।१५०

अर्थात् निर्गुण उपासक, इस लोक में हो, परलोक में अथवा ब्रह्मलोक में हो। निश्चित् रूप से परब्रह्म का दर्शन प्राप्त करता है, उसकी उपासना का फल कभी व्यर्थ या विफल नहीं होगा।

योगिराज एक महान वीर साधक थे। आलस्य अथवा आज नहीं कल करने के मनोभाव को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। वे समस्त दिन नौकरी करने के बाद शाम को छात्रों को पढ़ाते थे और साथ ही गृहस्थी को भी हर ओर से सँभालते थे इसके अतिरिक्त जन कल्याण के कार्यों में भी लिप्त रहते थे। फिर रात नौ बजे तक भक्तों के साथ तत्त्व-चिन्तन एवं भगवत् चर्चा करते। इन सबके बीच वे प्रतिदिन की घटनाओं को भी डायरी में लिख लिया करते थे। प्रतिदिन अनेक भक्तों के पत्रों का उत्तर स्वयं अपने हाथ से लिखकर देते। इसके अलावा कितने लोगों की कितनी समस्याओं का समाधान करना पड़ता। इतना कुछ करने के वावजूद उन्होंने लोगों की दृष्टि से परे ऐसी साधना की जिसने उन्हें साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया। इससे स्पष्ट है कि उनका मनोवल कितना ऊँचा एवं शक्ति-सम्पन्न था। उन्होंने एक जगह अपनी डायरी में लिखा है—**"अब रात भर जागने को एरादा होता**

हय ।" फिर लिखा है—**रात में नींद कम आता हय—बड़ा स्थिर बड़ा नेसा ।"** इन सब बातों से लगता है कि उसी समय से वे रात भर योग की साधना करते थे और क्रिया के नशे में चूर होकर सभी प्रकार के गुण-संग से रहित अवस्था में रहते थे । उस समय से केवल कुछ महीने बाद की अपनी साधना का वर्णन करते हुए जो लिखा है, उस पर ध्यान देने से आश्चर्य-चकित होना पड़ता है । उन्होंने लिखा है—**"अगम पंथ में पग धरा । ओहा न मालुम श्वासा आता है न मालुम जाता हय संग सबका छोड़े । आउर ध्वनि सुने, राधिका जी का दर्शन भया । अब अनमोल धन मिला ।"** अर्थात् जहाँ जाना कठिन है उस अगम्य स्थान अर्थात् स्थिर घर में पूर्णरूप से स्थिति हुई । उस अवस्था में साँस आ रही है कि जा रही है कुछ भी स्पष्ट नहीं । अर्थात् 'केवल कुम्भक' प्राप्त होने पर इन्दियों से जुड़े तमाम गुण एवं आसक्ति से परे हो गया हूँ । ऊपर अथवा सहस्रार से उतरती हुई ध्वनि-तरंगों (Sound Current) या नाम ध्वनि में राधाजी का दर्शन हुआ । इस बार अनमोल धन या सम्पदा प्राप्त हुई ।'

इस प्रकार वे अनेक देव-देवियों की छवि का अंकन करते एवं उनका वर्णन करते हुए जिस-जिसका दर्शन होता उसे लिख लिया करते थे ।

कुछ दिन बाद अन्य एक स्थान पर एक दूसरी अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—**' बिलकुल बाहर का श्वासा बन्द होता हय । धन्य भाग उस्को जिसके इह होंय ।"** अर्थात् बाहर का आगम-निगम रूप श्वास-प्रवास जो नासिका मार्ग में निरन्तर चल रहा है, वह सम्पूर्ण रूप से बन्द हो गया । जिसकी ऐसी अवस्था हो उसका भाग्य धन्य है अर्थात् इस प्रकार स्थायी 'केवल कुम्भक' जिसे प्राप्त हो जाए वह धन्य है । इससे स्पष्ट है कि साधना का जीवन प्रारम्भ करने के पश्चात् निरन्तर कठोर साधना करते हुए वे कितनी शीघ्रता से साधना के उच्च शिखर की ओर अग्रसर होने लगे । उसके ठीक कई दिन पश्चात् ही उन्होंने लिखा है—**"स शरीर में सोधे जल के उपर जाना कुछ कठिन काम नहि हय, जब प्राणायाम करते करते प्राणवायु रुक गया दो घड़ि से उपर तब जेत्ते जल पर चाहे ओत्ते जल पर चले जाय आउर जेत्ते दूर तक चाहे ओत्ते दूर तक—कंओकि जब जल सून्य ओ सूर्य सब एक रूप आउर हम भी ओहि रूप तब वायु के रोकने के घोर सहजे में इह शरीर हलका करके उजय ले जाय—इह बात तब होता जब केवल कुम्भक होय ।"** अर्थात् सदेह सीधे पानी के ऊपर-ऊपर पैदल चला जाना कोई कठिन कार्य नहीं है । जब प्राणकर्म या प्राणायाम करते-करते प्राणवायु थम जाए अर्थात्

श्वास-प्रश्वास की गति कम से कम दो घड़ी के ऊपर तक थम जाए तब गहरे जल के ऊपर से होकर या फिर चाहे जितनी दूर तक जाना चाहे पैदल जाया जा सकता है; क्योंकि उस समय जलतत्त्व, शून्य तत्त्व एवं आत्मसूर्य तत्त्व सब एकरूप हो जाते हैं और जब कि मैं स्वयं भी वही एक ही रूप हूँ। अत्यन्त सहजता के साथ जब प्राणवायु बाहर जाने से रोक लिया जाए तो उस समय शरीर को हलका करके जल-प्रवाह या उसकी धारा की गति के विपरीत भी जाया जाता है। यह अवस्था तभी होती है जब 'केवल कुम्भक' प्राप्त होता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कई विश्व वरेण्य महायोगियों ने अपनी योग-साधना की सिद्धि के बल पर समुद्र अथवा नदी के जल पर पैदल यात्रा करने की क्षमता प्राप्त की थी। जिनमें मुख्यरूप से यीशुख्रिस्त और तैलंग स्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु एक गृहस्थ योगी की हैसियत से योगिराज ने इस प्रकार की अपनी सिद्धि-प्राप्ति को कभी प्रदर्शन का विषय नहीं बनाया। इस सम्बन्ध में वे स्वयं को इतना गोपन एवं संयत रखते थे कि योग मार्ग की इस उच्च अवस्था की प्राप्ति के वावजूद उन्होंने कभी किसी के सम्मुख उसे प्रकट नहीं किया। योगमार्ग की इस अवस्था की चर्चा करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं—

"उदान जयाज्जल पंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।"

—पातंजल योग सूत्र : विभूति पाद : ३९

अर्थात् कंठस्थ या कंठ में स्थित उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने या उसे नियंत्रित कर लेने पर ऊर्ध्व-स्थित वायु का रोध होने से निम्नस्थ सभी वायुओं का रोध होता है और शरीर के हल्का हो जाने पर जल, पंक (कीचड़) काँटे आदि किसी का स्पर्श या बोध नहीं होता है; उस समय इन सब के ऊपर से भी अनायास ही यात्रा की जा सकती है।

"कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।"

—पातंजल योग सूत्र : विभूति पाद : ४२

अर्थात् शरीर और आकाश का जो सम्बन्ध है अर्थात् जो तत्व-गुण उनमें है उस पर संयम करने से अर्थात् मूलाधार से कंठ तक वायु रोध होने से शरीर रूई की तरह हल्का हो जाता है और आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही लोगों को तत्वज्ञ या तत्त्ववेत्ता कहा गया है।

योगिराज केवल साधना द्वारा उपलब्ध विषयों को ही नहीं बल्कि दैनिक जीवन की प्रायः सभी घटनाओं को निष्कपट भाव से अपनी डायरी में लिपिवद्ध कर लेते थे। वे डायरियाँ अन्त्यन्त गोपनीय थीं। उनके जीवन-काल तक उन्हें देखने का किसी को भी अधिकार

नहीं था। किन्तु योगिराज ने अपनी कृपादृष्टि का-परिचय देते हुए अपने प्रतिदिन के साधनाजन्य अथवा साधनालब्ध अनुभवों को डायरी में लिपिवद्ध कर रक्खा है; ऐसा सद्प्रयास और किसी उस कोटि के महापुरुष ने किया हैं या नहीं; इसकी विशेष जानकारी नहीं है। किन्तु योगिराज की ये डायरियाँ विश्व वाङ्गमय की अमूल्य सम्पदा हैं।

वे कितने सहज और सरल तथा निष्कपट थे। यह उनके इस एक वाक्य से स्पष्ट है। साधना के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने एक जगह लिखा है—**आज काम मुझे आक्रमण किया।**" कभी लिखा है—**काम प्रवल हुआ अब सामालना चाहिए।**" फिर लिखा हैं—"**आज काम से चित्त चंचल हुआ—काम बड़ा जोर किया।**" फिर लिखा है-**कामदेव फिर जगा—आउर निद बहुत घेरा। आउर भुक बड़ा लगा।**" निष्कपट एवं निश्छल व्यक्ति ही इस बात को डायरी में लिख सकते हैं। क्योंकि ऐसा लिखते वक्त सोचना होगा कि यह डायरी भविष्य में उनके वंशधरों के हाथ लग सकती है, इसलिए सभी इस प्रकार की बातें गोपन रखते हैं; किन्तु योगिराज की डायरियाँ देखने से स्पष्ट है कि जीवन की किसी बात को बिना छिपाये उसे उन्होंने लिपिवद्ध करने की जरूरत महसूस की और जो भी साधना द्वारा प्राप्त हुआ है वह सब कुछ निष्कपटता पूर्वक निःसंकोच, निःशंक चित्त से डायरी में लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वे कितनी कठोर साधना के पश्चात् एक अनासक्त, कामजयी महायोगी के रूप में परिणत हुए थे।

काम एक देह-धर्म है। शरीर में ज़ब तक प्राण की चंचलता उपस्थित रहेगी तब तक वह देह-धर्म भी रहेगा। चाहे वह कोई महामानव ही क्यों न हो, वह भी उससे मुक्त नहीं है। प्राण के स्थिर होने पर अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति स्थिर होने से ही काम-सहित किसी प्रकार का देह-धर्म उपस्थित नहीं रहता। ऐसी स्थिति में देह के अस्तित्व के वावजूद कामजयी होकर सभी प्रकार के देह-धर्म, मनोधर्म अथवा तीनों गुणों से परे की स्थिति में प्रतिष्ठित होने की क्षमता प्राप्त होती है। योगिराज ने भी इसी क्षमता एवं अवस्था को प्राप्त किया था।

योगिराज अपने २७ वर्षों के साधनामय जीवन में साधना के उच्च शिखर पर पहुंच गए थे। उन्होंने किसी समय डायरी में लिखा है—"**आज सोने का काली से भेट हुआ।**" अर्थात आज सोने की काली को देखा और कभी लिखा है—"**छिन्नमस्ता रूप देखा।**" अर्थात् छिन्नमस्ता काली का रूप देखा। यह छिन्नमस्ता उग्र विश्वपालिका शक्ति का प्रतीक है। एक जीव दूसरे जीव को खाकर पुष्ट होता है। अर्थात्

स्वयं ही अपना शिर काटकर स्वयं रक्तपान। क्योंकि सब कुछ एक स्थिर प्राण से ही उत्पन्न है। आधार की पृथकता के कारण स्वतंत्र रूप की प्रतीति होती है। वस्तुतः एक जीव का दूसरे जीव के खाने का अर्थ है स्वय ही स्वयं का भक्षण करना अथवा प्राण, प्राण को ही खाता है। क्योंकि जो, जिसको भक्षण कर रहे हैं, दोनों ही एक हैं। भोक्ता, भोग्य एवं भोग, ये रक्त की तीनों धारायें एकलयता की स्थिति में हो जाती हैं। साधना करते-करते समस्त प्रकार के भोगों के अवसान की दिशा में योगी की यह भयंकरी, भीषणा भाव-मूर्त्ति प्रकट होती है। प्राणायाम करते-करते मुख्य प्राणवायु जब स्थिर होकर सुषुम्नावाही अथवा सुषुम्न-काण्ड से होता हुआ कूटस्थ में सम्पूर्ण रूप से स्थिति प्राप्त कर लेता है तब योगी के समस्त भोगों का अवसान या अन्त हो जाता है उस समय जिस अवस्था का उदय होता है, वही छिन्नमस्ता की संज्ञा है। इस प्रकार किसी तत्त्व को आधार बनाकर तथा किस प्रकार की साधना करने से एक-एक चक्र के भीतर स्थित भाव को प्राप्त करना पड़ता है, उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र अथवा नक्शे को समस्त कला-कौशल के साथ अनेक देव-देवियों की मूर्ति या बिम्ब के माध्यम से ऋषियों ने अभिव्यक्त किया है; जिसका बोध या अनुभव योगियों को होता है। जैसे काली की १०८ संख्या की मुण्डमाला साधक के मन की १०८ पशुवृत्तियों के नाश या निधन का प्रतीक है। बाहर निकली जीभ मुँह में तालु के भीतर खेचरी मुद्रा का प्रतीक है। हाथ में खड्ग अज्ञान-नाश प्रतीक है अर्थात् वह ज्ञान का खड्ग है। इस प्रकार समस्त देव-देवियों को तत्त्व रूप में अपनी देह के भीतर उनकी उपस्थिति का बोध करना होगा; उसका ज्ञान प्राप्त करना होगा।

योगिराज ने डायरी में लिखा है—"**सून्य ब्रह्म नजर परा।**" अर्थात् शून्य ब्रह्म को देखा। फिर कभी लिखा है—'**ब्रह्म साफ दर्शन होंने लगा।**'' फिर लिखा है—"**जो ब्रह्म सोइ सून्य सोइ सूय ज्योति।**" अर्थात् जो ब्रह्म है वही शून्य है, वही आत्मसूर्य की ज्योति है। और कभी लिखा है—"**ओं—निर्मल भितर सून्य—"एकठो आदमि आपने माफिक बइठा देखा।**" अर्थात् ओंकार के भीतर निर्मल अर्थात् परिष्कार स्वच्छ शून्य—अपने स्वरूप जैसा एक व्यक्ति बैठा हुआ देखा। फिर लिखा है—"**एहि इलाही इल्लिला**"—अर्थात् यही महान अल्ला हैं। फिर कभी लिखा है—"**एहि आपना रूपे हय फिर एहि निराकार ब्रह्म ओंकार हय।**" यही अपना स्वरूप है और जो अपना स्वरूप है वही ओंकार रूप निराकार ब्रह्म है। यहाँ वे स्वयं एवं ब्रह्म सब मिलकर एकाकार हो गए, उनके जीव-भाव का लय हो गया और अद्वैत में प्रतिष्ठित हो गए।

यह योगी की एक चरम अवस्था है। इस अवस्था में द्वैत का कहीं कोई आभास ही नहीं इसलिए वे कहा करते थे कि जबतक दो या द्वैत की स्थिति हो तब तक वह निकृष्ट है। और एक बात लिखी है—**"रातदिन जब रोध श्वासा का होगा, तब रामनाम का पावेगा अउर सब सिद्ध होगा।"** योगिराज के कहने का तात्पर्य यह है कि जोर-जोर से चिल्ला-कर रामनाम जपने से क्या होगा ? जब आत्मकर्म या प्राणायाम करते-करते सर्वदा के लिए श्वास-प्रश्वास की बाह्य गति रुक जाएगी तभी सच्चे रामनाम की प्राप्ति होगी एवं तब सब कुछ सिद्ध एवं मुक्त हो जाएगा। अर्थात् जीव इन्द्रियों के माध्यम से बाहर के ही शब्द सुनता है, अन्तःकरण के शब्द सुन नहीं पाता; क्योंकि इन्द्रियों में वहाँ प्रवेश करने का सामर्थ्य नहीं है। वह अनाहत नाद अथवा ओंकार ध्वनि है जो जीव के हृदय में सर्वदा ध्वनित है। किन्तु उस ओर किसी का ध्यान नहीं। वायु-क्रिया रूप आत्मकर्म करते-करते जब प्राणवायु स्थिर हो जाएगा तब उस आत्माराम के अनिर्वाण नाम-प्रवाह अथवा Sound Current को पकड़ सकोगे या सुन पाओगे। तभी सच्चा या यथार्थ संकीर्तन होगा। जोर-जोर से चिल्लाने की कोई आवश्यकता नहीं। अनिर्वाण नाम-प्रवाह सुनने या पकड़ने की स्थिति में जिह्वा, ओठ आँख, मन, एवं प्राण स्थिर हो जाएँगे, कम्पनहीन हो जाएँगे। उस अवस्था में मुख से कौन संकीर्तन करेगा ? यही मुख्य संकीर्तन है। जोर-जोर से चिल्लाकर किया हुआ संकीर्तन गौण संकीर्तन है। गौण संकीर्तन के साथ यदि सुर-ताल एवं वाद्य नहीं होते तो वह कोई भी नहीं करता। चीत्कार पूर्वक संकीर्तन करने या बाहर खोजने पर आत्माराम की प्राप्ति नहीं होती। इसके सम्बन्ध में महात्मा कबीर ने दृढ़ता के साथ कहा है—

'अँखियन तौ झांई परी, पंथ निहारि-निहारि।
जिभ्या में छाला परा राम पुकारि-पुकारि।।'

अर्थात्—रास्ता देखते-देखते आँखें धुंधला गई हैं और राम-राम जपते-जपते जीभ में छाले पड़ गए हैं।

इस सन्दर्भ में योगिराज ने अपनी डायरी में एक बहुत अच्छी बात लिखी है—**"बाजा से जब जानवर मस्त होय तब आदमि 'ओं' में न मस्त होय तो गधा हय।"** अर्थात् साधारण बाजे को सुनकर जब जानवर मस्त हो जाता है तब अपनी देह में स्थित ओंकार-ध्वनि सुनकर भी यदि मनुष्य मोहित न हो तो फिर वह गधा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ओंकार-ध्वनि' सुनने की इच्छा यदि किसी में न जागे तो फिर उसका मनुष्य-जीवन व्यर्थ है जिस प्रकार गधा स्वय पशु होकर भी अन्य पशुओं के लिए घास ढोता फिरता है किन्तु उसके भाग्य में नहीं जुट पाती उसी

प्रकार जो व्यक्ति ओंकार ध्वनि न सुनना चाहे वह भी उस गधे की तरह केवल व्यर्थ का श्रम करता फिरता है। इस सन्दर्भ में पंचदशीकार ने कहा है—

अनात्मबुद्धिशथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेत् ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात पशुर्वद ॥

—पंचदशी : ९।१५६

अर्थात् आत्मा में जो अनात्म बोध होता है वह ध्यान द्वारा धीरे-धीरे दूर होता है। ऐसा प्रत्यक्ष फल देखकर भी जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता तो फिर वह पशु के अतिरिक्त और क्या है ?

नाम लेकर पुकारने से क्या ईश्वर की प्राप्ति होती है ? एक भक्त के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए योगिराज ने कहा है—कि नाम एवं रूप, देह का अथवा किसी वस्तु का होता है। ईश्वर को किस नाम से पुकारोगे ? वे तो नाम और रूप से परे हैं। देह नाशवान है, इसलिए नाम एवं रूप भी नाशवान हैं। किन्तु ईश्वर, वह तो अजन्मा है, अविनाशी है। फिर ईश्वर क्या कोई दूर की-वस्तु है ? वे क्या तुम से अलग हैं जो चिल्ला-चिल्लाकर नाम लेते हुए पुकारना होगा ? लोग दूर की वस्तु को ही नाम लेकर जोर-जोर से चीत्कार करते हुए बुलाते हैं। ईश्वर की अपेक्षा और कौन है जो निकट है ? वे तो तुम्हारे हृदय देश में अवस्थित हैं। इसलिए उन्हें नाम लेकर जोर-जोर से चिल्लाकर किस तरह पुकारोगे ? जैसे, ईश्वर' शब्द के माध्यम से पुकारने के लिए भी प्राण का देह में चंचल रूप में होना अनिवार्य है। क्योंकि देह-मन्दिर में प्राण के चंचल रूप में न रहने पर ओठ एवं जीभ में इतनी शक्ति नहीं है कि वे ईश्वर को 'ईश्वर' नाम से पुकारें। इसलिए ईश्वर को पुकारने के लिए भी देह में प्राण की चंचलता का होना अनिवार्य है। किन्तु स्थिर प्राण में कोई क्रिया या कर्म नहीं है। ईश्वर शब्द, ईश्वर है, हरि शब्द भी हरि नहीं है, जैसे जल शब्द जल नहीं है। जल शब्द यदि जल होता तो फिर जल-जल जोर-जोर से कहने पर ही प्यास बुझ जाती; किन्तु ऐसा नहीं होता। इललिए हरि-हरि जोर-जोर से पुकारने पर भी उसकी कोई आहट नहीं मिलेगी हरि का अर्थ है जो सब कुछ हरण करता है हर लेता है, फिर वहाँ किसी प्रकार की इन्द्रिय जन्य आसक्ति नहीं रहती। प्राण के स्थिर होने पर अर्थात् उसकी चंचलता का अवसान या अन्त हो जाने पर सब कुछ लुट जाता है, उसका हरण हो जाता है। उस स्थिति में जीव का जीव-भाव समाप्त हो जाता है। सभी इन्द्रियों से परे की यह अवस्था ही वह स्थिर अवस्था है जिसे हरि कहते हैं। योगिराज ने एक स्थान पर लिखा है—

"दर्पण के भीतर जो नदी उससे पियास नहि जाता।" अर्थात् 'दर्पण के भीतर प्रतिबिम्बित नदी के जल से प्यास नही बुझती।"

कोई व्यक्ति क्या स्वयं ही अपना नाम लेकर कभी पुकारता है ? उसे पुकारने की जरूरत नहीं। प्राण स्वयं ही जब ईश्वर है तब प्राण, प्राण को किस तरह पुकारेगा ? पुकारने की जरूरत ही क्या है ? क्योंकि जिसे पुकारेंगे और जो पुकारने वाला है दोनों एक ही हैं। दो का या द्वैत का प्रश्न ही नही ? यह प्राणरूपी ईश्वर सभी जीवों के शरीर में स्थिर रूप में वर्तमान है; किन्तु जीव में जब चंचलता आती है तो संज्ञा-च्युत होता है वह अपने स्वरूप को भूल गया है। इसीलिए यह सभी लोगों का कर्त्तव्य है कि वे प्राण-कर्म या प्राणायाम द्वारा चंचलता को समाप्त कर स्थिर प्राणरूप अपनी संज्ञा को पुनः प्राप्त करें अर्थात् वर्तमान स्थिति या चंचल अवस्था को स्थिर अवस्था में रूपान्तरित करके ही ईश्वर या स्थिर प्राण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा।

लोग ईश्वर को प्रणाम करने के उद्देश्य से दोनों हाथ जोड़कर दोनों भौंहों के बीच माथे का स्पर्श करते हैं; किन्तु उन्हें अज्ञता के कारण इस बात की जानकारी नहीं होती कि वे सभी इस प्रकार कूटस्थ को ही प्रणाम करते हैं। यथार्थतः कोई भी बाहर के किसी देव-देवी को प्रणाम नहीं करता; क्योंकि समस्त देव-देवियों का अस्तित्व ही उस कूटस्थ में है.। कूटस्थ को प्रणाम करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं, उनको प्रणाम करना ही समस्त देव-देवियों को प्रणाम करना है। इसीलिए देखने में आता हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी ध्यान-मग्न स्थिति में कूटस्थ (ज्योतिर्मय ईश्वर) को प्रणाम कर रहे हैं।

और भी देखने में आता है जैसे प्रचलित भाषा या मुहावरे के माध्यम से सभी अक्सर कहते हैं 'मेरा घर' अर्थात् 'घर'—'मैं' नहीं हूँ; वहाँ 'मैं' केवल रहता हूँ। उसी प्रकार लोग यह भी कहते हैं 'मेरी देह, या मेरा शरीर' अर्थात् इससे भी स्पष्ट है कि यह या शरीर मैं नहीं हूँ बल्कि वहाँ या उसमें केवल रहता हूँ। इस देह के भीतर 'मैं' रूप की पृथक सत्ता है जो वास्तविक 'मैं' का द्योतक या पदवाच्य है, वह मैं ही असली मैं है। वह प्रकृत या वास्तविक मैं न रहे तो फिर वर्तमान मैं का कोई अस्वित्व नहीं। वह सच्चा 'मैं' ही आत्मा है, ईश्वर है, वही जन्म-मृत्यु-रहित अविनाशी है। वह मैं फिर वर्तमान को कैसे पुकारेगा ? पुकारने का प्रयोजन ही क्या है ? केवल स्वयं, स्वयं को जानने की चेष्टा करो; वही साधना है। जिस दिन स्वयं, स्वयं को जान लोगे उस

समय सारे पाशों अथवा बन्धनों से मुक्त होकर स्वयं ही शिव हो जाओगे। इसी रूप में स्वयं को, स्वयं जानना ही मनुष्य जीवन की चरम एवं परम सार्थकता है।

प्रश्न है कि ईश्वर की स्तुति करोगे कैसे? स्तुति तो प्रशंसा अथवा खुशामद में शामिल है। वे क्या तुम लोगों की तरह खुशामद पसन्द हैं अथवा क्या उन्हें प्रशंसा प्रिय लगती है? वे कभी भी खुशामद नहीं चाहते, वे तो भक्त को अपनी तरह कर लेते हैं और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। इसलिए उन्हें पाने के लिए निश्चल होना पड़ेगा, समाधिस्थ होना पड़ेगा। निश्चल अवस्था अथवा स्थिर अवस्था ही ब्रह्म है। अतएव प्राणकर्म अथवा प्रणायाम द्वारा निश्चल, स्थिर होने की चेष्टा करो, वही ब्राह्मी स्थिति है। उस समय तुम स्वयं ही ब्रह्म हो जाओगे। जो कर्म तुम्हें उस निश्चल अवस्था तक पहुँचा दे, वही साधन है; वही कर्म योग है। उसी कर्मयोग को आधार बनाओ, उसी का ही अनुष्ठान करो अर्थात् इस आत्मकर्म रूप निष्काम-योग से ही सब कुछ प्राप्त होगा। इसीलिए क्रिया ही सत्य है और सब मिथ्या है। **"पुरा सासमे पिया आपना खोंज करे भाइ। जन्म-जन्म का संसार तुम्हारा सबे छट जाइ।"** एक गिलास पानी पाने पर वह भीतर चला जाता है जिस प्रकार वह बाहर नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार प्राणकर्म करते-करते बहिर्मुखी श्वास सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी होकर स्थिर हो जाता है तब 'केवल-कुम्भक' अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार श्वास को पूरी तरह पीकर (केवल-कुम्भक अवस्था में) उसके बाद स्वयं को खोजो। अर्थात श्वास की उस स्थिर अवस्था के भीतर ही अपना प्रियतम है, उसे प्राप्त करते ही अर्थात उस स्थिर अवस्था की प्राप्ति से ही जन्म-मृत्यु का प्रवाह भी समाप्त हो जायगा।

जिह्वा स्वयं इन्द्रिय है और इन्द्रिय द्वारा किया गया संकीतन गौण संकीर्तन है। इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि वस्तुतः जिन्हें मुख्य संकीर्तन का पता नहीं है उनके लिए गौण संकीर्तन करना ही अच्छा है। इस प्रकार गौण संकीर्तन करते-करते जीव धीरे-धीरे शुद्ध होगा और मन में भक्ति, श्रद्धा तथा विश्वास का उदय होगा। तत्पश्चात् स्वयं समय आने पर जब गुरु-कृपा से मुख्य संकीर्तन का संकेत प्राप्त होगा अर्थात् जब सद्गुरु द्वारा प्राणायाम अथवा प्राणकर्म का उपदेश प्राप्त होगा तब फिर गौण संकीर्तन की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इसीलिए वे कहा करते थे कि सौभाग्य से जिन्हें आत्मकर्म रूप साधन प्राप्त है या मुख्य संकीर्तन का मार्ग जिन्हें मिल गया है, उन्हें गौण संकीर्तन अथवा

बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं। वे उस समय देह के भीतर ही सब कुछ देखते हैं और सब कुछ की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञान संकलिनी तंत्र की उक्ति है—

देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि, गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

—ज्ञान संकलिनी तन्त्र : ८

अर्थात् सारी विद्यायें, समस्त देवता और सारे तीर्थ इस देह में वर्तमान हैं जिसे गुरु की शिक्षा द्वारा षट्चक्रों के माध्यम से जानना पड़ता है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना यही त्रिपाद अथवा तीन पद हैं। इस देह के भीतर ही, स्वर्ग, मर्त्य, और पाताल रूपी त्रिलोक या त्रिभुवन स्थित है। नाभि के नीचे पाताल, नाभि से कंठ तक मर्त्य एवं कंठ से ऊपर स्वर्ग लोक की अवस्थिति है।

ब्रह्माण्ड लक्षणं सर्वं देहमध्य व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति, निराकारो न नश्यति।
निराकारं मनो यस्य, निराकारसमो भवेत।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारान्तु परित्यजेत् ॥

—ज्ञान संकलिनी तन्त्र : २९-३०

अर्थात् विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, सब देह के भीतर है। साकार वस्तु नाशवान है; किन्तु निराकार का विनाश नहीं होता। निराकार मन में शुद्ध ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिए साकार को अस्थायी जानकर हर प्रकार से उसका परित्याग करना चाहिए।

मंत्रपूजातपोध्यानं होमं जप्यं बलिक्रियाम्।
संन्यासं सर्वकर्माणि लौकिकानि त्तजेद्बुधः।

—ज्ञान संकलिनी तन्त्र : ९६

मंत्र, जप, बाह्य पूजा, तपस्या, होम, बलिदान, संन्यास आदि जितने प्रकार के लौकिक धर्म-कर्म संसार में प्रचलित प्रचारित हैं; ज्ञानी बिना किसी छल-छद्म के उनका परिहार करते हैं। वे इन समस्त लोकाचारों के प्रति अनासक्ति-भाव रखते हैं।

इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कहानी है। मध्यप्रदेश के अन्तर्गत सागर के राजा ने एक वृहद् जलाशय के खनन का कार्य सम्पन्न करवाया; किन्तु किसी प्रकार भी जलाशय में अधिक जल नहीं हो पा रहा है। यह देखकर पंडितों से उपाय के लिए परामर्श किया। पंडितों ने उपाय बतलाया कि नर-बलि प्रदान करने से प्रचुर जल होगा। राजा ने उसके लिए प्रचुर धन-सम्पदा प्रदान करने की घोषणा की। उसके

विनिमय में यदि स्वेच्छा से कोई अपने शिशुपुत्र को प्रदान कर दे तो यह कार्य सुसम्पन्न हो ।

यह घोषणा सुनकर एक गरीब ब्राह्मण ने सोचा कि उसके अनेक पुत्र हैं। धीरे-धीरे आहार के बिना सभी के मरने की अपेक्षा यदि एक पुत्र को दान करके प्रचुर धन-सम्पदा प्राप्त करले तो उससे परिवार के और सभी सदस्यो की जीवन-रक्षा हो जाएगी। इसलिए उसने एक शिशुपुत्र को राजा के निकट अर्पण कर दिया।

राजा उस नन्हें बच्चे को लेकर जलाशय के पास बलि देने के लिए प्रस्तुत हुए तो उन्होंने बच्चे से पूछा—"बेटे ! तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है ?"

बच्चे ने कहा—' मेरी कोई इच्छा नहीं, होने से भी आपको बताने से कोई लाभ नहीं ।"

राजा ने कहा—"मैं राजा हूँ, यदि तुम्हारी कोई अन्तिम इच्छा हो तो बता सकते हो, मैं पूरी करूँगा।"

शिशु ने कहा—

"माता-पिता धन के लोभी
राजा लोभी सागरा
देवी-देवता बलि के लोभी
मम शरणागति माधवा।"

और उठा हुआ खड्ग नीचे उतर आया। जलाशय में उस समय इतना जल हुआ कि सारे नगर के बह जाने की नौबत आ गई। ऐसी स्थिति देखकर राजा ने फिर पंडितों से पूछा—"इस प्लावन या जल को बाढ़ से नगर को बचाने का क्या उपाय है ? पंडितों ने कहा—"उस बालक से ही पूछिए, वही रक्षा कर सकेगा।" भक्त बालक ने माधव के निकट प्रार्थना करके कहा—"प्रभु ! ये माँगना भी नहीं जानते। तुम इनकी रक्षा करो।" और फिर प्लावन कम हो गया।

साकार पूजा अथवा सगुणोपासना के गुह्यतम रहस्य के सम्बन्ध में भक्तों को शिक्षा देते हुए योगिराज कहा करते थे कि भगवान श्री कृष्ण की मूर्ति की ओर देखो, ऋषियों ने इस योग-साधना के तत्त्वों को सामान्य लोगों के लिए उन्हें समझाने की दृष्टि से कितनी सुन्दर व्यवस्था की है। भगवान के हाथ में वंशी है और उसमें छह छेद या छिद्र हैं। वे षटचक्रों का प्रतीक हैं। ऊपर की ओर एक और छेद है जो सहस्रार का प्रतीक है। उस वंशी को फूँक के द्वारा बजा रहे हैं। यह षटचक्रों के भीतर अन्तर्मुखी वायु-क्रियारूप प्राणाकर्म अथवा प्राणायाम का प्रतीक है। यह प्राणायाम करते-करते, कूटस्थ का दर्शन होता है। उनके

माथे पर सुशोभित मयूरपुच्छ उसी का प्रतीक है और उस मोर पुच्छ में जो आंख परिलक्षित है वही कूटस्थ का प्रतीक है। भगवान श्री कृष्ण त्रिभंगमुरारि के रूप में खड़े हैं। यह त्रिभंगरूपता जिह्वा ग्रन्थि हृदय-ग्रन्थि एवं मूलाधार-ग्रन्थि अथवा क्रमशः ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि के भेदन का प्रतीक है। बायें पैर पर पूरा बल देकर तथा दाहिने पैर को कुछ झुकाकर पंजों के सहारे जिस प्रकार खड़े हैं; वह ओंकार क्रिया का प्रतीक है। निराकार गुणातीत होने के बावजूद भगवान, त्रिगुण रूप और सगुण भी हैं यही उनके त्रि-भंग का रहस्य है। इस प्रकार भगवान की मूर्ति के माध्यम से सम्पूर्ण योगतत्त्व की वर्तमानता या उपस्थिति को उजागर किया गया है। इस प्रकार जो श्री कृष्ण का भजन करते हैं वही सच्चे कृष्ण-भक्त हैं। इसी प्रकार मा दुर्गा की प्रतिमा या मूर्त्ति द्वारा उनके दस हाथों के प्रतीक के माध्यम से यह दिखाया गया है कि साधक अपनी दस इन्द्रियों या दस प्राणों को किस प्रकार संयत रखता है। दस प्राण या दस प्राण-वायु के नाम इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये मुख्य पाँच प्राण हैं फिर नाग, कूर्म, कृकर या कृकल, देवदत्त और धनंजय ये पाँच उपप्राण हैं। इन्हीं दस प्राणों और दस इन्द्रियों के माध्यम से सारे कार्यों का सम्पादन होता है। दुर्गा-मूर्त्ति के पाँव के पास सिंह जो उनके द्वारा नियंत्रित है, काम-दमन का प्रतीक है। उसकी उन्होंने हत्या नहीं की क्योंकि सृष्टि-रचना के लिए वह अनिवार्य है। इसलिए उसे वश में करके रक्खा है। उन्होंने असुर का वध किया है, जो क्रोध का प्रतीक है। साधक को भी चाहिए कि वह क्रोध का वध करे। बग़ल में लक्ष्मी और उनका वाहन उल्लू है। साधना करते-करते साधक को जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब उसे सावधान करने के लिए उल्लू के प्रतीक द्वारा यह समझाया गया है कि कहीं उसकी भी यही स्थिति न हो। उल्लू दिवान्ध होता है उसे दिन में नहीं दिखाई देता। वह रात्रिचर है। तात्पर्य यह है कि धन-प्राप्ति के पश्चात् उल्लू जैसी स्थिति हो सकती है। इसी को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

'कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
यह खाए बौरात है, वह पाए बौराय॥

अर्थात् कनक (सोना) या धतूरा दोनों के प्रति सावधान रहना चाहिए। धतूरा खाने पर लोग पागल हो जाते हैं किन्तु सोना पाते ही पागल हो जाते हैं। उसे खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इतनी अधिक मादकता है।

दूसरी ओर सरस्वती देवी और उनका वाहन हंस है। हंस का काम दूध और पानी को अलग कर देना है। दूध में मिले हुए पानी से

दूध को अलग कर देना हंस का गुण है। यह ज्ञान-प्राप्ति का प्रतीक है। साधक जब साधना के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं तो ठीक ऐसी ही उनकी स्थिति होती है। वे नीर-क्षीर के विवेक से सम्पन्न होते हैं। उनमें सारस्वत चेतना का विकास कुछ इस तरह होता है कि वे संसार की मलिनता के भीतर से सार-वस्तु का चयन कर लेते हैं। इस अवस्था को ही परमहंस अवस्था की संज्ञा दी गई है, किन्तु साधक को और भी आगे जाना होगा क्योंकि तब भी उसे अद्वैत की प्रतिष्ठा नही प्राप्त हुई होती। फिर बगल में देव-सेनापति कार्तिकेय हैं। वह वीरता का प्रतीक है। उससे साधक को वीरतापूर्वक साधना करने की प्रेरणा दी जा रही है। कार्तिकेय का वाहन मयूर या मोर है। मोरपुच्छ में जो आँख परिलक्षित है, वह कूटस्थ का प्रतीक है। यदि साधक साहस, एवं दृढ़ता के साथ वोरतापूर्वक साधना करता रहे तो अवश्य ही कूटस्थ का दर्शन होगा। फिर उनके हाथ में तीर-धनुष है। शर या वाण श्वास का, और धनुष देह का प्रतीक है। इस देह के भीतर जो शररूपी श्वास को चलाते हैं अर्थात् वीरतापूर्वक जो वायु-क्रिया रूप प्राणकर्म या प्राणायाम करते हैं उन्हें ही कार्तिकेय कहते हैं। इतनी कष्टकर साधना के पश्चात्, साधक को सिद्धि अथवा मुक्ति तो चाहिए ही इसलिए सिद्धिदाता गणेश भी वहाँ उपस्थित हैं। उनका वाहन चूहा है। अकारण किसी वस्तु को नष्ट करना चूहे का धर्म है। अस्तु, इस प्रतीक के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि साधक अभी भी अद्वैत में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नही हो पाया है, उसे अनिष्टकारी तत्त्वों से दूर रहना होगा; नहीं तो सिद्धि अथवा मुक्ति नहीं प्राप्त होगी। इसके पश्चात् सबके ऊपर शिव स्थिति हैं, जो व्योम तत्त्व के प्रतीक हैं। वे समस्त विश्व के मालिक हैं अर्थात् विश्वनाथ हैं तब भी उनके रहने के लिए कोई स्थान नहीं है। अर्थात् साधक जब पूर्णरूप से व्योम तत्त्व अर्थात् अद्वैत भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब उस स्थिति में उनका अपना या स्वाधिकार जैसा कुछ नहीं रहता। उनके पास वस्त्र नहीं है; भस्म रमाए बैठे हैं; अर्थात् साधक के भीतर भी इसी प्रकार त्याग-भावना का उदय होता है। उनके एक हाथ में डमरू है जिसके दोनों ओर से समान वाद्य-ध्वनि होती है। वह ओंकार-ध्वनि का प्रतीक है। साधक ओंकार ध्वनि सुनते-सुनते तन्मयता के साथ एकाकार हो जाते हैं। उनके दूसरे हाथ में त्रिशूल है जो सत्त्व, रज, एवं तम इन तीनों गुणों का प्रतीक है। अर्थात् साधक की त्रिगुणातीत अवस्था की प्राप्ति का प्रतीक है। उनकी कमर एवं गले में सर्प-माल है जो हिंसा का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि उस

स्थिति में साधक ने हिंसा-वृत्ति सहित सभी प्रकार से इन्द्रियों का दमन करके पूर्णतः अहिंस अवस्था प्राप्त कर ली है। शिव का वाहन वृषभ या बैल है जिसका अर्थ है धर्म। उसके चारों पाँव, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष जो धर्म के चार मुख्य एवं श्रेष्ठ पद हैं। यह चतुष्पद रूप में धर्म का प्रतीक है—

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यंचैव कृतेयुगे
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रतिवर्त्तते ।।१

—मनु रहस्य: १।८१

इस प्रकार शिव शून्य तत्व के प्रतीक हैं। साधक शून्य तत्त्व में स्थिति प्राप्त करने के पश्चात् जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करते हैं। शून्य यानी कुछ नहीं, इस कुछ नहीं की अवस्था ही ब्रह्म है। इस प्रकार समस्त देव-देवियों के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने पर ही सिद्धि अथवा मुक्ति प्राप्त होगी।

योगिराज ने कहा है—"**हृदय में जब अपान वायु आवे दस प्रकार के अनहद सुनावे—चिं चिं चिं, क्षुद्र घन्टा, संख, विन, ताल, मुरली, पखावज, नहवत, दीर्घघन्टा।**" बाहर की स्थूल पूजा में जितने भी प्रकार के बाजे बजाए जाते हैं सभी इस अन्तर्वाद्य के प्रतीक हैं। योगी इसे सुनते हैं। उन्होंने और भी लिखा है—"**कांशर का आवाज हुआ—गले में चिनिके माफिक मीठा मालुम हुआ—आँख के सामने विजली चमकने लगा—ओंकार का ध्वनि बहुत देर तक सुना।**" काँसर की आवाज हुई, गले में चीनी जैसी मिठास का अनुभव हुआ। आँख के सामने बिजली-चमकने लगी। ओंकार की ध्वनि बड़ी देर तक सुना फिर लिखा है—"**रग के दोनों नेसतर के एक आवज निकसता उछिका नाम अनहद बाजा उचछे छोटा वाया जोकी उपरके कोटिछे गावापर चड़के**

---

१. धर्म चार पादों में विभक्त है—प्रथम पाद जिह्वा ग्रन्थि भेदन, द्वितीय पाद, हृदय ग्रन्थि भेदन, तृतीय पाद, नाभिग्रन्थि भेदन एवं चतुर्थ पाद मूलाधार ग्रन्थि भेदन—यह धर्म के-चार पद या पाद हैं—उपरोक्त श्लोक में प्रयुक्त 'स क ल' शब्द के स का उच्चारण दन्त्य स की तरह, क—मस्तक मूर्द्धा ल वक्ष में जोर अर्थात् ध्वनि या शब्द सहित मूर्द्धा से ज़ोर देकर क्रिया करना; 'सत्य' अर्थात् कूटस्थ, फिर एकाकार, तत्पश्चात् विज्ञान और अन्त में समाधि। तब मन में मन मिल जाता है। चार प्रकार के इस सत्य के योग से ब्रह्म स्वरूप का बोध होता है। 'नाधर्मे'—अधर्म में, आगम-स्थिति, कश्चित् न—कभी भी नहीं, पुरुष—श्रेष्ठ कूटस्थदर्शी जिसे देख रहे हैं। अर्थात् अधर्म में यानी क्रिया से अलग उस कूटस्थ में स्थिति कदापि नहीं होती जिसे श्रेष्ठ क्रियावान देख रहे हैं।

मालुम होता हय हामेसा येसा सानाइका सुर देते हेय उचछे कुछ कम आउर आवाज हेय इह मालुम होता हेय कि बहुतछे आदमि इस्त्रोएका काँसर घन्टा बाजाय रहे। बड़ा घन्टा का आवाज सिर के भितर पिछे मालुम हुआ।" अर्थात् रग के दोनों तरफ से एक ध्वनि निकल रही है जिसका नाम अनाहत ध्वनि या नाद है, उसकी अपेक्षा सामान्य शब्द जो ऊपर के घर के गवाक्ष के भीतर ये आ रहा है, अनुभव किया जो शहनाई के स्वर की अपेक्षा कुछ कम आवाज के साथ आ रहा है और ऐसा लगा कि एक साथ अनेक लोग काँसर का घन्टा बजा रहे हैं। बड़े घन्टे की ध्वनि मस्तक के भीतर पीछे की ओर सुना। योगिराज ने कहा है—**वृषाकार के उपर महादेव चढ़ने गए आउर क्या वाहन प्रथिवि नहि था—वृषाकार याने इह शरीररूपि वृष इसका दुइसिंग प्राणायाम के हवा से निकसता हय— आउर काम वर्जित होता हय इसलिए इह शरीर को वएल कहते हय इसिके उपर महादेव हय अर्थात् ब्रह्म।"**

अर्थात् वृभष या बैल पर महादेव ने सवारी क्यों की ? पृथिवी रूपी वाहन क्या नहीं था ? वृष के अर्थ में यह शरीर है, जिसकी दो सींगें हैं जो प्राणायाम के समय बाहर होती हैं अर्थात् इड़ा और पिंगला दो सींगे हैं। इस इड़ा-पिंगला के कर्म करने पर काम विवर्जित अवस्था प्राप्त होती है। ये इस शरीर में ही हैं इसलिए शरीर को वृष कहते हैं। इस शरीर में ही महादेव अर्थात् स्थिर प्राणरूपी ब्रह्म है। दिव् शब्द से आकाश का बोध होता है। **महादेव का** अर्थ है महान आकाश अर्थात् स्थिर महाशून्य जो सर्वत्र व्याप्त है।

योगिराज ने अपनी डायरी में एक और चरम उपलब्धि की बात लिखी है जिसे प्राचीन काल में ऋषियों ने उपलब्ध किया था। उन्होंने लिखा है—**"आदि, पुराण किशुन जी से भेंट हुआ।"** अर्थात् आदि पुराण पुरुष कृष्ण को देखा। फिर लिखा है—**"आदि पुरुष से भेंट, जीभ आउर आगे जाय के ठहरा, शून्य भवन में मन गया।"** अर्थात् आदि पुरुष से मिला; जीभ और ऊपर उठकर ठहर गई। इस प्रकार जब खेचरी सिद्धि की अवस्था प्राप्त हुई। तो फिर मन शून्य-भवन में प्रविष्ट हो गया। शून्य अर्थात् कुछ नहीं। यह कुछ नहीं की अवस्था में अर्थात् बिना किसी अवलम्बन के निराकार निर्गुण अवस्था में अथवा महाशून्य में मन स्थित हो गया। 'केवल कुम्भक' होने पर यही अवस्था होती है। इसे खेचरी सिद्धि भी कहते हैं। इसी शून्य अवस्था के ही सम्बन्ध में उन्होंने फिर लिखा है—**"सून्य आसल चीज हय, स्वासा भीतर भीतर चलता हय।"**

यह शून्य ही सत्य है अर्थात् ब्रह्म है क्योंकि वहीं से सब कुछ उत्पन्न होता है और उसमें ही लय होता है।

उन्होंने फिर लिखा है—"**सूर्य सून्य हय सून्य में मिल जाना है।**" वह आत्मसूर्य ही शून्य है उसी शून्य में मिल जाना होगा उसी में लय होना होगा—"**हमहि आसमान का सूर्यरूप—हम छोड़ाय दुसरा न कोइ नहि उह कहता हय सब छोड़ाय के बइठो—एक मजा मैथुन का पएर से सिरतक होत हय। जो सून्य भितर सोइ बाहर। अब शिरफ सून्य हो जाना हय।**" मैं ही उस महाशून्य का आतमसूर्य रूप हूं। वहाँ मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं, सोहं। भीतर से आदेश हो रहा है कि अब इन्द्रिय संग सहित सब कुछ छोड़कर चुपचाप ध्यान में मग्न बैठा रहूँ। इस अवस्था में मैथुन की तरह एक आनन्द पांव से सर तक हो रहा है। जो महाशून्य भीतर देख रहा हूँ वह बाहर भी देख रहा हूं अर्थात् भीतर बाहर सब एक हो गया है। सर्वत्र ही उस महाशून्य रूपी ब्रह्म को देख रहा हूँ। अब अपने अस्तित्व का लोप करके सम्पूर्ण रूप से शून्य हो जाना होगा, महाशून्य में विलीन होना होगा।

यह पुराण-पुरुष, पुराणकृष्ण अथवा आदि पुरुष कौन है ? इसके सम्बन्ध में गीता एवं उपनिषद में कहा गया है—**अजो नित्यं शाश्वतोयं पुराणो।** अर्थात् जो शाश्वत है और जिसके आगे कोई नहीं है; वह वह चिरकाल से हैं और रहेंगे। जो अ-परिवर्तनशील है, अविनाशी है, अजन्मा है. अमरणधर्मा है वही पुराण पुरुष है। योगी जब कूटस्थ गह्वर में प्रवेश कर लेते हैं तब सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। उस समय सब कुछ एकाकार हो जाने पर दो की स्थिति नहीं रहती दो नहीं होगा तो फिर जन्म कहाँ ? फिर जन्म नहीं तो मृत्यु कहां ? वही पुरुषोत्तम है, वही नित्य पुराण हैं। उसी में लय हो जाना उचित है। वही आदिदेव हैं, अर्थात् देवाधिदेव हैं। इसीलिये योगिराज कहा करते थे कि बिना प्राणकर्म के वहाँ रहना कठिन है। वही धर्म है। प्राणकर्म या प्राणायाम करके कर्मातीत अवस्था में अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहना ही शाश्वत पद है, वही अमरधाम है। उस शाश्वत पद की प्राप्ति होने पर अथवा कर्मातीत अवस्था में सर्वदा रहने से स्वय ही पुराण पुरुष की स्थिति हो जाती है। महात्मा कबीरदास ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

कबीर जो वह एक न जानिया, तो सब जाने क्या होय।
एकहिते सब होत है, सब ते एक न होय॥

अर्थात् बिना एक को जाने, सब कुछ जानना व्यर्थ है। उस एक से ही सब कुछ हुआ है, वह एक सब में वर्तमान है। अनेक से एक की उत्पत्ति सम्भव नहीं। कबीर फिर कहते हैं—

एकहि साधे, सब सधे, सब साधे सब जाय।
जो तू सींचे मूल को, फूले-फले अघाय॥

अर्थात् एक की साधना करने से सारी साधनाएं सफल होती हैं; किन्तु सब की साधना करने से. सब कुछ विफल हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष के एक मूल को ही सींचने से प्रचुर मात्रा में फूल-फल प्राप्त होता है उसी प्रकार एक की साधना सर्वप्रकार से फलवती होती है।

एकं भूतं परंब्रह्म जगतसर्वं चराचरम।
नाना भावं मनो यस्य, तस्य मुक्तिर्न जायते ।।

ज्ञान सकलिनी तंत्र : ८४

सभी पदार्थों एवं चर-अचर तथा जड़ एवं चेतन में एकमात्र ब्रह्म ही वर्तमान है। मन में नाना प्रकार के भावों के होने से मुक्ति नहीं; बल्कि एक का ज्ञान प्राप्त होने से ही मुक्ति सुनिश्चित है। इसलिये एक की साधना करना ही उचित है। अनेक देव-देवियों की साधना करने पर छोटे-बड़े देवता का भाव उभरता है।

'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे'

—कठोपनिषद: ३।१

प्राणवायु को कूटस्थ रूपी गुहा में प्रवेश कराने से वह परब्रह्म में लीन हो जाता है उस समय परार्द्ध जगत की उपलब्धि होती है अर्थात सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगिराज ने इसी अवस्था को प्राप्त किया था।

'अंगुष्ठ मात्र पुरुष मध्य आत्मनि तिष्ठति'

कम्बलाख्या उपनिषद : उत्तरवल्ली।

अर्थात् कूटस्थ के भीतर अंगुष्ठप्रमाण पुरुष आत्मा का निवास है। इसीलिए योगिराज भक्तों से कहा करते थे कि कूटस्थ के भीतर जिस अंगुष्ठ प्रमाण अथवा अँगूठे की माप वाले पुरुष को देखते हो; वह उत्तम प्राण-कर्म करने से ही दिखाई देता है; वही आत्मा है, वही अभयपद एवं परमपद है; वही ब्रह्म है। वह 'उत्तम पुरुष मैं हूं क्रिया-योग करते-करते इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। वही स्वरूप पुरुषोत्तम है, सभी ज्योतियों की ज्योति है। उस से ही सभी ज्योतियाँ उद्भासित हैं। वही आत्म सूर्य है। अस्तु, यदि वह न रहे तो फिर किसी ज्योति का अस्तित्व नहीं। जो कुछ भी दिख रहा है. सब कुछ उसी का रूप है, उसी की प्रभा एवं विभा है। क्योंकि समस्त रूपों का उद्भव विकास वहीं से हो रहा है। इसीलिए जीव शिव स्वरूप है। आत्मा के न रहने से कुछ भी नहीं रहता। आत्मा के ब्रह्म स्वरूप होने से ही सब का अस्तित्व है। इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत' की प्रतीति होती है। इसकी पुष्टि करते हुए ऋषियों ने उस परम सत्य के बारे में कहा है—

'अणोरणीर्यान महतोमहीयान् आत्मा गुहात्यां।
निहितस्य जन्तोस्तमः कृतं पश्यति वीतशोका।'

—वृहन्नारायण उपनिषद :१:

अर्थात् वह अणु से भी अणुतर है महत या महान से भी महान है। उस कूटस्थ रूपी गुहा के भीतर जो आत्मा स्थित है, वहाँ मन के जाते ही वीतशोक अथवा सभी शोकों से रहित हो जाने की अवस्था प्राप्त होती है। वह कूटस्थ-स्थित आत्मा सूक्ष्म रूप से समस्त जीवों का भरण-पोषण करता है। इसीलिए योगिराज कहा करते थे कि उत्तम प्राण-कर्म करने से ही ओंकार रूप भौंहों के बीच दीप शिखा की तरह निष्कम्प, वात-रहित दिखाई देता है। फिर उसी स्थान पर मृणाल (कमलनाल) के तन्तुओं जैसी जो आभा दिखाई पड़ती है वही शक्तिरूपा शिवा है, वही सूर्य स्वरूप कूटस्थ का रूप है, वही हृदयाकाश है। यह श्वास ही वाक् है, यही गायत्री है। प्राण-कर्म या प्राणायाम के समय जो सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है, वही प्रणव-ध्वनि अथवा श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है। उसी प्रणव-ध्वनि में तन्मय होने पर प्राणवायु ऊपर उठ जाता है और कूटस्थ की वह स्थिति प्राप्त होती है जिसे अमर-पद कहते हैं—

"हृदिस्थतं पंकजमष्टपत्रं, सर्काणकं केशर-मध्य नीलम्
अंगुष्ठमात्रं मुनयो वदन्ति, ध्यायन्ति विष्णु पुरुषं पुराणम्।

—ओंकार गीता

अर्थात् हृदय-कमल में स्थिति होने पर उसकी आठ कर्णिकाओं के केशर के भीतर नीलेवर्ण का अगुष्ठ प्रमाण पुरुष ही मुनियों की दृष्टि में पुराण-पुरुष विष्णु है जिसका वे ध्यान करते हैं।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।
यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

—गीताध्यान

अर्थात् जो योगी ध्यानमग्न अवस्था में तदगत् मन होते हैं वही उसे देखने में सक्षम होते हैं। जिसके आदि-अन्त को सुर-असुर भी नहीं जान पाए ऐसे उस ईश्वर को नमस्कार।

१५ जुलाई १८७३ ई० को योगिराज ने लिखा है—**"पाँच इन्द्रियों के परे मन याने श्वासा—मन के परे बुद्धि याने बिन्दि—बुद्धि से परे ब्रह्म निराकार सून्य निर्मल।"** अर्थात् पाँच इन्द्रियों के परे मन की स्थिति है। जब तक श्वास-प्रश्वास है, तब तक वर्तमान चंचल मन भी है। श्वास स्थिर होने पर वर्तमान मन का अस्तित्व नहीं रहता। श्वास के अस्तित्व पर ही मन का अस्तित्व निभर है। अतएव श्वास स्थिर होने पर बुद्धि रहती है जो कूटस्थ रूपी विन्दु में अवस्थित है। उस बुद्धि

अथवा विन्दु से परे निराकार ब्रह्म है जो निर्मल शून्यस्वरूप 'आकाश-शरीर' है। तंत्र की भाषा में—

स्पर्शनं रसनं चैव घ्राणं चक्षुश्च श्रोतरम्।
पंचेन्द्रियमिदं तत्त्वं मन साधन्त्रमिन्द्रियम् ।।

—ज्ञान संकलिनीतंत्र : २८

अर्थात् स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण (कान) इन पाँच इन्द्रियों के पंचतत्त्वों से परे मन रूपी इन्द्रिय है।

इसीलिए उन्होंने १८७३ ई० ११ मई को लिखा है—"**विन्दु में आटक रहना काम हय**।" अर्थात् उस मन के पार जो विन्दु है उसमें हमेशा अटक कर रहना ही उचित है, ऐसा होने पर शून्य में स्थिति होती हैं। उसके बाद क्या होगा ? इसके सम्बन्ध में योगिराज उस वर्ष ही तीन मार्च को लिखा है—"**आज हम उजियाला घर चले—जयसे कोई दिपक बार दिया। स्वासा भितर भितर चला।**" अर्थात् प्रकाश या रोशनी के घर में प्रवेश किया। लगता है, वहाँ जैसे किसी ने सचमुच दीप जला रक्खा है। श्वास भीतर ही भीतर चल रहा है अर्थात् सुषुम्ना के भीतर चल रहा है। उस स्थिति में ठीक भोर के आकाश अथवा शाम के पहले जैसे आकाश में रोशनी के बिना भी सब कुछ स्वयं प्रकाशित दीखता है। उसके बाद ही समाधि की अवस्था आती है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने १३ जनवरी को अपने साधनलब्ध अनुभव के बारे में लिखा है—"**सून्य भवन आउर सफा, जिभ आउर उपर उठा, अब बड़ा मजा एक उजियाला उसिसे सब देखलाता हय आउर कुछ भि नहि देखलाता हय उसिसे मन ठहर जाने को नाम समाधि।**" अर्थात् सहस्रार अथवा मूर्द्धन्य कमल रूप चक्र में स्थिति शून्य घर को और भी स्वच्छ, परिष्कार देखा, जीभ और भी ऊपर उठ कर तालु के भीतर अटक गई उस समय परमानन्द की अनुभूति हुई। भोर के आकाश जैसी स्निग्ध उज्ज्वलता में सब कुछ देख पाया और कुछ भी नहीं देख पाया; क्योंकि उस अवस्था में देखा-देखी का प्रश्न ही नहीं। दर्शक मन का उस समय अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी अवस्था में मन को स्थापित करने का नाम समाधि है। उस समय जो आत्मसूर्य प्रकाशित होता है उसे ही योगिराज ने 'कृष्ण' की संज्ञा दी है—"**सूर्य ही कृष्ण।**" यह आत्म सूर्य ही कृष्ण हैं। इस विचित्र अवस्था की अनुभूति के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**जौन देश में रात नहिं होय उँहा एक आदमि के माफिक देखा, उह आदमि न कुछ बोले, न कुछ चाले—खाली खड़ा हय—तुमि सूए आछो से दाँड़िए आछे—केवल से प्रेमेर भूयो—प्रेम करिले ताँहा कें पावा जाय।**" अर्थात् जिस देश में रात नहीं। किस देश में रात नहीं है ?

ऐसा तो कोई देश दीखा नहीं जहाँ रात न हो। रात न होने से केवल दिन ही वर्तमान है क्या ? ऐसा भी सम्भव नहीं। क्योंकि दिन है तो रात होगी ही और यदि रात है तो दिन भी होगा ही। एक के रहने पर दूसरा रहेगा ही। जिस प्रकार हम सुख की कामना करें और दुख न चाहें; यह तो सम्भव नहीं। सुख-दुख का द्वैत-द्वन्द्व रहेगा ही। इसीके सम्बन्ध में उन्होंने कहा—'**जौन देश में रात नहि।**" अर्थात् जहाँ रात भी नहीं, दिन भी नहीं। प्रातः कालीन या भोर के आकाश जैसी स्वयं प्रकाश एक द्वन्द्वातीत अवस्था है। वहाँ एक व्यक्ति को देखा, उन्होंने न कुछ कहा और न वे हिले-डुले ही। केवल खड़े हैं उस समय समझ में आया कि यही सब कुछ के मूल उत्स या स्रोत हैं। इसीलिए खड़े हैं अर्थात् ये ही पुरुषोत्तम हैं। वह पुरुषोत्तम केवल प्रेम के कंगाल हैं। सही ढंग से प्रेम करने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यह प्रेम कब होता है ? इसकी प्रक्रिया है कि जितना ही प्राणकर्म या प्राणायाम करोगे उतना ही उस अरूप का रूप घनीभूत होगा और वह जितना ही घनीभूत होगा उतना ही स्थिर नेत्र अथवा कूटस्थ में दर्शन करते-करते उसके प्रति आकर्षण बढ़ेगा; अन्त में वह आकर्षण ही घनीभूत होकर प्रेम में परिणत होगा। वही विशुद्ध प्रेम है। उसके पहले विशुद्ध प्रेम सम्भव नहीं। महात्मा रामप्रसाद का गीत है— "**ऊर्ध्व जिह्वा करि आनन्द सागरे भासिते** ·······।" अर्थात् ऊपर जिह्वा करके आनन्द सागर में तैरता हूँ या आनन्द सागर में तैरने के लिए जिह्वा को ऊपर की ओर उठाता हूँ। योगचर्या में यह सिद्ध है कि जिह्वा के तालु में प्रवेश करने पर परम आनन्द की उपलब्धि होती है। उसके पश्चात् की अवस्था के सम्बन्ध में अर्थात् पूर्वोक्त अवस्था के बारे में उन्होंने गीत के माध्यम से ही व्यक्त किया है—"**जे देशे ते रजनी नेइ मा सेइ देशेर एक लोक पेयेछि, एबार भालो भावेर काछे भाव शिखेछि।**" अर्थात्, जिस देश में रात नहीं है मा ! उसी देश में एक व्यक्ति से भेंट हुई है, इस बार उससे अच्छी तरह भाव के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली है। महात्मा रामप्रसाद जन्मगत संस्कार के कारण आत्मब्रह्म को मा कहकर या मा के नाम से पुकारना पसन्द करते थे। उनकी प्रत्येक गीतात्मक अभिव्यक्ति में देखा जाता है कि उन्होंने 'मा' का सम्बोधन किया है। वस्तुतः माता-पिता सब कुछ वही है। पहली मार्च १८७४ की डायरी में योगिराज ने अपनी साधना के द्वारा उपलब्ध उच्चतम एवं महानतम अवस्था के बारे में लिखा है—"**न स्वासा लेना न फेकना—बड़ा सुख—एहि ब्रह्म। सूर्य को ज्योति नहि रहा।**" आत्मक्रिया अथवा प्राणायाम करते-करते वे उस अवस्था में पहुँच गए थे

जहाँ श्वास-प्रश्वास के होने का कोई प्रश्न ही नहीं था अर्थात् आगम-निगम रूप कर्म से रहित होकर सम्पूर्णतः "केवल कुम्भक" प्राप्त करते हुए स्थिर हो गए थे। उस समय उन्हें बड़ा सुख मिला; इस निर्विकल्प सुखमयी अथवा पूर्ण आनन्दमयी अवस्था का नाम ब्रह्म है जहाँ सूर्य-ज्योति नहीं है। नदी जब समुद्र में मिलती है तब उस संगम के पश्चात् जिस प्रकार नदी का स्रोत या प्रवाह लुप्त हो जाता है उसी प्रकार योगिराज ने भी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त की थी। योगिराज ने उसे आनन्द न कहकर सुख कहा है क्योंकि सुख और आनन्द में एक सूक्ष्म पार्थक्य है। आनन्द में सुख का किंचित आभास रहता है; किन्तु सुख में परिपूर्ण आनन्द वर्तमान रहता है। सुन्दरता पूर्वक अथवा सौन्दर्य की उदात्त भावना के साथ आकाश अर्थात् ब्रह्माकाश में लीन होना ही सुख है और उस आकाश से दूर रहना ही दुःख है। 'खं' अथवा 'आकाश' अर्थात् ब्रह्माकाशं।[१] अतएव सुख आनन्द से भी ऊपर की अवस्था है। इसीलिए उन्होंने सुख कहा है। उस सुख-स्वरूप ब्रह्म में अर्थात् ब्रह्माकाश में उन्होंने जब स्थिति प्राप्त की और तब फिर उसके बाद वहाँ से उतरने की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—**'सूर्य को ज्योति नहिं रहा।'** अर्थात् उस समय आत्मसूर्य की ज्योति भी नहीं रही; केवल स्वयं प्रकाश ही प्रकाश था। क्योंकि उस ज्योति स्वरूपा शक्ति को सूर्य-चन्द्र कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकते; सभी उसकी ज्योति के समक्ष म्लान हो जाते हैं। भगवान श्री कृष्ण गीता में इसी की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

—गीता : १५।६

अर्थात्, जहाँ सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि की दीप्ति नहीं है; क्योंकि उनकी दीप्ति उस अवस्था को प्रकाशित करने में सक्षम नहीं है। वह परम ज्योतिर्मय स्थान ह जो स्वयं प्रकाश एवं अव्यक्त है। उस स्थान या अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात योगी पुनः संसार में वापस नहीं आते। वही मेरा परम धाम है।

इसी प्रकार कठोनिषद में भी कहा गया है—

१—सु=सुन्दर, खं=ब्रह्माकाश। सुन्दर रूप ब्रह्माकाश में रहने से ही सुख है। दुः=दूर, ख=ब्रह्माकाश। अर्थात् उस सुन्दर रूप ब्रह्माकाश से दूर रहने पर ही दुःख है अर्थात् क्रिया की परावस्था में रहना ही सुख है और परावस्था में न रहना ही दुःख है।

"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकेनेमे
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

अर्थात् जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और न तो चन्द्र तथा तारों का प्रकाश ही पहुँचता है। विद्युत का प्रकाश भी उसकी अपेक्षा विवर्ण है, फिर अग्नि की तो कोई बात ही नहीं। वे जो शाश्वत काल से देदीप्यमान हैं उन्हीं की ज्योति से ही ये दृश्यमान सूर्य, चन्द्र तारे सभी ज्योतिष्मान हुए हैं।

• • •

योगिराज कभी भी तथाकथित ध्यान करने को नहीं कहा करते थे; बल्कि क्रिया-योग के अभ्यास पर ही अधिक बल देते थे। वस्तुतः क्रियायोग ही गीतोक्त कर्मयोग है। साधारणतः ध्यान का अर्थ है आज्ञा-चक्र में किसी देव-देवी की कल्पित मूर्त्ति अथवा इष्टमूर्त्ति की अवधारणा करके उसी में तन्मयता पूर्वक धीरे-धीरे समाधि की ओर अग्रसर होना।

किन्तु योगिराज द्वारा निर्देशित यह मार्ग नहीं है। उन्होंने इसके सम्बन्ध में शिक्षा दी है कि रेचक एवं पूरक के माध्यम से षटचक्र के मार्ग में अन्तर्मुखीन होने से प्राणवायु के यातायात द्वारा अपने आप ही 'केवल कुम्भक' हो जाएगा। एवं सभी प्रकार की चंचलता समाप्त हो जाएगी। उसके बाद ही ध्यान का वास्तविक आधार स्थापित होगा। इसके पश्चात योनिमुद्रा द्वारा आतमसाक्षात्कार या आतमदर्शन की तन्मयता प्राप्त होगी एवं और भी आगे बढ़ने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होगी। इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इस सन्दर्भ में गीता की भाषा में स्पष्ट संकेत है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम॥

गीता : ९।२

यह वैज्ञानिक एवं विज्ञान सम्मत होने के कारण सभी विद्याओं में राज विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है एवं अत्यन्त गुह्य (गोपन) तथा पवित्रतम है। प्राणकर्मरूप यह धर्म प्रत्यक्ष और स्पष्ट है, सुखपूर्वक आराम से किया जा सकता है। यह अव्यय है, अक्षय है, इसका कभी नाश नहीं होता इसीलिये योगिराज कहा करते थे कि – "**कष्ट होलेइ बूझबे, क्रिया ठीक**

होवछे ना।" अर्थात् कष्ट होने से ही समझोगे कि क्रिया ठीक से नहीं हो रही है। इस कर्म के करने से कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है। प्राणवायु की चंचलता के कारण ही समस्त कर्मों की उत्पत्ति होती है। उसके स्थिर हो जाने पर फिर और कोई कर्म नहीं रह जाता। इस अवस्था को कर्मातीत अवस्था कहा गया है। जिसे योगिराज क्रिया की परावस्था कहते थे। यह परावस्था अथवा कर्मातीत अवस्था ही सब का लक्ष्य है, उसे सभी चाहते हैं; वही परमधाम है। इसलिए सब से कहा करते थे कि परावस्था में रहो, इससे अधिक और कुछ नहीं; क्योंकि वह स्थिर अवस्था ही ब्रह्म है— "निश्चलं ब्रह्म उच्यते।" अर्थात् स्थिर या निश्चल अवस्था ही ब्रह्म है।

१६ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**आज जेयादा देर तक दम बन्द रहा—हमहि सूर्य भगवान। हमारा रुप कालाचाँद।**" आज ज्यादा देर तक दम बन्द रहा। मैं ही सूर्य रूपी भगवान हूँ, मेरा ही रूप काला चाँद है। १९ अगस्त को एक कृष्णचन्द्र का अंकन करके उसके बगल में लिखा है— **कालाचाँद का रुप। कृष्ण याने काला-चाँद।**" कूटस्थ में जो कृष्णचन्द्र दिखाई देता है जिसे योगी ही देखते हैं वही कालाचाँद का रूप है। कृष्ण अर्थात् यही कालाचाँद है। इसके कई दिन बाद एक कृष्ण की मुखाकृति का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—"**इ चेहरा भितर का मिट जाता हय पिछे हजार कृष्ण नजर पड़ातां हय भयानक बड़े भयानक सुरत सब नजर पड़ाता हय बड़ा भारि कृष्ण इसमे दहषत मालुम होति हेय।**" कूटस्थ में जो कृष्ण की मूर्ति देख रहा हूँ वह भी लुप्त हो गई इसके बाद हजार कृष्ण को देखा। इसके बाद जो वृहत कृष्ण को देखा तो भय या दहशत हुई। "**एक ज्योत भितर से देखा उसका वर्णन नहि हो सक्ता उह ज्योत सेवाय आउर कुछ नाहि—अब कठिन कावारां हय—बड़ा आनन्द एहि आउर ब्रह्म विराट मूर्ति का रुप हय।**" अर्थात् भीतर एक ज्योति देखा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस ज्योति के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अब कठिन अवस्था हो गई। इस अवस्था में बड़ा ही आनन्द है, यही ब्रह्म की विराट मूर्ति का रूप है। उसके पश्चात् और आगे जाकर ३१ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**उह कृष्ण सून्य में मिल जाता।**" वह कृष्ण भी महाशून्य अर्थात् शून्य के भीतर जो शून्य है उसमें मिल गया। अन्त में कोई रूप ही नहीं रहता सभी महाशून्य में मिल जाता है। इसलिए उन्होंने लिखा—"**यत रुप देखा जाय सब अपरूप। सब रुप सून्य मे मिल जाता हय।**" इसी की ओर लक्ष्य करते हुए अर्जुन ने कहा है

"वे देवतागण तुम में ही प्रवेश कर रहे हैं।"[1] वह शून्य कैसा है? इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– **"विन्दु घूँघट के या आवरण के भीतर से दिखाई देता है अर्थात साधारण शून्य का आवरण है किन्तु महाशून्य का कोई आवरण नहीं इसलिए वह पहले दिखाई नहीं देता—महाशून्य के विन्दु में समुदाय दिखाई देता है।"**

किन्तु कितने क्षण तक देख सकते हैं? इसके बारे में उन्होंने लिखा है– **"हम विना कुछ नहि फिर हमभि नहि खालि सून्य निर्मल ओहि आपने पद। अब स्वासा भितर भितर चले लगा—ओहि स्वासा नारायण हय आउर ओहि कारण वारि। एहि का नाम पार उतरना कहते हय—इसिनेसेमे जोगि लोग पड़े रहते हय।"** मुझे छोड़कर और कुछ भी नहीं, और फिर मैं भी नहीं, केवल निर्मल शून्य वर्तमान है वही अपना पद अर्थात् स्व-रूप है। अब साँस भीतर-भीतर अर्थात् सुषुम्ना में चल रही है। यह आभ्यन्तर सांस ही नारायण है और यही जो सब कुछ है सभी का उत्पत्ति स्थान है अर्थात् यही कारण सलिल या वारि है। इसी को भवसागर से पार उतरना कहते हैं इसी अवस्था में ही या इसी के नशे में महायोगी स्थित होते हैं। **"हमहि सूर्य हमारेइ प्रकाशित सब जगत।"** मैं ही वह आत्म सूर्य हूँ और मुझसे ही समस्त जगत प्रकाशित है इस अवस्था में स्थित रहकर लिखा—**"इह मालुम हुआ कि सूर्य हमाहि हय। ययसा हम सूर्यरूपी आउर हमारे सब तेज सर्वव्यापि ब्रह्म। हमारा न हात हय न पएर हय केवल मंडलाकार हमारा तेज सर्वव्यापि।"** अब समझ में आया कि वह आत्मसूर्य हो मैं हूँ। मैं जब वह आत्मसूर्यरूपी हूँ तब मेरा सम्पूर्ण तेज सर्वव्यापी ब्रह्म है। मैं हाथ-पाँव से रहित हूँ केवल अखण्ड मण्डलाकार हूँ। मेरा तेज समस्त चराचर जगत में व्याप्त है। शास्त्रों में कहा गया है—

अखण्ड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।

यह अवस्था ही यथार्थ गुरुपद की संज्ञा है। इसीलिए योगिराज ने एक सूर्य का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—**"एहि गुरुचरण हय।"** फिर लिखा है—**"एहि गुरु का रुप हय याने सूर्य—इह प्रत्यक्ष गुरु याने महादेव।"** यह आत्म सूर्य ही गुरु का रूप है यही प्रत्यक्ष गुरु है अर्थात् महादेव है। महादेव ही आदि गुरु हैं। योगिराज की भी वही आदि गुरु अवस्था होने पर उन्होंने लिखा—**हामेसा कुम्भक महादेव का योग स्वरुप भया सिर हामेसा भारि आँख उपर ताना हुआ खिचने से जलदि**

१—गीता :-११।२८

नहि टुटता, नहि बोलने से बड़ा फयदा।" देवाधिदेव महादेव जिस प्रकार हमेशा ध्यानमग्न रहते हैं उसी प्रकार योगिराज ने भी हमेशा केवल-कुम्भक की अवस्था प्राप्त की और महादेव की तरह ही ध्यानस्थ हो गए। मस्तक में हमेशा भारीपन रहता। शिवनेत्र की तरह दोनों आँखें इस प्रकार ऊपर की ओर चढ़ी रहतीं कि खींचकर उतारने से भी नहीं उतरतीं।[१] इस अवस्था में वाणी रहित होने के कारण बोलने की इच्छा नहीं इसलिये बात न करने में ही लाभ है। इसीलिये उन्होंने फिर लिखा – **"मौन होना अच्छा मालुम होता हय।"** इस अवस्था में बात करने की इच्छा नहीं; जहाँ इच्छा ही नहीं वहाँ बात करेगा कौन ? इसीलिए वे मौन हो गये हैं। और सभी भक्तों को उपदेश देते समय इसी अवस्था को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए कहा करते—**"एक ओक्त हर रोज यत्ता सके एक आसन बइठे।"** अर्थात् प्रतिदिन कम से कम जितना हो सके एक बार एक आसन पर बैठकर क्रिया करो, ऐसा होने से ही सब प्राप्त होगा। योगिराज और भी कहा करते थे कि यदि कोई इस जन्म में ही मुक्तावस्था प्राप्त करना चाहता है तो फिर आन्तरिकता, श्रद्धा एवं दृढ़ता के साथ क्रियायोग करने पर ही वह सम्भव है।

● ● ●

योगिराज ने अपने द्वारा प्रदर्शित प्राणायाम को तीन भागों में विभाजित किया हैं—अधम, मध्यम एवं उत्तम। प्रारम्भिक अवस्था में अनाभ्यास के कारण साधक का अधम प्राणायाम होता है। इस समय अत्यधिक पसीना निकलता है उसके बाद और भी अभ्यास

१—यहाँ उल्लेखनीय है योगी-चक्षु के सम्बन्ध में स्वामी रामकृष्णदेश परमहंस ने मास्टर महाशय से कहा—"योगी का मन हमेशा ईश्वर में लीन रहता है, सर्बदा ही आत्मस्थ रहता है। विस्फारित नेत्र देखने से ही समझ में आता हैं। जिस प्रकार पक्षी अंडा सेता है- पूरा मन उस अंडे की ओर ही केन्द्रित रहता है। नाममात्र के लिए ऊपर रहता है। अच्छा क्या मुझे वह चित्र दिखा सकते हो ? उत्तर में मास्टर महाशय ने कहा—"जो आदेश—चेष्टा करूँगा—यदि कहीं भी मिल जाए।" श्री श्री रामकृष्ण कथामृत: तीसरा भाग-खण्ड-दो।

करते रहने से मध्यम प्राणायाम होता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**चमक उठे बिच मे ठेला दिया उसिसे शरीर काँपा—इसिको मध्यम प्राणायाम कहते हय।''**

अर्थात् शरीर बीच-बीच में चौंक-चौंक उठता है और भीतर से धक्का मारता है उसी से शरीर काँप उठता है, हिलता रहता है। जब प्राणायाम करते-करते ऐसा होता है तब उसे मध्यम प्राणायाम कहते हैं। इसके पश्चात जब उत्तम प्राणायाम होता है तब शरीर हल्का होने से ऊपर उठ जाता है। इस उत्तम प्राणायाम में शि शि शब्द निकलता है उसी को ही प्रणवध्वनि कहते हैं इसीलिए उन्होंने लिखा है—**''शि शब्द जोर से निकमा।''** शि की आवाज ज़ोर से बाहर आई। इस उत्तम प्राणायाम के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—**''येत्ता रेचक का आसल वासुवलि या वासुलिका आवाज होता हय ओत्ता पूरक का आवाज नहि होता हय—जो कि सून्य रूप ओहि असल ब्रह्म का रूप—आब आउर मजा—जिभ आउर चढ़ा जाता हय—शब्द के सुरत में लय लगाने से कर्म भ्रम सब जाता हय।** प्रचलित साधारण प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन कर्म हैं किन्तु राजयोग के अन्तर्गत अथवा योगिराज द्वारा प्रदर्शित प्राणायाम में केवल मात्र रेचक और पूरक ये दो कर्म हैं चेष्टा द्वारा कुम्भक की आवश्यकता नहीं है।—अन्तर्मुखी भाव से रेचक और पूरक ये दो कर्म करते रहने से कुम्भक अपने आप ही होगा। सभी नाक द्वारा श्वास लेते और छोड़ते हैं यदि किसी कारण से नाक बन्द हो जाय तो मुँह से लिया करते हैं। इसी कारण से ही नाक द्वारा श्वास खींचना-छोड़ना अथवा पूरक-रेचक एवं कुछ क्षण रोककर कुम्भक करने की विधि प्रचलित है। किन्तु राजयोग के अन्तर्गत या योगिराज द्वारा प्रदर्शित इस प्राणायाम में नाक या मुँह द्वारा श्वास लेने और छोड़ने जैसा कर्म नहीं है। अर्थात बाहर की वायु द्वारा इड़ा और पिंगला के माध्यम से या दोनों नाक से श्वास लेने और छोड़ने का कर्म नहीं है। यह पूर्णतः आभ्यन्तरमुखी है। भीतर के प्राण एवं अपान द्वारा ही यह कार्य होता है। इड़ा और पिंगला ही जीव को जगत के प्रति आकृष्ट करती हैं। इसीलिए इड़ा और पिंगला को प्रारम्भ में ही परित्याग करके सुषुम्ना के अन्तर्गत गतिसम्पन्न इस प्राणायाम की प्रमुखता है। यह अत्यन्त आरामदायक और सम्पूर्ण गुरुमुखी विद्या है। इससे किसी प्रकार की हानि या अनिष्ट की सम्भावना नहीं है। इसीलिए योगिराज कहते हैं कि अन्तर्मुखी भाव से उत्तम प्राणायाम के काल में रेचक करते समय जिस प्रकार सुन्दर बाँसुरी जैसा शब्द या स्वर निकलता है पूरक के

Scanned by CamScanner

समय उस प्रकार नहीं निकलता। जो शून्य का रूप है वही असल ब्रह्म का रूप है—अब और भी मजा या आनन्द प्राप्त हो रहा है। जीभ और अधिक ऊपर उठती जा रही है। इस अन्तर्मुखी प्राणायाम के रेचककाल में शिं शिं शब्द रूपी प्रणव ध्वनि जो निकलती है उसमें मन का लय कर पाने से ही सभी प्रकार का कर्म भ्रम दूर हो जाता है। इस उत्तम प्राणायाम के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति और उपलब्धि के सम्बन्ध में १८७१ ई० से १८७३ ई० तक विभिन्न दिनों में विभिन्न प्रकार से लिखा है—"**क्रिया करते-करते आप उठ खड़ा हुए—फिर होस करके बइठे छोड़ा स्वासा को।**" अर्थात् क्रिया करते-करते अचानक अपने आप ही उठकर खड़ा हो गया। होश आने पर फिर आसन पर बैठा और साँस को छोड़ा।—"**सिद्धासन में बैठके करते-करते उठ आसन से खड़ा हुआ।**" अर्थात् सिद्धासन में बैठकर क्रिया करते-करते अचानक आसन से उठकर खड़ा हो गया—"**एक बड़ा भारी पत्थर जिस प्रकार दस आदमी बलपूर्वक शून्य या आकाश की ओर उठाते हैं उसी प्रकार शरीर वायु के जोर से उठता है किन्तु पृथिवी या मूलाधार नहीं छोड़ा जाता वैसे ही योगी के मूलाधार में किंचित शरीर का पिछला हिस्सा या पाँव लगा रहता है। जब सारा वायु शून्य में मिल जाता है तब शून्य के द्वारा सर्वत्र जा सकता है मन द्वारा मन सर्वत्र बैठे-बैठे यदि जा पाए तो वह सर्व व्यापी होता है उसके बाद सब कुछ जान सकता है; अन्त में सर्व ब्रह्ममय जगत होने से सर्वज्ञता की स्थिति होती है। इसके पश्चात इस प्रकार आत्म चिन्तन करते-करते तद्गत चित्त होने से मनन होता है इस प्रकार मनन करते-करते अल्प मात्रा में मन का लय होने से ध्यान होता है इस प्रकार ध्यान करते-करते समाधि-ज्ञान होता है इस प्रकार वृहत ज्ञान होने से पवित्र एवं भाव प्राप्त होता है।**"

फिर लिखा है—"**बड़ा मजा-बदन जरा हलका।**" यानी इस प्रकार उत्तम प्राणायाम करते-करते बड़ा ही मजा आया। शरीर कुछ हल्का हुआ। "आज हवा से शरीर को ढकेल दिया।" प्राणायाम करते-करते वायु स्थिर होने पर भीतर से शरीर में धक्का दिया।

२ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा है—"**शरीर बहुत ढिला हो गया।**" अर्थात् उत्तम प्राणकर्म करते-करते शरीर शिथिल अथवा ढीला हो गया। इस अवस्था में वायु स्थिर होने से शरीर की समस्त गाँठे, माँसपेशियाँ कर्महीन अथवा अक्रिय हो जाती हैं उसके बाद धीरे-धीरे देहबोध समाप्त हो जाता है। इसीलिए उन्होंने फिर लिखा—**पिसाब ना होके उठके टपाटप आप से आप गिरने लगा।**" अर्थात् दीर्घ समय तक क्रिया में रत रहने से पेशाब नहीं किया, किन्तु शरीर इस प्रकार ढीला

हो गया कि खड़े होते ही अपने आप पेशाब निकला जा रहा है। **"मभुक माफिक सूर्य के तरफ ओंकार रूप देखने से निचे का पयेर तीन चार दफे उठ खड़ा होता हय ठिक मभुके माफिक सरिर समेत ३-४ दफे आगे कुदता हय आप से आप वायु के गति से इह सब प्रेमकि लक्षण।"** अर्थात् मेढक की तरह स्थिति हो गई। इस अवस्था में आत्मसूर्य की ओर ओंकार रूप देखते-देखते नीचे की ओर दोनों पैरों के साथ तीन-चार बार उठकर खड़ा होना पड़ा एवं उस अवस्था में मेढक की तरह सशरीर अर्थात् इस देह के साथ तीन-चार बार अपने आप उछल पड़ा। प्राणायाम करते-करते वायु स्थिर होने से ही ऐसा होता है। यह प्रेम का लक्षण है। **"आज जमीन से चलते ओक्त पएर उठे लगा।"** अर्थात् आज चलते समय पाँव जमीन से उठने लगा। **"आज सूर्य देखते ओक्त पएर जमिन से उठने लगा।"** अर्थात् आत्म सूर्य को देखते समय पाँव जमीन से उठने लगा। **"कोई हात पकड़के उठाता हय—आख से एहि ब्रह्मस्वरूप नजर पड़ाता हेय—उचेपर उठने का तबियत करता हय उचे का हावा से डर मालुम होता हय—बड़ा आनन्द।"** अर्थात् खुली आँखों से शून्य स्वच्छ ब्रह्म का रूप दिखाई दे रहा है। प्राणायाम करते-करते शरीर के हल्का हो जाने से ऐसी अवस्था हुई कि शरीर शून्य में उठा जा रहा है। शरीर के भीतर ऊर्ध्व या ऊपर की वायु स्थिर होने से सामान्य भय हो रहा है और अत्यन्त आनन्द भी आ रहा है।

"इह मालुम होता हेय कि कुम्भक से बदन हालका होता हेय।" अर्थात् प्राणकर्म करते जब अपने आप ही कुम्भक हो गया तब समझा कि शरीर हलका हो गया। **"आव उपर खैंचके ले जाता हय।"**—इस प्रकार केवल कुम्भक की स्थिति प्राप्त होने से शरीर को खींचकर ऊपर की ओर ले जा रहा है। **"आज केवल भितर भितर से चला—आउर बड़ा मजा मालुम हुआ—आउर एयसा मालुम हुआ कि आसन लेके उठे जो ध्वनि आधिरात को सुनाता था सो ध्वनि अकसर सुनाता हय ओहि ध्वनि ओहि सून्य ओहि ब्रह्म।"** अर्थात् आज बाह्य प्रकृति के साथ सारे सम्पर्क तोड़कर केवल भीतर-भीतर चल रहा हूं और उससे बड़ा आनन्द आ रहा है और भी समझ आया कि अब आसन सहित ऊपर उठा जा रहा हूं जो ओंकार ध्वनि आधीरात को सुन रहा था वह अब हर समय सुनाई पड़ रही है। वह ध्वनि ही महाशून्य है और फिर वही ब्रह्म है। **"पद्मासन सामने का उठा।"** अर्थात् पद्मासन से बैठकर क्रिया करते-करते सामने का हिस्सा उठ गया। **"आसन आप से उठा"** अर्थात् आसन पर बैठकर जब क्रिया कर रहा हूं तब अपने से ही ऊपर उठ गया। **"तिलुआ का गुड़ खींचने या तानने से हलका होता है उसी**

प्रकार शरीर में सांस का खींचने-तानने से शरीर हलका होता है यह जिस प्रकार दूध क ऊपर तरता है उसी प्रकार शून्य पर शरीर रहता है कुछ दिन बाद अणु में मिल जाता हैं।" साधना करते-करते और भी आगे बढ़कर उन्होंने १३ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा—**"एक तरह का भारि नसा जिसमें बेखबर हो जाने पड़ता हय।"**—इस प्रकार का एक ऐसा गहरा नशा हुआ जिसमें अपने अस्तित्व को खो देना पड़ा अर्थात इन्द्रियों सहित सभी प्रकार का देहबोध लुप्त हो गया—मन बुद्धि अहंकार सभी खो गए। क्योंकि मन, बुद्धि और चित्त ही देखते हैं ये जब नहीं रहे तब कौन किसे देखेगा? कौन किसकी खबर लेगा? यह मन जितनी देर तक चंचल है उतनी देर तक ही भिन्नता दीखती है; किन्तु जब स्थिर हो जाता है तब कुछ भी नहीं। इस प्रकार का नशा योगी को मत्त कर देता है। इस नशे के सम्बन्ध में उन्होंने और भी लिखा है—

"खावा भुले जेते देखिने
एमन प्रेम तो कै देखिने।
नेशार उपर नेशा धरे
दुःख सुख जेखाने हरे।
एमन नेशार बलिहारि
थेको तुमि एइ नेशा धरि।

इस गहरे नशे को ही योगी प्रकृत प्रेम कहते हैं। बाह्य प्रेम दिखावटी प्रेम हैं, प्रेम नहीं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—**जिसका जैसा मन वह वसा देखता है।** इस मन या इच्छा के सम्बन्ध में उन्होंने ६ मार्च १८७३ ई० को लिखा है—**"वपु हृदय के कहते हँय—याने छाति के आगे जो माँस हय—इहँ से इच्छा उत्पत्ति होता हय तब लड़का पयदा होता हय— जब इच्छारहित हो जाय तब आपहि ब्रह्म हो जाय; सूर्य ब्रह्म ओहि मालिक।"** अर्थात् वपु या शरीर हृदय को ही कहते हैं अर्थात छाती के आगे जो मांस है। इसी जगह से ही इच्छा की उत्पत्ति होती है। इच्छा से ही सन्तान का जन्म होता है क्योंकि इच्छा के विना स्त्री संभोग होता नहीं; किन्तु क्रिया करते-करते वायु के स्थिरत्व की अवस्था में इच्छातीत स्थिति की प्राप्ति होती है अर्थात क्रिया की परअवस्था प्राप्त होने पर स्वयं ही ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्म सूर्य ही ब्रह्म है, वही मालिक है। श्वास रहित होने पर इच्छारहित स्थिति होती है। **"हंस ओंकार सो मन होइ—फिर स्वासा रहित हो जाय तब मन स्थिर होय अर्थात् क्षर-अक्षर ओ निअक्षर का दुवधा जाय—मूल अर्थात् स्वासा शिरपर चढ़ाकर डालपाति सब देखे।"** अर्थात जो हंस

रूपी ओंकार है वही मन है अर्थात मन ही ब्रह्म है। इस मन के स्थिर होने पर ही वह ब्रह्म है और चंचल होने पर मन। प्राणक्रिया एवं ओंकार क्रिया करते-करते जब श्वास रहित या उसकी बाहरी गति रुक कर 'केवल कुम्भक' की अवस्था होती है तब मन भी स्थिर हो जाता है। उस समय क्षर, अक्षर निरक्षर सभी प्रकार का संशय दूर होता है; और तब द्वैत भी नहीं, अद्वैत भी नहीं, क्योंकि जहाँ मन नहीं है वहां द्वैत अद्वैत कहने वाला कोई नहीं—सब महाशून्य रूपी ब्रह्म में लय हो जाता है। यह अवस्था जिसे प्राप्त होती है वही समझता है; किन्तु जानता नहीं; क्योंकि जानने से ही द्वैत। श्वास ही मूल है; क्योंकि श्वास को प्राण-कर्म एवं ओंकार क्रिया द्वारा मस्तक के ऊपर सहस्रार में उठाकर नीचे की ओर डाल-पत्ते देखो अर्थात मूल स्थिर प्राण वहाँ पहुँचने से पहले जब चंचल प्राण में स्थिर था और उस चचंल प्राण में स्थिर रहने के कारण समस्त इन्द्रिय समूह अंग-प्रत्यंग सक्रिय थे, कर्मक्षम थे तथा जिनके माध्यम से जगत संसार को देखते वे सब कर्मविहीन अथवा निष्क्रिय हो गए हैं; उनकी उस स्थिति को देखो। वे ही डाल-पत्ते हैं। जिस प्रकार कोई अत्यन्त गरीब व्यक्ति अचानक किसी प्रकार धनी हो जाए और आलीशान महल में रहकर दूर से गरीबों को देखे जो कि उसकी पहले की अवस्था में हैं। योगियों की इसी अवस्था के प्रति लक्ष्य करते हुए श्री कृष्ण भगवान कहते हैं—

> **"ऊर्ध्वमूलमधशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
> **छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥**
>
> गीता : १५।१

देखा जाता है कि वृक्षों की शाखायें ऊपर होती हैं और मूल या जड़ नीचे। किन्तु उपरोक्त श्लोक में भगवान ने कहा है ऊपर मूल है और नीचे शाखा। इस प्रकार का उल्टा वृक्ष कहीं दीखता नहीं; किन्तु जब श्री कृष्ण ने कहा है तब निश्चय ही वृक्ष है जो योगियों द्वारा ही बोधगम्य है। आज्ञाचक्र के ऊपर जिसकी मूलवस्तु परमात्मा तत्व है और नीचे हाथ-पाँव आदि तथा इन्द्रिय आदि का विशिष्ट कलेवर रूप शाखा आदि है, वही अश्वत्थ का प्रतीक है यही बात इस श्लोक में कही गई है। अश्वत्थ अर्थात अस्थायी जो आज है कल नहीं ऐसी देह ही अश्वत्थ का प्रतीक है। इस वृक्ष के मूल से अर्थात आज्ञाचक्र से सहस्रार तक जहाँ स्थिर प्राणरूप ब्रह्म की अवस्थिति है वहाँ से चंचल प्राण आदि वायु सबकी कार्यशक्ति द्वारा नीचे स्थित शाखा के रूप में हाथ-पाँव इन्द्रिय आदि का कार्य फैला हुआ है। फिर नीचे से विभिन्न नाड़ियां अथवा ज्ञान-तन्तु ऊपर की ओर गए हैं। वेदत्रयी इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस

प्रकार इस देह रूपी अश्वत्थ वृक्ष के तत्त्व ज्ञान-रूप देहतत्त्व को जो जानते हैं उन्हें ही वेदवित् कहते हैं। इसीलिए योगिराज ने कहा है कि श्वास को मूल में अर्थात् मस्तक में ले जाकर रोक दो और उसी अवस्था में स्थित रहकर नीचे की ओर अंग-प्रत्यंग एवं इन्द्रियादि रूपी डाल और पत्ते को देखो तभी जगत का भ्रम दूर होकर ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होगी। **"श्वास रहित याने केवल कुम्भक रात दिन मन ले आवे आउर आपनेहिको आप देखे—इसिका नाम ब्रह्मज्ञान।"** अर्थात् श्वासरहित अवस्था में ही केवल कुम्भक होता है जो प्राणायाम करते-करते अपने आप होता है। इस प्रकार मन को हमेशा ऊर्ध्व में स्थित रखोगे और तब स्वयं ही स्वयं को देखोगे। इसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। योगिराज ने फिर लिखा है—

हलोना, हलोना, हलोना
पेछन फिरे हबे केमन करे
ता बलना, बलना, बलना।
त्रिकोणेर मध्ये मन पोर
उपरे चड़े डाइने हइते बाँदिक फेरना
जड़िए धरे मन लिंगेर भितर योनि
टेने धरे ठेला मध्ये मध्ये देना।
एक हले जे मजा से मुखे बला जायना;
योनि लिंग एक हले एकि मजा मन बइ
अन्य केह जाने ना। कोथाय लिंग
कोथाय योनि केमने मिलन हय बलना।

इसका तात्पर्य यह है कि योगीगण ओंकार क्रिया के माध्यम से कूटस्थ के भीतर एक त्रिकोण का दर्शन करते हैं। वह त्रिकोण ही योग की भाषा में ब्रह्मयोनि है। वहीं से सभी कुछ उत्पन्न होता है। उसके भीतर मन का प्रवेश कराना होगा—मन ही लिंग है। लिंग रूप मन के प्रविष्ट होने पर एक विन्दु अर्थात् ब्रह्माणु का दर्शन होता है—वही बीज स्वरूप विश्वब्रह्माण्ड का उत्पत्ति-स्थान है। वही भगवान है। भग का अर्थ है योनि अर्थात् कूटस्थ और वान का अर्थ है शर अथवा श्वास। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से प्राणकर्म करते-करते मन स्थिर होकर कूटस्थरूपी योनि के भीतर जब लिंग रूप में प्रवेश करता है तब जिस स्थिरावस्था का उदय होता है उसे ही भगवान कहते हैं। कूटस्थ ही योनि है और मन ही लिंग है। इसी का प्रतीक शिवलिंग है। इसीलिए उन्होंने फिर बतलाया कि—**"भगवत याने भग के माफिक अर्थात् जब जिभ नाक के भितर तालुमूल में जाय।"** अर्थात्

जीभ जब ऊपर उठकर नाक के भीतर तालुमूल में 'प्रवेश करती है तव संगम जैसा आनन्द होता है उसे ही भगवत् कहते हैं। इस सम्बन्ध में गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

गीता १४।३।४

अर्थात् हे भारत! मेरी जो महान सर्व ब्रह्ममय जगत व्यापी प्रकृति स्वरूप अवस्था है वही महद्ब्रह्म है और वही मेरा योनि स्वरूप है; क्योंकि उसी अवस्था से ही सब कुछ की उत्पत्ति हो रही है। विश्व-विस्तार के हेतु-स्वरूप चिदाभास से ही क्षेपण करता हूं अर्थात् वहीं से गतिशील होकर नाना प्रकार की मूर्त्तियों या पिण्डों में अभिव्यक्त हो रहा हूं। प्राणरूपी आत्मा का वह महान ब्रह्ममय भाव प्राणकर्म रूप साधना के द्वारा आज्ञाचक्र स्थित कूटस्थ के भीतर मन की स्थिति होने पर प्राप्त होता है। उस महान वृहत कूटस्थ के भीतर जो त्रिकोण है वही महद्-ब्रह्म का योनिस्थान है अर्थात् वही ब्रह्मयोनि है। कूटस्थ के उसी स्थान से अजपा की गति का विस्तार होता रहता है। प्राणरूपी आत्मा उस त्रिकोण के भीतर अणु के रूप में या विन्दु के रूप में स्थित रहने के पश्चात विन्दु के विस्तार रूप में अवयव विशिष्ट होता है।

इस प्रकार उस महदब्रह्म रूपी योनि से समस्त भूत या पदाथ की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनेकों योनियों से जो कुछ उत्पन्न हो रहा है उसकी उत्पत्ति का मूल वही महद्ब्रह्म है अर्थात् उसी अवस्था में गतिशील होकर नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार की मूर्तियों या पिण्डों की उत्पत्ति हो रही है और उनमें वही कर्त्ता के रूप में विद्यमान है। छोटी-छोटी अनेक योनियों से जो कुछ हो रहा है वे सब योनियाँ विभक्त है; किन्तु अविभाजित रूप में ब्रह्म ही महद्योनि है; इस कारण ब्रह्म ही मातृस्थानीय है और पिता मैं ही हूं क्योंकि उक्त त्रिकोण के भीतर जो सूक्ष्मतम अणुस्वरूप या विन्दु रूप है वह मैं ही हूं; इस प्रकार मैं ही स्वयं में स्वयं रहता हूं। और फिर उस विन्दु के विस्तारित होने पर कूटस्थ के रूपान्तर स्वरूप नाना प्रकार की मूर्ति व्यक्त करता हूँ। इस प्रकार पितारूपी मैं ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता हूं। पिता का ही रूपान्तर पुत्र है। इसलिए मैं ही गर्भाधानकर्त्ता पिता हूं। योगिराज ने पुनः लिखा है—"**त्रिकोण तेज रूपकि बलिहारि जाइ।**" अर्थात् त्रिकोण अथवा उस महद्ब्रह्म रूपी योनि के तेज की बलिहारी। अर्थात् उसकी

तेजस्विता कितनी अद्‌भुत एव चमत्कारपूर्ण है। उन्होंने फिर लिखा है **"ज्योतिर्मय योनि देखा।"** अर्थात् ज्योतिर्मय योनि देखा। **ज्योतिर्मय योनि रक्तवर्ण काम बीज देखा** अर्थात् ज्योतिर्मय योनि अथवा रक्तवर्ण कामबीज देखा। फिर कभी लिखा है—**"भगवती का योनि महादेव का लिंग देखा।"** अर्थात् भगवती की योनि एवं महादेव का लिंग देखा.. और कभी लिखा है—**"एक बड़ा छोटा सरसो के माफिक विन्दि ओहि बड़ा दिपक के माफिक हुआ फिर एक छोटा नक्षत्र के माफिक हुआ। इह विन्दिहि असल हय—एहि सब खेल देखलाता हय।"** उस त्रिकोण के भीतर एक अत्यन्त छोटे सरसों के दाने जैसा विन्दु वही बड़े दीपक जैसा हो गया फिर नक्षत्र जैसा प्रकाशमान देखा। वह विन्दु ही असल है वही जन्म-मृत्यु इत्यादि सारे खेल दिखला रहा है। फिर योगिराज ने एक दिन और लिखा है—**"ज्योतिर्मय लिंग देखा—एहि महादेव का लिंग आउर किसुनजिका ऊर्धपुच्छ।"** अर्थात् ज्योतिर्मय लिंग को देखा; वही महादेव का लिंग और वही श्रीकृष्ण का ऊर्ध्वपुच्छ है। बाह्य रूप में इसी का प्रतीक ऊर्ध्वपुण्ड्र है जिसे चन्दन आदि द्वारा ललाट पर रचाया जाता है। फिर लिखा है—**"ऊर्ध्वपुण्ड्र विश्वनाथ का लिंग देखा।"** अर्थात् ऊर्ध्वपुण्ड्र रूपी विश्वनाथ का लिंग देखा। एक त्रिकोण और एक ज्योतिर्मय लिंग आँक कर उसके बगल में लिखा है—**"ॐ त्रिकोण—ज्योतिरूप लालडोरा सुषुम्ना का किनारे मेहिन देखा—पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा फिर सून्य में समाय गया बड़ा मजा रोकने से छचक्र ज्योत के भितर देखलाता हय। अपूर्व ज्योति रूप प्रणाम करिते देखाय सर्पाकार ज्योतिरूप लिगेर उपर देखाय।"** अर्थात् ओंकाररूपी जो त्रिकोण है, वहाँ सुषुम्ना के किनारे ज्योतिरूप महीन लाल डोरा देखा। पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा, फिर वह महाशून्य में विलीन हो गया; उसकी गति थम जाने पर बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है। उसी ज्योति के भीतर सुषुम्ना के षटचक्र दिखाई देते हैं। वह अपूर्व ज्योतिरूप प्रणाम करते समय दिखाई देती है और फिर सर्पाकार ज्योतिरूप लिंग के ऊपर दिखाई पड़ती है। **"एक सुन्दरी कामवीज देखा।"** **"योनिरूपा आद्या-शक्ति देखा।"** **"चारवेद ओ ब्रह्मा विष्णु महेश विराजमान योनि के भितर देखा।"**—अर्थात् वह जो महद्‌ब्रह्म रूपी, मातृयोनिरूपा आदि शक्ति त्रिकोण है उसके भीतर चारों वेद और ब्रह्मा, विष्णु महेश को विराजमान देखा। सत्वगुण की अधिकता के कारण देवता आदि सभी दिखाई देते हैं। यहीं अन्त नहीं है और भी आगे जाना होगा। गुणातीत स्थिति में जाना होगा। सत्वगुण भी तो गुण है। योनि-लिंग को एक करना होगा; किन्तु कैसे? इस विषय में योगिराज कहते हैं—"अर्जुन

मत्सभेद वान मारना चाहिए प्राणायाम से ब्रह्मज्ञान होता हय तिसके बाद ओंकार—ओंकार सो राम हय साधो करो विचार—पहले शि एयसा आओज भितर से होय, पिछे ॐ इसिसे सोहं कहाता हय—परमहंस कहे—उसके बाद ओंकार इह अगाध मत—याने समाधि हय—पवन को सुरत मे मन लगा के बुरा भला सब मालुम हो जाय—इसिके अनुभव कहते हय।" अर्जुन के मत्स्यवेधी वाण मारने जैसे निर्दिष्ट लक्ष्य के साथ उत्तम प्राणायाम करना होगा, उत्तम प्राणायाम करने से ही ब्रह्मज्ञान होता है। इसके बाद ओंकार क्रिया—वह ओंकार ही राम है साधो यह विचार कर देखो। उत्तम प्राणायाम करने से भीतर से 'शि शि' इस प्रकार की ध्वनि (चाभी में फूँक मारने पर जो आवाज़ होती है) निकलती है उसे ही प्रणवध्वनि कहते हैं? इस प्रकार करते-करते उस प्रणवध्वनि के साथ एकीभूत या मिलने से ही 'सोहं' अवस्था प्राप्त होती है उसे ही परमहंस कहते हैं। इसके पश्चात् ओंकार अर्थात् निर्विकल्प समाधि जहाँ कोई विकल्प या कल्पना नहीं-इस स्थिति में सबकी गति एवं मति एक हो जाती है क्योंकि वहाँ द्वैत का कोई संकेत ही नहीं। इस प्रकार वायु-क्रिया करते रहने से अर्थात् उत्तम प्राणायाम करते रहने से संसार की सारवान और सार हीन वस्तुओं अथवा भले-बुरे सब का ज्ञान होता है। इसे ही अनुभव कहते हैं। इसी अनुभव के प्रकाश में योगिराज ने गाया है—

मन आयना मनेते देख।
चाँद वदनि चखेते॥
लागा मन ओंकारेते।
पाबे मजा कत से ध्वनिते॥
मन जासने मन ज़ासने जासनेरे कोथा।
मन दियें मन के देखले हबे सकल वृथा॥
इन्द्रिर कर्म इन्द्रि करे;
मन केन कँदे मरे;
आछाड़ खेये पड़े मरे,
मध्ये मध्ये नकल करे।

अर्थात् मन के दरपन में मन को देखो, चाँद जैसे स्वच्छ चक्षुओं से। मन को ओंकार में लगाओ, ओंकार ध्वनि में कितना आनन्द प्राप्त होगा—उसमें मन लगाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। चंचल मन का यह धर्म ही है कि वह जिस वस्तु को देखेगा उसी की नकल करेगा। इस प्रकार वह इधर-उधर गिरता-पड़ता और भटकता रहता है; किन्तु जब वह स्थिर हो जाता है तब कहीं कुछ नहीं। इस मन का उत्पत्ति स्थान अथवा मूलकेन्द्र कहाँ है? इस सम्बन्ध में योगिराज कहते हैं—**"ध्वनि**

क अन्तरगत ज्योत जो ज्योतिकि सूर्य से आता हय—उसक भितर मन हय—ओहिंमन में लय होना विष्णु का जो पद हय—इसिमें स्वासा समाय जाता हय।" अर्थात् ध्वनि के भीतर जो ज्योति है वह आत्मसूर्य से आ रही है उसके भीतर मन का अवस्थान हैं; वही स्थिर मन है उस मन में लय होने पर जिसे विष्णुपद कहते हैं—यानी विष्णुपद में श्वास मिल जाता है अर्थात् स्थिर मन को ही विष्णुपद कहते हैं। वहीं से श्वास की उत्पत्ति और लय का क्रम है। योगिराज ने पुनः लिखा है—**"ज्योत के बाद मन निराकार रूप। निर्मल रूप मे मन को लय करना चाहिए।"** अर्थात् निर्मल आत्मज्योति के परे स्थिर मन की स्थिति है जो निराकार है। उसी निर्मल रूप में मन का लय करना चाहिए अर्थात् चंचलमन को स्थिर मन में विलीन करना होगा। **"मन में जो होता है वही शरीर में भी होता है मन का आवरण दूर होने से शरीर का आवरण क्रमशः या धीरे-धीरे दूर होगा।"** इसलिए उन्होंने गाया—

'ओंकार ध्वनिर शोनरे सुर।
जेखाने ज्योति प्रचुर॥
देख देख सुरेर भितर कत सुर
मन सदा ताइते पूर।
अभ्यासे ते हबे सबुर
दर्शन हबे महाप्रभुर।
धर धर टेने सुर
काट सब दिए वै क्षुर।

● ● ●

मन बारे बारे जप सदा तारे
जे जन अन्तरेरि अन्तर
सदा थाके अन्तरे
भाव विने भाव केमने हवे
चिन्तय सेइ ध्वनिरे।
जखन डाकबि तारे
विरलेते ध्यान धरे।
मन निए मन देतो सुरे
अद्भुत रूप देखो अन्तरे॥

● ● ●

कसे धरे टान टानो
केन सोनो भेन भेनानो
अमूल्य धन काली जेनो
हृदपद्मे बसे आछेन
चेष्टो करे धरना केनो
करे एकान्त मननो
दूध घि खाओना केनो
निर्जनेते टान टानो ।।

प्राणकर्म में जो शि शि का स्वर निकलता है वही क्षुर या छुरा है उसी छुरे से सब कुछ काटना होगा। तभी स्थिर होओगे और स्थिर होने पर ही त्रिगुणातीत अर्थात् सत्व, रज और तम से परे की अवस्था प्राप्त करके जन्म-मृत्यु के प्रवाह से परे चले जाओगे। इसीलिए वे इस बात पर अधिक जोर देकर कहते हैं—**"मन में कुछ नहि, ध्यान धरो सब कुछ हय।"** पुन: कहते हैं—**"धोका देना—याने मन जो खालि हय उस्का देके मनमे जो परमेश्वर का रूप हो जाना—इसिको बांगला में फाकि दिये नेया कहाता हय।"** अर्थात् धोखा देना या चंचल मन के द्वारा ही मन को फाँसा देकर मन को ही जय करना होगा अर्थात् स्थिर करना होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे काँटा से काँटा निकाला जाता है; किन्तु मन जब तक स्थिर नहीं होगा, चंचल रहेगा, तब तक कुछ भी ठीक नहीं रहेगा। **"जिसको बात का ठिकाना नहि उस्का वाप याने भगवान काभि ठिकाना नहि।"** तात्पर्य यह कि मन चंचल रहने से बात का भी कोई ठिकाना नहीं रहता, आज कुछ कल कुछ इस प्रकार के भाव उठते रहते हैं। अतएव मन जब तक चंचल रहेगा तब तक वह स्थिर स्वरूप ब्रह्म से अनेक दूर रहेगा। इस मन लगाने या देने के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में एक सुन्दर कथा है—गोपियाँ भगवान श्री कृष्ण के पास जाते समय उनके लिए कुछ उपहार ले जाना चाहती हैं। किन्तु उपहार स्वरूप क्या ले जाएँ? सब कुछ तो उन्हीं का है। उन्होंने सोचा कि उन्हें ऐसी वस्तु देनी होगी जो उनके पास नहीं है। अन्त में गोपियों ने निर्णय किया कि भगवान के पास तो सभी कुछ है, किन्तु मन नहीं है और हमारे पास तो भरपूर है। इसीलिए उन्होंने अपना मन पूर्णरूप से भगवान को दे दिया। अर्थात् भगवान के पास चंचल मन न रहने से मन नहीं है किन्तु वह गोपियों के पास है। उन्होंने अपने वर्तमान चंचल मन को प्राणकर्म द्वारा स्थिर करके मन में मन को रक्खा; चंचल मन को स्थिर किया अर्थात् वे 'मन्मना' हो गईं। यही भगवान को मन देने की साधना या प्रक्रिया है। **"भिस्म याने डर—**

जब तक सिरमे तिनबान अर्थात् इड़ा पिंगला ओ सुषुम्ना नहि मिला तब ताइ उह स्थिर नहि होत हय जोकि अग्नि याने तेज करके न मारे पिछे ओंकार ध्वनि कर्ण में सुनाता हय।'' अर्थात् भीष्म या भय—(साधना का भय) जब तक तीन बाण अथवा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना मस्तक के भीतर जाकर नहीं युक्त होंगी तब तक मन स्थिर नहीं होता है और वायु के स्थिर न होने तक भय बना रहता है अतएव शक्तिपूर्वक उत्तम प्राणकर्म करते रहने से अन्त में स्थिर होने पर ओंकार ध्वनि सुनोगे और उसी में मग्न होने से स्थिरत्वपद की प्राप्ति होगी। योगिराज गा उठते हैं—

शरीरेर धर्म शरीर कर
तुमि केन मर आमि आमि करे
यदि केह हइते तुमि ए संसारे
अखण्ड ब्रह्माण्ड जगत मय तुमि;
तोमा विना आछे के जगतेर स्वामि।
अमूल्य धन मन ताहाके बूझ तुमि,
सेइ कराय तोमाय जगतेर स्वामि।
आमि बले बेड़ाओ जगते तुमि
तोमा छाड़ा आछे के जगते प्रभु,
तन्निमित्त आपनाके आपनि देख सेइ प्रभु।
तबे पाइबे आनन्दमयीर आनन्द
तखनि तोमार हबे परमानन्द।
चिन्ता करो केन दिवानिशि मन
तोमा विना बन्धु नाहि अन्यजन॥

इसके पश्चात् योगिराज ने ४ जनवरी १८८३ ई० को लिखा है—**"सूर्यनारायण ओंकार का रूप देखा—शरीर बहुत हलका हुआ सफेद परदा आँखके सामने मालुम हुआ फिर सूर्य के भितर किसुन का रूप—ओहि जगतमय—सत्व रज, तम रूप—पाँच तत्व में मिला पदार्थ आउर सब तत्व उससे निकसा—याने निर्मल ब्रह्म।"** अर्थात् आत्मसूर्य नारायण रूपी ओंकार का रूप देखा। प्राणकर्म करते-करते शरीर खूब हल्का होने से आँख के सामने जो पर्दा है उसे समझा अर्थात् माया समझ में आई। फिर उस माया का आवरण हट जाने के बाद आत्मसूर्य के भीतर कृष्ण का रूप देखा वह पूर्ण विश्व में व्याप्त है, वही सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों का रूप है। सारे पदार्थ पांच तत्वों में विलीन हो गए और यह भी देखा कि वे पाँच तत्व भी उस आत्मसूर्य से आ रहे हैं जो निर्मल स्वच्छ ब्रह्म है। १९ अप्रैल १८७३ ई० को लिखते हैं—

"**आपनाहि स्वरूप नारायण का बेखा। एहि आपना रूप हय फिर एहि निराकार ओंकार हय। ओहि ओंकार आदि बेद हय।** अर्थात् अपने स्वरूप में नारायण को देखा यही अपना रूप है और फिर यही निराकार ओंकार है, वह निराकार ओंकार ही आदिवेद है। ३ जून १८७३ ई० को लिखते हैं—"**अब स्वरूप दर्शन हुआ—उह रूप त्रिकुटि के भितर हय—हंस उस्को कहे जब संसय जाय आउर सफेद देखे आउर सुद्ध भितर भितर आवे आउर जाय जो आज हुआ—बड़ा मजा।**" अर्थात् अब स्वरूप दर्शन हुआ, इस स्वरूप का दर्शन त्रिकुटी के भीतर होता है उसे ही 'हंस' कहते हैं उस समय सभी संशय दूर हो जाते हैं और सभी कुछ सफेद दिखाई देता है; क्योंकि सफेद किसी रंग के अन्तर्गत नहीं है। यही शुद्धावस्था है जो भीतर से बाहर गतिशील है; वही आज हुआ—इससे बड़ा ही मज़ा आया। १९ जून १८७३ ई० को लिखा है—"**कूटस्थ अक्षर नारायण के रूप हो जाता हय।**" अर्थात् कूटस्थ अक्षर नारायण का रूप हो जाता है। दूसरे दिन २० जून को लिखा है—"**आपना रूप से भिन्न रूप देख पड़ा। नारायण का रूप अन्तर दृष्टि में मालुम होता हय।**" अपने रूप या स्वरूप से भिन्न रूप देखा। नारायण का रूप अन्तदृष्टि में दिखाई देता है। ८ जुलाई १८७३ को लिखा है—"**एक श्वेत पुरुष आपने माफिक देखा।**" यानी अपने ही जैसे एक श्वेत पुरुष को देखा।

२८ जुलाई १८७३ ई० को लिखा है—"**आपना रूप देखा—नारायण का रूप हय—बड़ा मजा—अब काम करने में आसकत हुआ।**" अर्थात् अपना रूप देखा, वही नारायण का रूप है अब बड़ा मजा आया और काम करने में आलस्य का बोध हो रहा है और ऐसा महसूस होता है कि चुपचाप पड़ा रहूँ। इस अवधि में वे रात भर साधना करते ताकि नींद पर जय प्राप्त कर सकें इसी की चेष्टा करते हुए दीखते हैं उन्होंने ११ अगस्त १८७३ को लिखा—"**आज वाँसुलिका आवाज अच्छा हुआ सून्य भवन मिल रहना चाहिए—रात का सोना कइसे न हो—इसका कोसिस करेंगे। नेसा आउर गाढ़ा ओ सून्य आउर साफ।**" तात्पर्य यह है कि उत्तम प्राणायाम करने से वाँसुरी के स्वर जैसी जो आवाज होती है वह आज खूब अच्छी रही; उसे ही प्रणव-ध्वनि कहते हैं इसी प्रणव ध्वनि को पकड़कर शब्दातीत महाशून्य (ब्रह्म) में पहुँच गया। उसी से युक्त होकर रहना होगा लय हो जाना होगा। किन्तु उस लय की स्थिति को प्राप्त करने के लिए जिस लम्बी साधना की आवश्यकता है वह सांसारिक झमेलों के बीच सम्भव नहीं। इसलिए रातभर साधना करनी होगी और सारी रात साधना करने के लिए नींद को जीतना ही

होगा। अब उसी की ही चेष्टा कर रहा हूं। अब क्रिया का नशा और भी गहरा हो गया एवं शून्य ब्रह्म और साफ-निर्मल हो गया। १४ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**अब रात में निद कम आता हय बड़ा स्थिर बड़ा नेसा।**" अब रात में नींद कम आ रही है, क्रिया करते-करते अत्यन्त स्थिर भाव एवं नशे का बोध हो रहा है। ७ अक्टूबर १८७३ ई० को लिखा—"**रात को निद न आवे।**" अब रात में नींद नहीं आ रही है यानी पूरी तरह नींद को जीत लिया है इसलिए अब रातभर क्रिया करने में कोई असुविधा नहीं। प्राण की चंचलता या अस्थिरता के कारण ही देहबोध वर्तमान रहता है इसलिए नींद की भी जरूरत होती है; किन्तु प्राणकर्म करते-करते जब प्राण स्थिर हो जाता है तब फिर नींद की कोई प्रयोजनीयता नहीं। योगी इस प्रकार लम्बे समय तक समाधिस्थ होकर रहने के अभ्यस्त होते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें ऑक्सीजन (Oxygen) की भी जरूरत नहीं पड़ती। सभी प्राणी आक्सीजन ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइआक्साइड (Carbon dioxide) छोड़ते रहते हैं। इस प्रकार ऑक्सीजन ग्रहण करने से शरीर का प्रत्येक कोष सक्रिय रहता है और उनके कार्य को वर्तमान रखने के लिए कार्बन डाइआक्साइड को छोड़ना पड़ता है; किन्तु योगी जब योग क्रिया के द्वारा अपने शरीर स्थित प्रत्येक कोष को कार्य रहित करने में समर्थ हो जाते हैं तब वे आक्सीजन के बिना ही अवस्थान करते हैं और आक्सीजन नहीं ग्रहण करने से कार्बन डाइआक्साइड भी नहीं छोड़ना पड़ता। इस स्थिति में लम्वे समय तक कोषों के कार्यरहित होने पर उनके नष्ट होने की सम्भावना है; किन्तु वे नष्ट न ीं होते। योगी जब पुनः स्वाभाविक अवस्था में या जाग्रत अवस्था में वापस आ जाते हैं तब सारे कोषों के साथ हृत्पिंड फुस्फुस और मस्तिष्क में आक्सिजन ग्रहण करने की क्रिया आरम्भ होने से सभी कार्यक्षमं हो जाते हैं। बाहरी श्वास की गति शुरू हो जाती है—इसी को ही प्राण की चंचल अवस्था कहते हैं। इसी को लक्ष्य में रखते हुए रामप्रसाद ने गाया है—"जार घूम तारे दिए घूमेरे घूम पाड़ाएछि।" अर्थात् देह की चंचल अवस्था में ही नींद का प्रयोजन है; स्थिर अवस्था में नींद की कोई जरूरत नहीं। इसीलिए चंचल अवस्था में जो नींद है उसे चंचल अवस्था को ही लौटा कर वे स्थिरावस्था में चले गए यानी क्रिया की परावस्था में पहुंच गए, जहाँ नीद का कोई प्रयोजन ही नहीं।

योगिराज कहा करते थे—"**सभी धर्मों का गुप्त मर्म जिस महा-द्युतिवान कूटस्थ में निहित है, उसे जानना चाहिए। धर्म का अर्थ है क्रिया। सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में धीरे-धीरे क्रिया का ह्रास**

हो जाता है अर्थात् समाधि से विज्ञानपद, विज्ञानपद से ज्ञान और ज्ञान से क्रिया एवं कर्म। सत्ययुग में कूटस्थ में रहना, त्रेता में कूटस्थ देखना, द्वापर में क्रिया द्वारा आनन्द प्राप्त करना, कलियुग में क्रिया देना।" इसकी व्याख्या करते हुए कहते—"सत्य अर्थात् क्रिया की पर अवस्था, त्रेता अर्थात् क्रिया की परावस्था के बाद, द्वापर अर्थात् क्रिया करने का समय एवं कलि अर्थात् क्रिया न करने की अवस्था।" इस प्रकार चारों युग को इस देह में ही जानना होगा। शास्त्र के गूढ़ रहस्य के सम्बन्ध में लिखा है—' वेद समुदाय धर्म का मूल है अर्थात् क्रिया के द्वारा सभी का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति अर्थात् बात-चीत के बिना जो सुना जाय; स्मृति अर्थात् सुनकर जिसे स्मरण में रखा जाय इसे ही मर्म कहा गया है। मनुष्य के भीतर यह स्थिर किया है कि क्रिया करके कीर्ति प्राप्त करेगा और इहलोक में मरने पर ब्रह्मलीन होकर परम सुख की प्राप्ति होगी।" पुनः कहा है—बात-चीत के बिना जो सुना जाय उसका नाम श्रुति है उसे जानने का नाम वेद है उसका स्मरण करके जो एक पदार्थ अर्थात् क्रिया है उसका नाम शास्त्र है। उस वेद की श्रुति, स्मृति-मीमांसा होने की कोई तरकीब नहीं क्योंकि हठात आ पड़ता है उसके द्वारा ही क्रिया करते-करते प्रकाशित होता है। वेद स्मृति सदाचार है अर्थात् क्रिया और आत्मा का प्रिय है अर्थात् स्थिर होना ये चार साक्षात धर्म हैं अर्थात् इनसे क्रिया का लक्षण जाना जाता है।" गुरु की वाणी पर विश्वास करके नाव से पार उतरने जैसी यह सहज क्रिया करते रहने से भवसागर रूपी वैतरणी को पार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में योगिराज ने ११ दिसम्बर १८७३ ई० की दिनलिपि में लिखा है—"ओंकार श्वेत रूप—ओहि जल का रूप ओहि आदि रूप —सहज स्वाभाव सून्य का—सहजगुरु वाक्य में विश्वास करने से सहज सहज क्रिया करे तो पार उतरे हय—जयसा कोई डूबता हय आउर कोई तैरने वाला का कमर इसारे से पकड़के दोनों तएर करके पार लगे आउर लगावे आउर आगर उह जोर करके पकड़े तो आप डूबे आउर बचाने वाले कोभि डुबावे वोएसेहि गुरुचेला—केंओंकि यो गुरु सोइ चेला।" ओंकार का रूप श्वेत है और जल का भी वही रूप है, यही आदि रूप है। महाशून्य में स्थिति होने से वही तब सहज स्वभाव अर्थात् आत्मभाव या स्वाभाविक अवस्था हो जाती है और प्राण की वर्तमान चंचल अवस्था उस समय अस्वाभाविक हो जाती है। गुरुवाक्य में पूर्णरूप से विश्वास करके इस सहज क्रिया के द्वारा जन्म-मृत्युशील इस भवसागर को पार किया जा सकता है। जिस प्रकार यदि कोई डूब रहा हो और कोई दूसरा उसे बचाने आये उस समय यदि वह उसकी कमर आहिस्ता

से पकड़ ले तो दोनों ही बाहर निकल आएँगे; किन्तु यदि वह बचाने वाले को जोर से पकड़ ले तो फिर स्वयं तो डूबेगा ही उसे भी ले डूबेगा। यही शर्त गुरु और शिष्य पर भी लागू होती है। गुरुशिष्य का सम्पर्क भी ऐसा ही है क्योंकि जो गुरु है वही शिष्य है। **"एक के आँख उठा बिमारि देखने से बहुत देर तक जयसा उस्का आछूत से उसकोभि आँख आता हय ओयसा कूटस्थ अक्षरको देखनेसेभि ओहि रूप हो जाता हय—इसमें सन्देह नहि।"** जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आँख आ जाने पर अगर कोई उसकी आँखों की ओर देर तक देखता रहे और छुआछूत के कारण जिस प्रकार उसकी भी आँख आ जाए उसी प्रकार प्रतिदिन क्रिया करके कूटस्थ अक्षर को देखते-देखते स्वयं भी वही रूप हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसीलिए उनके कंठ से गीत फूट पड़ता है—

> "हरिभजन विना नाइको गति,
> जिनि अगतिर परमगति;
> सेखाने गेले नाइ पुनरागमन
> इन्द्रिय सब हवे आपनि दमन।
> सुख सेखानकार के बलवे केमन।
> जार हयना कखन निधन,
> जे पेयेछे अमूल्य धन;
> अतुल सुखेर के करिवे वर्णन,
> भक्ति हले पावे चरण॥"

२४ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—**वासना छोड़ दे तो खुद वासुदेव होय। वासु=वासना, देव=मालिक**[1]**। जब वासना को छोड़े तो खुद मालिक होय—हमहि सूर्य का रूप।"** समस्त प्रकार की वासना को छोड़ देने से स्वयं वासुदेव होता है अर्थात मालिक होता है। प्राणकर्म करते-करते जब अपनी सत्ता विलीन हो जाती है तब सब कुछ आकाशवत् हो जाता है और स्वयं ही स्वयं का मालिक होता है क्योंकि वह स्वच्छ ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विराजमान, व्याप्त है; वही मालिक है—

> तुम कभि मत छोड़ो
> उह साँई को—
> जब तक न मिलावे
> आपको।"

३ मई १८७३ ई० को लिखा है—**"हमहि सूर्य का रूप निर्मल ज्योति—जब निर्मल ज्योति देखते हंय तब हम छोड़ाय दुसरा कोइ न देखते हय—**

१—देव=दिव् अर्थात् आकाश।

लेकिन अब निर्मल ज्योत मे समाना चाहिए।" अर्थात मैं ही आत्म सूर्य रूपी निर्मल, स्वच्छ ज्योति हूँ, जब वह निर्मल ज्योति देखता हूँ तब मेरे अतिरिक्त और कोई भी नहीं देखता; अब उस निर्मल आत्मज्योति में मिल जाना होगा; ज्योति एवं मुझे एक होना होगा; उसी में लय हो जाना होगा। दूसरे दिन लिखा है—"यो विन्दि सोइ सूर्य—अब घर उजियाला होता हय।" अर्थात्, कूटस्थ में जो ध्रुवतारा जैसा विन्दु दिखाई दे रहा है वही आत्मसूर्य है; इस आत्मसूर्य के दर्शन से सब कुछ परिष्कार हो रहा है। स्पष्ट दीख रहा है। दूसरे दिन ५ मई को लिखा है—"निर्मल ज्योति भगवान का हय—ज्योति आकाश के माफिक।" वह भगवान की निर्मल ज्योति हैं जो आकाश जैसी है। १२ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—आसमान के त्रिकुटि में अक्षर फिर उसिसे ज्योत रूप—उस्का बड़ा निर्मल रूप।" कूटस्थ के भीतर जो आकाशवत त्रिकुटी है वही परम अक्षर है, फिर उससे ही ज्योति रूप, जो अत्यन्त, स्वच्छ और निर्मल है। २८ अगस्त १८७३ ई० को लिखते हैं—"जिभ जब तालुमूल में लगता हय तब खट्टामिठा स्वाद मालुम होता हय—आउर गाढ़ा—अब बहुत स्थिर हय—आज प्राणायाम थोड़ा हुआ ओंकार का ध्वनि पिछे तरफ सुनाता हय।" अर्थात् जीभ जब ऊपर उठकर तालुमूल में प्रवेश करती है तब खट्टा-मीठा स्वाद मालूम होता है। आज और भी अधिक स्थिर रहा; और ओंकार ध्वनि मस्तक के पीछे की ओर सुनाई देती है। १२ नवम्बर १८७३ ई० को कूटस्थ के भीतर एक विन्दु आँककर उसके बगल में लिखा है—"एहि अगम स्थान हय इसिमे ठहरना चाहिए।" कूटस्थ के अन्तर्गत यह जो स्थिर विन्दु है वही अगम्य स्थान है, इस स्थिर विन्दु में रुकना होगा। तनिक भी मन चंचल होने पर वह विन्दु स्थिर नहीं होता। प्राणकर्म करते-करते जब सब कुछ थम जाय और जब मनातीत, इच्छातीत अवस्था प्राप्त हो जाय तभी वह विन्दु भी स्थिर होता है। जीव का जो वर्तमान बुद्धि और मन है वे स्थिर विन्दु तक पहुँचने में समर्थ नहीं—इसीलिए उसे अगम्य स्थान कहा गया है। उस अगम्य स्थिर विन्दु के भीतर रुकना-ठहरना होगा। ७ दिसम्बर १८७३ ई० को लिखा है—"इह शरीर के भितर दुसरा एक शरीर हय ऐयसे ही लेकन काला।" अर्थात् इस शरीर के भीतर इसी प्रकार का एक और शरीर है जो काला है। इसी को ही स्वरूप दर्शन कहते हैं। दर्पण के सामने खड़े होने पर जिस प्रकार अपने शरीर का विम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार प्राण-कर्म करते-करते जब मन स्थिर होकर कूटस्थ रूपी दर्पण के सामने स्थिर या खड़ा होता है तब अंगुष्ठ प्रमाण अथवा अगूँठे

जैसी माप का अपना रूप दिखाई देता है। यही कारण शरीर है। शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद से तीन प्रकार का होता है। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म शरीर के भीतर कारण शरीर है। नींद के समय इन्द्रिय आदि विषयों से मुक्ति पाकर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर निद्रित होता है। किन्तु कारण शरीर निद्रित नहीं होता वह सदाजाग्रत है। वही परवर्ती दोनों शरीरों की आधार भूमि और आश्रय का स्थान है। योगिराज गा उठते हैं—

"माया रखो मय छोड़ो
सतपर आगे बढ़ो
सिढ़ि सिढ़ि आगे चढ़ो
तब होगा सुख बड़ो
भूटे मनसुबा क्या गड़ो
श्रीमान सामने खड़ो
ओहि आँख पर पड़ो
फिर एकहि हो पड़ो।"

"गलेमें मिठा मालुम हुआ आउर भितर भितर चला आउर बड़ा नेसा मालुम हुआ ऐयसा हमेसा चाहिये।" जीभ ऊपर उठकर तालु के छिद्र में प्रवेश कर गई उस समय मीठे स्वाद की अनुभूति हुई और श्वास भीतर ही भीतर चलने लगा। इस अवस्था में जो गहरा नशा हुआ—वह हर समय आवश्यक है। **"निर्मल ब्रह्म मालिक, ब्रह्म जल का रुप हय, ब्रह्मइ सर्वमय।"** स्वच्छ, निर्मल और आवरण हीन अथवा जो मुक्त ब्रह्म वही सब का मालिक है क्योंकि इस ब्रह्म से ही जो कुछ भी अस्तित्व में है, उसकी उत्पत्ति हुई है। वह ब्रह्म जलरूप है क्योंकि जल का कोई रूप नहीं वह जिस पात्र में रक्खा जाता है वही रूप धारण कर लेता हैं। इस प्रकार जो अरूप शून्यरूपी ब्रह्म है वही सर्वत्र वर्तमान है। **"सूर्य हमारा रूप जो ओंकार हय ओहि स्थिर घर जाने का रस्ता हय।"** अर्थात् आत्मसूर्य ही हमारा रूप है वही ओंकार है, वही स्थिर घर में पहुँचने का रास्ता है; क्योंकि बार-बार उस आत्मसूर्य का दर्शन करने पर ही योगी स्थिरत्व की अवस्था प्राप्त करते हैं, स्थिर अवस्था में फिर देखने-सुनने-जानने की कोई बात ही नहीं। **"नाक के उपर ताकके भौके उपर कपाल के बिच में ताकके ठहर रहना कठिन हय—इसिसे स्थिति पद याने समाधि होता हय।"** अर्थात् नाक के ऊपर दोनों भौहों के बीच ललाट में दोनों आखें ऊपर की ओर स्थिर करके देखते रहना अत्यन्त कठिन है; किन्तु ऐसा करने पर स्थितिपद अथवा समाधि की

अवस्था होती है[1]। **"जिभ डहिने नाक के छेदमे घुषा फिर बाए छेद के भितर एक अंगुल—आव खिंचने से भि सि एयसा शब्द आता हय आउर फेकनेसेभि।"** जीभ ऊपर उठकर दायीं ओर के नाक के छेद में घुस गई फिर बायें ओर के छेद में एक अंगुल प्रवेश कर गई। इस अवस्था में प्राणायाम करते समय 'शि' इस प्रकार की आवाज होने लगी। उत्तम प्राणायाम में शि शि की आवाज़ बाहर निकलती है।—**"जिभ दोनों नाक के छेद के उपर चला आउर जो सून्य बाहर सोइ भितर देखलाइ देता हय।"**

—अर्थात् जीभ और भी ऊपर उठकर दोनों नासापुटों का अतिक्रम करके और भी ऊपर गई। इस अवस्था में प्राणकर्म करते-करते स्वच्छ महाशून्य बाहर और भीतर सर्वत्र देख रहा हूं; बाहर और भीतर एक हो गए।—**"आकाश नारायण हय—ब्रह्म ध्यान आसल हय हृदय में स्थित हय सत्यरूप हय—माया धोका।"** अर्थात् यह स्वच्छ महाशून्यरूपी आकाश ही नारायण हैं। ब्रह्म ध्यान ही असल या सत्य है। यह सबको करना चाहिए[2]। ठीकर क्रिया कौशल द्वारा जिसका ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, जब हृदयग्रन्थि का भेदन होता है तब हृदय में स्थिति होने के कारण प्रकृत अथवा यथार्थ सत्य रूप अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है। उसके पहले जो चंचल रूप माया है, वह धोखा है, मिथ्या है।[2] **"आउर मजा स्थिर घर का ओहा मालुम होता हय बहुत देर तक ठहरे हय निर्मल आकाशवत् ब्रह्म मालुम होता हय।"**—स्थिर घर में पहुँचने पर अत्यधिक आनन्द प्राप्त हुआ और यह भी समझ में आया कि उस स्थिर घर में अधिक समय तक रहा और स्वच्छ निर्मल महाशून्यरूपी ब्रह्म को समझा। पुनः लिखते हैं—**"स्थिर वायु में रहने पर हृदय इस तरह निर्मल होता है कि बात करने से हृदय में धक्के का अनुभव होता है। खेचरी मुद्रा होने से आकाश में ही चलना होता है अर्थात् चलने में कोई क्लेश नहीं होता। इच्छा से अहंकार होता है वह इच्छा स्थिर होने पर ही बुद्धि का उदय होता है, वही ईश्वर है। अप्राप्य धन पाने पर जिस प्रकार मन तृप्त होता है उसी प्रकार उससे सौगुना अधिक समाधि में मन तृप्त होता है। ब्रह्म शुद्ध है, वह किसी द्रव्य से नहीं निकला है अर्थात् वह उच्छिष्ट नहीं है।"** नारायण अथवा शिवपूजा

१—किताबें पढ़कर अथवा उपयुक्त गुरु या शिक्षक के निकट बिना शिक्षा प्राप्त किए किसी को यह कर्म नहीं करना चाहिए।

२—पण्डितों का मत है कि निराकार निर्गुण ब्रह्म का ध्यान नहीं किया जाता यह ठीक नहीं।

करते समय पहले उन्हें स्नान कराकर पूजा करने के बाद उस देवता के ध्यान करने की विधि प्रचलित है यही बाह्य पूजा का नियम है। किन्तु योगिराज कहते हैं **"महादेव का पहले स्नान उसके बाद ध्यान यह असम्भव है क्योंकि पहले ध्यान उचित था अर्थात् आत्मा को ब्रह्म जानना उचित है इसलिए पहले आत्मा का स्नान आवश्यक है, उसके बाद ध्यान करना चाहिये।"** इस प्रकार वे अन्तर्मुखी साधना पर ही विशेष जोर दिया करते थे। इसीलिए देखने में आता है कि बाहरी तीर्थ-भ्रमण न करने पर भी उन्होंने अन्तर्मुखी भाव से समस्त तीर्थों का भ्रमण किया था। अन्तर्मुखी तीर्थ का ही प्रतीक है बाह्य तीर्थ। इस सम्बन्ध में योगिराज ने लिखा है—**"कूटस्थ अक्षर असल रूप ओंकार का याने स्वासा हमेसा धारण करने से बलदेव का नाम हलधर हुआ उह चन्द्रमारूपी प्रभास तीर्थ में (चन्द्र का उदय होना प्रभास तीर्थ हय) पहले स्नान किया पिछे फिरे सुषुम्ना उदय होने से कूटस्थ अक्षर देखा तब सरस्वती नदी स्नान किया फिर जब स्वासा स्थिर हुआ तब अग्नितीर्थ नामा में स्नान किया फिर पंचस्रोता जब निकसे तब पंच बदारका नामा तीर्थस्नान किया।"** अर्थात्, कूटस्थ अक्षर ही ओंकार का यथार्थ रूप है। यानी श्वास को हमेशा के लिए धारण करने से अथवा अपने आप ही केवल कुम्भक प्राप्त हो जाने से बलदेव को हलधर कहा जाता है; क्योंकि वायु ही बल है इसलिए वायु ही बलदेव और वायु ही हलधर है। कूटस्थ में जो कृष्ण चन्द्र दिखाई देता है वही प्रभास तीर्थ है; उस प्रभास तीर्थ में पहले स्नान किया; उसके बाद, जब सुषुम्ना का उदय हुआ तब कूटस्थ अक्षर को देखा वही सरस्वती नदी में स्नान करना है। पुनः जब श्वासपूर्ण रूप से स्थिर हो गया तब अग्नितीर्थ में स्थान किया। फिर जब पंचस्रोत प्रवाहित हुआ अर्थात् सहस्रार से निकली अमृतधारा प्रवाहित हुई तब पंच बदरिका तीर्थ में स्नान किया। इस प्रकार योगिराज वे अपनी देह के भीतर ही सभी तीर्थों का भ्रमण किया है। बाह्य तीर्थ भ्रमण से आत्मोपलब्धि होती नहीं। शास्त्र में भी यही कहा गया है—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति
तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति
कथं मोक्षं वरानने।

—ज्ञानसंकलिनी तंत्रः ४८-४९

अर्थात् तामसिक व्यक्ति ही इस तीर्थ से उस तीर्थ तक घूमते-फिरते रहते हैं। हे वरानने, आत्मतीर्थ को बिना जाने मुक्ति नहीं प्राप्त होती।

फिर उन्होंने लिखा है—"**गंगाजिके लहर आँख मुद के थोड़ा-थोड़ा देखा।** आँख मूंदकर सुषुम्नारूपी गंगा की तरंग को थोड़ा-थोड़ा देखा। इसको ही लहरी लीला कहते हैं। कैलास शिखर पर विराजमान शिव-पार्वती को आँककर उसके बगल में लिखा है—**शिव के आधे उपर कैलाश पाहाड़ याने सहस्रदल पद्म जिसमें हर पार्वती विराजमान दूर से देखा जाय।** मस्तक के आधे ऊपर कैलाश पर्वत अर्थात् सहस्रदल पद्म जहाँ हर-पार्वती विराजमान हैं, दूर से दिखाई देता है। "**काशी महादेव के त्रिशूल के उपर हेय। काशी इयाने प्रकाश महदेव इयाने सुषुम्ना इड़ा पिंगला इयाने त्रिगुण।**" काशी महादेव के त्रिशूल के ऊपर स्थित है। इड़ा पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ ही तीन गुण के रूप में त्रिशूल हैं। काशी अर्थात् प्रकाश एवं महादेव अर्थात् सुषुम्ना अर्थात् सत्वगुण। फिर गोमुखी का चित्र आँककर उसके बगल में लिखा है—"**गोमुखी देखा।**" यानी गोमुख तीर्थ का दर्शन किया। "**नाड़ि नक्षत्र ठित होत सुफल होय सब कर्म, नहितो विफल होत हँय सब धर्म।**" जन्म के समय यदि जातक के जन्म-नक्षत्र ठीक रहते हैं अर्थात् अनुकूल दशाओं में रहते हैं तो उसके सारे कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं। और यदि अनुकूल नहीं रहते तो समस्त धर्म-कर्म विफल हो जाते हैं। **जिभ उठके जयसा विलकुल स्वासा बन्द हो गया ओ मिठा मालुम होने लगा।**" जिह्वा उठ जाने के कारण तालुछिद्र में प्रवेश कर गई और तब श्वास प्रश्वास पूर्ण रूप से बन्द हो गए। बाहर की ओर साँस का खींचना और निकालना भी बन्द हो गया। ऐसी स्थिति में जीभ के अगले हिस्से पर मिठास का अनुभव होने लगा। '**सुषुम्ना में वायु के प्रवेश करने पर गले में कुएँ जैसे छिद्र का अनुभव होता है।**" "**स्वप्रकाश अथवा अपने आप प्रकाश अर्थात् इच्छारहित। इच्छा के रहने पर कभी कुछ नहीं होता।**" **अब बड़ा मजा हुआ हय श्वासा एकदम सोउतक घुस गया अविनासि याने त्रिकुटि के टिकिया आने ज्ञानचक्षु हरहमेश आँख के सामने खड़ा।**" अर्थात् अब बड़ा ही आनन्द आया, श्वासपूर्ण रूप से सुषुम्ना के अन्तिम छोर तक प्रवेश कर गया। तब समझ में आया कि अक्षय, अविनाशी कूटस्थ रूपी ज्ञानचक्षु हमेशा आँख के सामने वर्तमान है—"**हमहि निलका कोठि हमहि किसुनजि।**" अर्थात् मैं ही नीले रंग की कुटी अथवा कोठी हूं अर्थात् नीलमाधव, मैं ही कृष्ण हूं। **जो किषुन सोइ सूर्य सोइ पानि।**" अर्थात् जो कृष्ण, वही आत्मसूर्य है, उसी को कारणवारि या कारणसलिल कहते हैं। '**बार-बार सूर्य को देखने की इच्छा करती है।**" "**जो हम सोइ सूर्य का ज्योति।**" जो मैं, वही आत्मसूर्य की ज्योति है। "**आपन रूप आसल।**" अपना रूप ही यथार्थ

है। "**जगत के सार सूर्य हय ओहि रूप तुमारा हय।** जगत का सार आत्मसूर्य है; क्योंकि सब कुछ आत्मसूर्य से उत्पन्न होता है, वही हमारा तुम्हारा और सब का रूप है। "**तुमहि तुमहो तुम छोड़ाय दुसर नहि तब लय स्पर्ष।**" अर्थात् तुम्हीं वह तुम हो; किन्तु तुम स्वयं को भूल गये हो तुम्हारे अतिरिक्त और दूसरा कोई या कुछ नहीं। प्राण कर्म करते-करते जब ऐसी अवस्था होती है तभी लय का स्पर्श होता है। कपाल की आकृति बनाकर उसके ऊपर एक सूर्य अंकित करके उसके नीचे लिखा है—"**सूर्य का दुसरा रूप जम ओहि हम—सूर्यइ हम। जो स्वासा सोइ सूर्य का ज्योत सोइ हम—सूर्य से इह स्वासा आता हय—इह समझना जल्दि नहि होता हय।**" अर्थात् आत्मसूर्य का द्वितीय रूप यम है अर्थात् मृत्यु का स्थान, और फिर वही मैं हूँ। यानी आत्मसूर्य ही यम और फिर वही मैं हूं। जो श्वास वही आत्मसूर्य की ज्योति है और वही मैं हूं; क्योंकि उस आत्मसूर्य से यह श्वास आ रहा है; वही श्वास का उत्स या केन्द्र है; लेकिन इसे समझना आसान नहीं है, इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है।

'**सूर्य ओ ज्योत फिर ओहि कारणवारि होता हय उसिसे सब उत्पत्ति आउर उसिसे लय। अब श्वासा भितर भितर जाता हय थोड़ा बाहर भि जाता हय। आज मन संग देशेसे एक दफा खबार गया इससे प्रभु का दर्शन ओ ध्वनि आजन देखने सुना। स्त्री पुरुषका काल हय इस्के तरफ ताकना नहि, भुल करके भि चाहिए ना।**" अर्थात् आत्मसूर्य और उसकी ज्योति ही कारणवारि है इस कारणवारि से ही विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है और उसी में उसका लय भी होता है। अब साँस भीतर की ओर प्रवेश कर रही है फिर कुछ बाहर की ओर भी जा रही है। प्राणकर्म करते-करते ऐसी अवस्था हुई कि आज मन सभी प्रकार के इन्द्रिय संग से रहित हो गया। इस स्थिति में प्रभु का दर्शन हुआ और ओंकार ध्वनि का प्रकाश देखा तथा सुना। यही स्त्री-पुरुष के लिए निर्विशेष रूप से कालस्वरूप है इसकी ओर कभी भी नहीं देखोगे—भूल कर भी नहीं देखना चाहिए। क्योंकि प्राण की जो स्थिर अवस्था है उसके दो छोर हैं—एक विष्णु अर्थात् व्याप्ति एवं दूसरा कालस्वरूप निधनकर्त्ता। इसीलिए योगिराज कहते हैं कि इस कालस्वरूप निधनकर्त्ता की ओर योगी को नहीं देखना चाहिए। हालांकि दोनों अवस्थाएँ ही योगियों के सम्मुख आएँगी और दोनों की ही जानकारी प्राप्त करनी होगी लेकिन तब भी योगी को चाहिए कि वह कालस्वरूप निधनकर्त्ता की ओर दृष्टि न दे। उधर देखने पर ही काल के मुँह में गिर जाना पड़ता है। इसीलिए वे सबको सावधान कर देते

हैं—"आज किसिके कुछ कहेसे मन दब गया हय। जिभ बिलकुल अटक रहत हय आउर स्वासा भितर भितर चलता हय। अब इस कदर नेसा होता हय कि नेसाके मारे आँख से सुझता नहिं—हरफ लिखने का न नजर पड़े—आउर निद अयसा नेसा घेर आवे।" अर्थात् आज किसी व्यक्ति को कुछ कहने से मन दब गया है। जीभ पूरी तरह तालुछिद्र में अटक गई है और सांस भीतर ही भीतर चल रही है। इस स्थिति में प्राणवायु के उपर उठ जाने से ऐसा नशा हुआ कि उसकी तीव्रता के कारण आँख से कुछ सूझ नहीं रहा हैं। लिखते समय अक्षर तक भी नहीं देख पा रहा हूँ नींद के समय जिस प्रकार तन्द्रा या ऊँघने की स्थिति होती है वैसा ही गहरा नशा घिर आया।—"कसाक भितर भितर प्रणाम करते बख्त आँख बन्धा हो जाता हेय आउर कुच् बुझाता नेहि बड़ा नेसा हेय ओ बड़ा मजा हेय।" अर्थात् कस के या बलपूर्वक प्राणकर्म अथवा प्रणाम या प्राणायाम करते-करते दोनों आँखें अपने आप बन्द होती जा रही हैं और कुछ भी नहीं समझ में आ रहा है। खूब गहरा नशा है और बड़ा मजा आ रहा है। —"फि१ला प्रणाम खिचने में तकलिफ, बन्द करने में तकलिफ, छोड़ने में आराम लेकिन हावा पेट के भितर नाहिरता। दुसरा प्रणाम में जो की गला ओ नाक के भितर हेय तालुतक उठता हेय उचके लेनेमेभि मजा वन्द करनेभि वैहि आउर छोड़नेभि वैहि लेकिन छोड़ने मे हावा सिरके उपर चड़जाता हेया आउर वन्दरता हेय आउर भारु मालुम होता हेय। इसिका नाम हेय नेसा इनेसा कंउ ना होय कंकी एक आओरत खुबसुरत को देख करके उचकौ पाऔने का केत्वा बड़ा नेसा होता हेय आब जो परमेश्वर इयाने ब्रह्म मायारुप मोहनि स्वरूप होके जगतके मोहिनिछेन हेय उचमोहनि रूप का परछाँइ देख करके तेत्वा बड़ा नेसा होगा छोइ करते देखा।" अर्थात् हर पहले प्राणायाम को खींचते समय तथा कुछ रोकने के समय तकलीफ होती है। छोड़ते समय अथवा साँस निकालते समय आराम मिलता है किन्तु हवा पेट के भीतर नहीं रहती। दूसरे प्राणायाम में गला एवं नाक को पार करके भीतर ही भीतर तालुतक उठ जाती हैं। यह प्राणायाम खींचते समय जिस प्रकार आनन्द प्राप्त होता है, दोनों छोर पर रोकने के समय भी और बाहर निकालने के समय भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है; किन्तु बाहर निकालते समय जो सुमधुर प्रणवध्वनि बाहर निकलती है उससे वह हवा मस्तक के ऊपर उठ जाती है और वहीं टिक या अटक जाती है। इससे मस्तक भारी हो जाता है। मस्तक में इस भारीपन की स्थिति को ही नशा कहते हैं। किन्तु यह नशा सब को क्यों नहीं होता? जिस प्रकार किसी

सुन्दरी नारी को देखने के बाद उसको प्राप्त करने की आशा का जो नशा सब को होता है; उस क्षेत्र में नारी ही जिस प्रकार नशा का कारण है उसी प्रकार आभ्यन्तरमुखी उत्तम प्राणकर्म ही मस्तक में उस भारीपन जैसे नशे का कारण है। इस तरह परमेश्वर अर्थात् ब्रह्म जो माया द्वारा मोहिनी रूप धारण करके इस जगत को लुभा रहे हैं उस मोहिनी रूप की छायास्वरूप उस खूबसूरत नारी को देखकर जो नशा होता है उससे अधिक नशा उस परमेश्वर को देखकर हो रहा है। वही प्राणायाम करते-करते देखा। "**आते बखत प्रेणाम से स्वाष नाहि निकालेता आउर जाते बखत थोड़ा निकालाता हेय।**" अर्थात् अन्तर्मुखी प्राणायाम खींचने के समय श्वास तनिक भी बाहर नहीं आ रही है; किन्तु निकालते समय कुछ बाहर निकल रही है। हालाँकि कुछ क्षण प्राणायाम करने के बाद साँस निकालते समय निकलती नहीं, वह तब भीतर ही भीतर चलती रहती है। **प्रणाम करते बखत परख आस्ते-आस्ते करते बखत जरा हावा का कमफेर मालुम होय तब आपछे आप रुक जाय आउर जेत्ता देर तक राखने का एरेदा होय राख सके—ए मालुम होता हय मोनको निथंन करनेछे मारते-मारते स्वाष के तरह आइछा आनुभाव भाया।**" अर्थात् प्राणायाम करने के समय उसे परखने के लिए जब धीरे-धीरे कर रहा हूँ तब हवा की कमी और अधिकता समझ में आ रही है। इस प्रकार प्राणायाम करते-करते अपने से ही श्वास रह रुक जाती है और जब तक रोक कर रखना चाहूँ—रख सकता हूँ। यह भी समझ में आया कि मन को दबाते-दबाते अथवा उस पर संयम रखते हुए आभ्यन्तरमुखी साँस की ओर जाते रहने से सम्यक रूप से अपने आप ही स्थिर भाव आता है। इसीलिए उन्होंने इसके बारे में पुनः लिखा है—"**मानषे छे तिरन होय उसका नाम मंत्र। तन से भरण होय उछका नाम तंत्र हेय।**" मन की वर्तमान चंचलता से जिसके द्वारा त्राण प्राप्त हो अर्थात् स्थिर अवस्था को ही मंत्र कहते हैं और जिसके द्वारा देह का भरण-पोषण हो उसे तंत्र कहते हैं। अर्थात् देह स्थित प्रत्येक तंत्री अथवा सभी नाड़ियों के भीतर से होकर वायु के प्रवाहित होते रहने से इस देह का पोषण हो रहा है। इसलिए वह वायु-प्रवाह ही तंत्र की संज्ञा है। "**इछीके बराबर मिठा कै नहि हेय बहुत भारु बहुत देरछे उपरके प्रणाम करनेछे उपरछे पानि निकलाता हेय हामेसा कान में ध्वनि मालुम होता हेय जब ध्यायान करके शुना जाय चन्द्र का कमल माजते माजते साफ होता हय आँख बन्द करनेछे भितर चन्द्रमा देखाता हेय साफ लेकिन छानभर ठाहरता हेय आउर एत्ते ताकत हेयकि जेत्ति देरते करे प्रणाम उपर उपर करे कुछ दिनमे मालुम होता हेय कि**

बाहरछे स्वासा ना निकलेगा इसमे बड़ा सुख आउर सबचिच ओहि मालुम होता हेय इयाने धन तेयागी होत हेय।" अर्थात् ऊपर से प्रवाहित इस अमृत धारा के समान और कुछ भी मीठा नहीं। मस्तक खूब भारी है अधिक समय तक कूटस्थ में स्थिर रह कर प्राणायाम करते समय ऊपर से अर्थात् सहस्रार से कारणवारि प्रवाहित होता है। सब समय कान में ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है, जो ध्यान करते समय अर्थात् क्रिया करते समय सुनाई पड़ती। कूटस्थ में वह जो चन्द्र दिखाई दे रहा है उसके सामने जो आवरण या पर्दा है वह बार-बार प्राणकर्म करते रहने से हट जाता है और स्वच्छ निर्विकार चन्द्र दिखाई देता है। तब आँख बन्द करते ही वह चन्द्र भीतर अर्थात् कूटस्थ में साफ-साफ दिखाई देता है; किन्तु अभी भी वह अल्पकाल के लिए ही दिखाई पड़ रहा है। दीर्घ समय तक स्थिति नहीं हो रही है और अब मुझमें इतनी ताकत आ गई है कि जितना दीर्घ या लम्बा प्राणायाम कर रहा हूँ उतना ही समझ में आ रहा है कि कुछ दिन बाद बाहर की साँस बाहर गतिशील नहीं हो रही है। इस अवस्था में अत्यधिक आनन्द प्राप्त हो रहा है और सभी कुछ ही जो श्वास के आगमन और निर्गमन की गति है रुद्ध हो गई है अर्थात् यही स्थिरावस्था है यह समझ में आया यानी यही अवस्था वस्तुतः सर्वत्यागी अवस्था है इसके पूर्व का त्याग तो बातुलता अथवा मिथ्याप्रलाप मात्र है। **"काँसर घंटा का ध्वनि कान में मालुम होता हेय जब ध्यान करे।"** अर्थात् जब ध्यान करता हूँ अथवा क्रिया करता हूँ तब घंटे-घड़ियाल जैसी ध्वनि सुनाई देती है। **"खालि आँखछे चन्द्र देखा सवेरे प्रणाम करोत बखत चन्द्र सूर्य का एक में मिलगाए हेय फिर खालि देखा।"** सुबह प्राणायाम करते-करते खुली आँखों से चन्द्र देखा और यह भी देखा कि चन्द्र सूर्य एकाकार हो गए और जब दोनों मिल गए तो दो के अभाव में या उनके न रहने पर सब खाली या रिक्त देखा अर्थात् महाशून्य को देखा। यह महाशून्य ही ब्रह्म है। **"सूरज में सब कारणारि भरा हय।"** उस आत्मसूर्य के भीतर ही कारणवारि भरा है।—**"जो विन्दि सोइ ध्वनि का रुप—अब ध्वनि समान हय। आउर सूर्यइ विन्दिका रुप तो सूर्यइ शब्द हय।"** अर्थात् कूटस्थ में जो विन्दु दिखाई देता है वही ओंकार ध्वनि का रूप है अब वह ध्वनि समान हो गई एवं वह आत्मसूर्य ही जब विन्दु का रूप हैं तब वह आत्मसूर्य ही शब्द अर्थात् ओंकार ध्वनि यानी जो आत्मसूर्य है वही विन्दु है और वही ओंकार ध्वनि है।—**"अब अगम स्थान में गए याने स्थिर।"** अर्थात् अब अगम्य स्थान में गया अर्थात् जहाँ सभी नहीं जा सकते केवल योगी ही वहाँ जाने में सक्षम हैं उस अगम्य स्थान में पहुँचा

अर्थात् स्थिर घर में पहुंच गया। "ब्रह्माके कमण्डलु में हरिके चरणशे पानि गिरता हय—एहि हय कारण वारि। अर्थात् हरिचरण से ब्रह्मा के कमण्डल में जो पानी गिर रहा है वही कारणवारि है। ब्रह्मा का कमण्डल तालुरन्ध्र है और हरिका चरण सहस्रार है। सहस्रार से जो अमृत की धारा तालुरन्ध्र में जिह्वाग्र पर (ऊर्ध्वजिह्वा) आकर गिरती है वही कारणवारि है। इस कारणवारि का पान करने से अमर हुआ जा सकता है। यही तंत्र मतानुसार पंचमकार का मद्यपान है। यह बाह्य या लौकिक मद्यपान नहीं है।

तंत्र में पंचमकारों की साधना प्रधान है। इसके तामसिक, राजसिक और सात्विक तीन प्रकार हैं। इसमें निश्चय ही सात्विक श्रेष्ठ या प्रधान है। पंचमकार के अन्तर्गत मद्य, मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन आते हैं। जो लोग राजसिक अथवा तामसिक भावापन्न हैं वही बाह्य पंचमकार द्वारा साधना करते हैं; किन्तु इससे आत्म साक्षात्कार नहीं होता। सात्विक पंचमकार स्वतंत्र है। राजसिक एवं तामसिक रूप से पंचमकार की साधना एक निकृष्ट साधना है इसके बारे में तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत्।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजौ भवन्तु ह ॥
स्त्री संभोगेन देवेशि यदि मोक्षं लभेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्युः स्त्रीनिषेवात् ॥[१]

अर्थात् मद्यपान के द्वारा यदि मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर ले तो फिर मद्यपायी पामर व्यक्ति भी सिद्धि प्राप्त करलें; तथा मांस-भक्षण करने से ही यदि पुण्य गति हो तो फिर सभी मांसाहारी ही पुण्य प्राप्त कर लें। हे देवेशि ! स्त्री-संभोग के द्वारा यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर सभी स्त्री सेवा द्वारा मुक्त हो जाएं। किन्तु यह संभव नहीं।

अतएव सात्विक भाव से पंचमकारों में प्रथम मकार मद्यपान किसे कहते हैं इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

सोमधारा क्षरेद या तु ब्रह्मरन्ध्राद वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥[२]

अर्थात् हे वरानने। ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सहस्रार से जो अमृत की धारा

१—कुलार्णव तंत्र द्वितीय उल्लास।

२—आगमसार।

निकलती है उसका पान करके जो आनन्दित होते हैं उन्हें ही मद्यसाधक कहते हैं। योगिराज इस मद्य अथवा कारणवारि का पान करके हमेशा भगवत् नशे में मस्त रहा करते थे।

सात्विक भाव से द्वितीय मकार मांस-भक्षण किसे कहते हैं इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

मा शब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसना प्रियान्।
सदा यो भक्षयेद् वि स एव मांससाधकः ॥१

अर्थात् मा शब्द से रसना और रसना का अंश है वाक्य, यह रसना के लिए प्रिय है। जो व्यक्ति रसना का भक्षण करते हैं अर्थात् वाक्य-संयम का पालन करते हैं उन्हें ही मांस साधक कहते हैं। गुरु के उपदेश के अनुसार तालु के मूल में जीभ का प्रवेश कराने पर बात नहीं की जा सकती। इस अवस्था में अधिक प्राणकर्म करने से इच्छा का नाश होता है। उस समय इच्छा के न रहने पर बात कौन करे? इसलिए जिह्वा के संयम से वाक्य का संयम होता है और इसी जिह्वा के कर्मी साधक को मांस साधक कहते हैं।

तृतीय पंचमकार 'मत्स्य' किसे कहते है? शास्त्र का कथन है—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्य साधकः ॥२

अर्थात् गंगा और यमुना इन दो नदियों के बीच दो मत्स्य हमेशा विचरण करते हैं जो साधक उस मत्स्य का भक्षण करते हैं वे ही 'मत्स्य साधक' हैं। अर्थात् गंगा इड़ा एवं यमुना पिंगला—इन दो नाड़ियों के भीतर जो श्वास प्रश्वास गतिशील है वही मत्स्य है। जो योगी प्राणकर्म के द्वारा प्राण को स्थिर करके श्वास-प्रश्वास रूप दोनों मत्स्य का भक्षण करते हैं अर्थात् उन्हें स्थिर कर लेते हैं वे ही 'मत्स्य साधक' हैं।

चौथा मकार 'मुद्रा' किसे कहते हैं। इसके बारे में शास्त्र का कथन है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम् ॥
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम्।
अतीव कमनीयंच महाकुण्डलिनीयुतम्।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ॥३

१—आगमसार।
२—आगमसार।
३—आगमसार।

अर्थात् सहस्रदल महापद्म में कर्णिका के भीतर पारद या पारे की तरह स्वच्छ-निर्मल करोड़ों सूर्य एवं चन्द्र की आभा से भी अधिक प्रकाशमान ज्योतिर्मय सुशीतल, अत्यन्त कमनीय महाकुण्डलिनी से संयुक्त जो आत्मा वर्तमान है उसे जिन्होंने जान लिया है अर्थात् गुरु के उपदेश के अनुसार जिन योगियों ने आत्मकर्म के द्वारा इस प्रकार परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन किया है उन्हें ही 'मुद्रा साधक' कहते हैं।

पाँचवां मकार मैथुन किसे कहते हैं? मैथुन तत्व के सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है :—

मैथुन परमं तत्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
रेफस्तु कुंकुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च विन्दुरूपो महायोनौ स्थितः प्रिये॥
आकारहंसमारुह्य एकताच यदा भवेत्।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
आत्मनि रमते यस्मादात्मारामस्तदोच्यते।
अतएव रामनाम तारकं ब्रह्म निश्चितम्॥
मृत्युकाले महेशानि स्मरेद्रामाक्षरद्वयम।
सर्वकर्माणि संत्यज्य स्वयं ब्रह्ममयो भवेत्॥
इदन्तु मैथुनं तत्त्वं तव स्नेहात् प्रकाशितम्।
मैथुनं परमं तत्वं तत्वज्ञानस्य कारणम्॥
सर्वपूजामयं तत्वं जपादीनां फलप्रदम्।
षड़ङ्गः पूजयेद्देवि सर्वमंत्रः प्रसीदति॥
आलिंगनं भवेन्न्यासं चुम्बनं ध्यानमीरितम्।
आवाहनं सीत्कारं नैवेद्यमुपलेपनम्॥
जपनं रमणं प्रोक्तं रेतःपातश्च दक्षिणा।
सर्वथैव त्वया गोप्यं मम प्राणाधिक प्रिये॥[1]

अर्थात् मैथुन तत्व ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है। मैथुन द्वारा सिद्धि अर्थात् इच्छा रहित अवस्था एवं दुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। नाभिचक्र में स्थित कुण्ड के भीतर कुंकुमाभास आरक्तवर्ण 'र'कार (तेजस् तत्व) के साथ आकार रूप हंस अर्थात् अजपा रूप श्वास प्रश्वास के द्वारा अर्थात् प्राणकर्म के द्वारा जब आज्ञाचक्र स्थित महायोनि या ब्रह्मयोनि के भीतर विन्दु स्वरूप 'म'कार का मिलन होता है अर्थात् ऊर्ध्व में स्थिति प्राप्त होने पर तब महानन्दमय अथवा परमानन्दमय

१—आगमसार।

ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ऊर्ध्व में इस प्रकार की स्थिति होने पर जिस स्थिरावस्था का उदय होता है, उस अवस्था में रमण करने का नाम ही 'राम' है। यही प्रकृत राम नाम है। इसका वर्णन मुंह से नहीं किया जा सकता। मैथुन साधक इस प्रकार हमेशा आत्मा में रमण करते हैं इसलिए राम नाम ही निश्चित रूप से 'तारकब्रह्म' है। हे महेशानि मृत्युकाल में यह राम नाम जिससे स्मरण में रहे इसलिए आत्मक्रिया में रत रहना उचित है। ऐसा होने पर सारे कर्म छोड़कर मृत्युकाल में रामनाम का स्मरण होता है और तब वे स्वयं ही ब्रह्ममय हो जाते हैं। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए योगिराज ने लिखा है—'-**ओंकार आत्माराम ओहि राम हय**।'' यह आत्मतत्व स्वरूप मैथुन तत्व ही परमतत्व है और समस्त ज्ञान का कारण स्वरूप है तथा हर प्रकार की पूजा और जप आदि का फलप्रदान करता है। गुरु के उपदेश द्वारा इस प्रकार षड़ङ्ग योगक्रिया द्वारा सभी मंत्र प्रसन्न अर्थात् चेतना प्राप्त करते हैं। न्यास अर्थात् अन्तर्मुखी प्राणायाम करके बाहर का वायु बाहर और भीतर का वायु भीतर, इस प्रकार वायु को हृदय में धारण करने का नाम 'आलिंगन है और स्थितिपद में निःशेष रूप से अथवा पूर्णतः मग्न होने का नाम 'चुम्बन' है। इस प्रकार की ध्याना-वस्था १७२८ अन्तर्मुखी उत्तम प्राणायाम द्वारा हुआ करती है। 'केवल' रूप इस कुम्भक की स्थिति में 'आवाहन' होता है वही 'सीत्कार' है। और जीभ को ऊपर की ओर रखकर इस इस प्रकार साधना करते-करते जिस अमृत का क्षरण होता है वही 'नैवेद्य' है। अजपा रूप जप क्रिया अर्थात् आत्मक्रिया ही 'रमण' है एवं यह रमण करते-करते श्वेतवर्ण रेतःपात होता है और वह होते ही तृप्ति रूप आनन्द का उदय होता हैं वही 'दक्षिणा' हैं अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्ति की अवस्था हैं। इस सात्विक मैथुन तत्व तथा पंचमकार की साधना को महादेव ने पार्वती को बताकर हर प्रकार से गोपन रखने को कहा है; किन्तु वर्तमान काल में सात्विक भाव को छोड़कर राजसिक एवं तामसिक कर्म ही अनुष्ठित होते रहते हैं।

योगिराज ने कहा है—"**यह शरीर ही ओंकार है, इस शरीर से ही सब कुछ उत्पन्न होता है।**" और एक दिन लिखा है—"**आज मन चंचल होके जयसा प्राणायाम करते थे सो वोयसा नहि हुआ—अब श्वासा बहुत कम चलने लगा—बड़ा मजा।**" आज मन की चचलता के कारण जिस प्रकार उत्तम प्रणायाम करता था वैसा हुआ नहीं तब भी दीर्घ अभ्यास के कारण श्वास खूब कम चल रहा है। इस अवस्था में बड़ा ही मजा आ रहा है। उसके बाद लिखा हैं—"**आज एकदम दम बन्द—**

छोटा जीभ आउर उपर उठा—आउर बिचमे पानिका सोता मालुम हुआ।" अर्थात आज एकदम दम या श्वास बन्द हो गया और बाहर श्वास की कोई गति नहीं। छोटी जिह्वा और उपर उठ गई एवं तालु-छिद्र में अमृतधारा का अनुभव हुआ। **"जिसने काम को जिता उसने सब कुछ किया।"** जिन्होंने इस प्रकार सभी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है वे सभी कुछ कर सकते हैं। प्राणकर्म करने से श्वास की गति जितनी ही स्थिर होगी उतनी ही सभी प्रकार की कामनाओं पर जय प्राप्त होगी। **ओहि एक रुप महापुरुषका जो तमाम ब्रह्माण्ड व्यापिक हय।"** अंगुष्ठ प्रमाण उस महापुरुष का एक ही रूप है उसमें कोई परिवर्तन नहीं। वे ही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं उन्हीं को देखा। इसके पश्चात अद्वैत में प्रतिष्ठित होकर लय प्राप्त करके ब्रह्म के साथ घुल मिल कर एकाकार होने जैसी स्थिति में पहुँचकर लिखा है। **"सूर्य ही ब्रह्म हमहि ब्रह्म।"** अर्थात् सब कुछ ही ब्रह्म है। स्वयं और ब्रह्म एक होकर सभी कुछ में ब्रह्ममयता का अनुभव कर रहे हैं। **हमारेइ रुप सब जगइ—हम छोड़ाय कोइ नहि, उह रुप हय सून्य में ओहा न दिन न रात।"** अर्थात् इस जगत की सभी वस्तुएँ मेरा रूप हैं अर्थात् मेरे अतिरिक्त जगत का कुछ भी नहीं है। मुझे छोड़कर कोई नहीं है। यह सर्वब्रह्ममयं जगत रूप महाशून्य में अवस्थित अर्थात् इस शून्य के भीतर जो शून्य है उसमें अवस्थित है जहाँ दिन भी नहीं जो स्वयं प्रकाश, स्वतः प्रकाश है। योगी की यह अवस्था एक उच्च अवस्था है सभी योगों का अन्त लय योग की अवस्था है वृहत् सत्ता के साथ लीन हो जाने के लिए स्वातन्त्र्य लोप की अवस्था है। यह योगी के लिए चरम एवं परम काम्य है।

योगिराज को साधारणतः कोई बड़ा रोग या बीमारी नहीं होती किन्तु शरीर है तो कोई न कोई बीमारी तो होगी ही। योगिराज को एकबार फोड़ा हुआ था इसलिए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है— **"आज आपना गाफलिसे फोड़ा हुआ।"** यानी आज अपनी ग़फलत या असावधानी से फोड़ा हो गया। दो दिन बाद लिखा है—**"आज रोज के माफिक फोड़े से प्राणायाम नहि हुआ—अविनाशिको याने सूर्य को रात में देखा।"** आज अविनाशी को अर्थात् सूर्यको रात में देखा तात्पर्य यह कि प्रतिदिन जिस प्रकार उत्तम प्राणायाम होता आज फोड़े के दर्द के कारण उस प्रकार का उत्तम प्राणायाम नहीं हुआ, किन्तु अविनाशी अर्थात् आत्मसूर्य को रात में देखा। और दो दिन बाद लिखा है— **"आज कुछ दुर्बल शरीर हुआ लेकिन भितर-भितर श्वासा चला।"** फोड़ा होने के कारण इन दिनों वे कुछ दिन तक उससे परेशान रहे।

इस कारण उनका शरीर कुछ दुर्बल हो गया था, किन्तु दीर्घकालीन योगाभ्यास के कारण श्वास की गति अपने आप भीतर ही भीतर चल रही है। एक सूर्य की आकृति आँककर उसके बगल में लिखा है— **"हमहि हम हय। सूर्य देखा आँख मुद के—हमहि सूर्य हय।"** मैं ही वह मैं हूँ। मैं स्वयं में अवस्थित हूँ। इस अवस्था में आँख मूँदने पर भी आत्मसूर्य को देखा। मैं ही वह अविनाशी आत्मसूर्य हूँ। **"अलख निरंजन का जब कमल विकसित होय तब आपहि आप देखे – फिर आपरुचि भगवान होना बाँकि हय—तब गुरु समान दाता नहि मालुम होय।"** प्राणकर्म करते-करते जब मूलाधार से आज्ञाचक्र तक षटचक्र रूपी कमल दल विकसित होता है तब निराकार निरवयव ईश्वर की महिमा अभिव्यक्ति होती है और तब स्वयं को ही स्वयं दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में पहुँचकर अब केवल स्वयंरूपी अर्थात् स्व-रूपी भगवान होना बाकी है अर्थात् अभी भी स्वयंरूपी भगवान नहीं हो पाया हूँ ऐसा होने पर गुरु के समान कोई दाता नहीं यह समझ में आता है। इसके पश्चात् और भी आगे जाकर वे और भगवान एकाकार हो गए तथा वेदान्त के अनुसार अद्वैत में सुप्रतिष्ठित होकर साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर लोक-दृष्टि से बचते हुए एकान्त में अपनी दैनिकी के माध्यम से उन्होंने महान घोषणा की—**"स्वयं भगवान"** अर्थात् वे स्वयं ही भगवान हुए।

१८७१ ई० के सावन महीने में (तारीख नहीं दी है) लिखा है— **काला विन्दि एइ स्थिर बहुत देर तक देखा आउर कहा मातारी से कि बाबा आवत प्राण में मरने लागे एकहि एहि काहकरके रोया तब साम को गुरु ने कहा उपर लिखा हुआ गुरु ने बातालाया लेकिन आँख से कुछ नाहि देखा कि कुछ नाहि ब्रह्म हेय आने मालुम होता हेय कि महाविद्या का दरशन होगा।"** अर्थात् स्थिर काला विन्दु देरतक देखा और माताजी से कहा यदि आगम या आते हुए प्राण में मर जाऊँ यह सोचकर रोने लगा। उसके बाद शाम को गुरुजी से कहा, उन्होंने भी सब बता दिया; किन्तु कुछ भी नहीं देखा; केवल ब्रह्म अर्थात् इस अवस्था में समझ में आया कि अब महाविद्या का दर्शन होगा। १८७१ ई० के भादो महीने की गुरुपूर्णिमा के दिन आकाश तत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है—**"आब मजा हेय वैहि सूर्यछे सब हेय वैहि सूर्य? १ले दुइके छिदछेभि छोटा रहा वहि फिर एछावड़ा हुआ कि सूर्य के माफिक हुआ वैहि सूर्यछे हाम लोग ओ पार्थिव सब पयदा एहि के नाम दुइके भितर छाति धरनाये फिरउछि के भितर नेवे उसूर्य ब्रह्म के भितर लेय फिर ब्रह्मछे सूर्यका उत्पत्ति इछि तरेछे दुनिया चले जाता हेय**
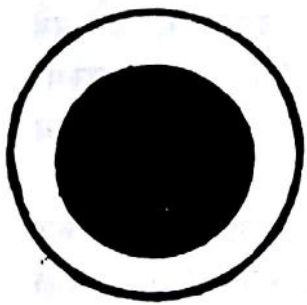
जो सवद हेय एछिछे सवद उत्पत्ति हेय जेछा आउर उयाभि व ध्वनि काँहाछेभि वे ध्वनि बिलकुल जोत ब्रह्म हेय सूर्य का चन्द्रभि वेहि इछिलिये चन्द्रधर हेय उहाछि हामलोगन के सातमे वेद के लिखनि वाले गणेषजि हेय इछका सक्ष इय हेय कि लिखिनाहि मालुम कराते हेय षुण्डछे आउर प्रणाम छे वाँसुलिका आवाज सुनायाते आते प्रणाम के जेछा चाभि के छेद में फुकनोछा आवाज मालुम होता हेय सूर्य आसल हेय. कामका इच्छा नाहि बहुत स्वाष पिछेके तरफ गेया बहुत पिछे के दरवाजा देखकर आँख सामने को बन्द हो जाता हेय इछे सामने गीरने को ओर मालुम होता हेय कभि कभि बड़े बड़े हात भरके दातवाले सुरख नजर में बठे देखलाता हेय मेय कहा आसल तत्व सूर्य के छोड़ति नाहि।"—अर्थात् अब बड़ा ही मजा आ रहा है, उस आत्मसूर्य से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, उस आत्म सूर्य को पहले विन्दु जैसा छोटा देख देख रहा था, अब वही इतना बड़ा हो गया जैसे कि इस आकाश का सूर्य हो! इस आत्मसूर्य से हम सभी एवं विश्व के सभी पदार्थों की उत्पति हुई है। इसी को द्वैत कहते हैं; फिर वही आत्मसूर्य महाशून्य रूपी ब्रह्म के भीतर विलीन हो गया; और फिर उसी शून्य ब्रह्म से इस आत्मसूर्य की उत्पत्ति हो रही है। इस प्रकार इस दुनिया का यह क्रम या सिलसिला चला आ रहा है। अनाहत. ओंकार ध्वनि के साथ समस्त शब्द उसी, आत्मसूर्य से ही आ रहे हैं। वह ध्वनि सम्पूर्णतः ब्रह्मज्योति है। वही आत्मसूर्य चन्द्र हुआ इसलिये वे ही चन्द्रधर हैं; वहीं हम लोगों के साथ वेदों के लेखक गणेशजी भी हैं। उन्हें देखने पर लगता है जैसे वे कुछ भी नहीं लिख रहे हैं; किन्तु वही फिर वेद का सम्पूर्ण अर्थ सूँड़ के द्वारा समझा दे रहे हैं एवं चाभी के छेद में फूँक मारने से जिस प्रकार का शब्द या स्वर निकलता है, प्राणायाम करते समय उसी प्रकार बाँसुरी की आवाज़ जैसा स्वर निकल रहा है। आत्मसूर्य ही सत्य है। अब सभी इच्छाओं का नाश हो जाने से कुछ करने की इच्छा भी नहीं। अब श्वास पूरी तरह पीछे की ओर अर्थात् सुषुम्ना के भीतर चल रहा है। और तन्मयता पूर्वक षटचक्र देखते-देखते सामने की दोनों आँखें बन्द हो गईं। इस अवस्था में सामने की ओर गिर जा सकता हूँ, ऐसा महसूस हुआ। इस प्रकार की तन्मय अवस्था में कूटस्थ रूपी दर्पण में बड़े-बड़े हाथों एवं दाँतों वाली एक भयंकर मूर्ति को बैठे हुए देखा; इस अवस्था में कहा कि चाहे जो जितना भी भय दिखाए मैं असली तत्त्व या सत्य जिसे आत्मसूर्य कहते हैं—नहीं छोड़ूँगा।" इसके बाद लिखा है—
"आँख बन्द करके देखा चित् में प्राणवायु हेय आउर प्राणवायु मे चित् हेय चित् ठकाने राखते को भि ना मरे आदमि दोसरा सकसमे कुछ जोत

हेय लेकिन साफ नाहि भाया।" अर्थात् दोनों आँख बन्द करके देखा कि चेतन में ही यानी चंचल अवस्था में ही प्राणवायु है और प्राणवायु में ही ही चेतन वर्तमान है अर्थात् प्राणवायु एवं चित् या चेतन दोनों ही एक हैं और श्वास-प्रश्वास ही प्राण है। उस चेतन अथवा चित् या प्राणवायु को यदि ठीक जगह या सही स्थान पर केन्द्रित किया जाए तो कोई भी व्यक्ति नहीं मरेगा अर्थात् चंचल प्राण को प्राणकर्म द्वारा यदि स्थिर करके स्थिरावस्था में रखा जाय तो किसी की मृत्यु नहीं होगी; क्योंकि उस स्थित में जन्म रहित होने से मरेगा कौन ? जन्म नहीं तो मृत्यु भी नहीं। सभी के शरीर में वही आत्मज्योति वर्तमान है, उसे देखा, लेकिन अधिक स्पष्ट नहीं। फिर लिखा है—**"नादछे, विष्णुछे मिलाता हेय कॅउकि आकाष का विष्णु का एक रूप हेय आउर सवद आकाषछे निकालाता हेय इछलिए गित षुननेछे सब का दिल खुष रहाता हेय कंउकि आप रुपछे सबकं खुशि पयेदा हुति हेय।"** अनाहत अथवा ओंकार ध्वसि एवं विश्वव्यापी विष्णु सभी महाकाश में मिल गए; क्योंकि उस स्वच्छ, स्थिर महाकाश के सर्वत्र व्याप्त होने से विष्णु एवं महाकाश का एक ही रूप है अर्थात् महाकाश और विष्णु एक ही तत्व के दो विभाव या रूप हैं। नाद ब्रह्म भी स्वच्छ महाकाश अथवा ब्रह्माकाश से ही प्रकट हो रहा है इसीलिए गीत या गान सुनने पर सभी का मन आनन्दित होता है क्योंकि अपने रूप से ही सभी आनन्द उत्पन्न होते हैं। अर्थात् गान, आनन्द, विष्णु सभी का उत्पत्ति-स्थान वही स्वच्छ स्थिर महाकाश है जिसे विष्णु एवं ब्रह्म कहते हैं।

योगिराज के कंठ से गीत फूट पड़ता है—

"भालो भेवे भालो करना ओ रसना
मिछे काजे बेड़िए बेड़ाओ
भूलेओ ताके डाकोना।
से जे अन्तरे जागे
सदा आत्मा रामरे।
ताहार विहने तुमि
रयेछो केमन करे॥

१८७१ ई० के शुक्लपक्ष की चतुर्थी (महीने का नाम नहीं) को लिखा है—**"सूर्य बड़ा दरवाजा हेय उचको चढ़नेवाला का नाम दरवेश हेय आव हावा उपर खिचाता हेय गाढ़ा पिछेका शिर बड़ा भारु जो रग विन्दि का इयाने जिचका नाम नाहि हेय वैहि रंग प्रणामका वैहि रंग प्राण का वैहि रंग ब्रह्म का जब एसब रंग एक हो जाय तब आप रुपभि भगवान देखलाय।"** अर्थात् आतम सूर्य ही सब से बड़ा दरवाजा है। उस दरवाजे

पर जो चढ़कर बैठता है उसे ही दरवेश कहते हैं। क्योंकि उस समय उनका अपना कुछ कहने के लिए न होने कारण वे स्वभावत: दरिद्र होते हैं। अब ऐसा गाढ़ा अथवा गहरा प्राणायाम अथवा उत्तम प्राणायाम हो रहा है कि देह के भीतर स्थित वायु ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा है। मस्तक का पिछला हिस्सा भारी महसूस हो रहा है। कूटस्थ में जो लघु विन्दु अर्थात् ध्रुवतारा दिखाई दे रहा है उसका जो रंग दिखाई देता है वह अनाम हैं, उसका कोई नाम नहीं; ऐसा रंग ही प्राणायाम का रंग है और वही रंग प्राणका है तथा वही रंग ब्रह्म का है। जब ये सब रंग मिलकर एकाकार हो जाते हैं तब अपना रूप भी भगवान स्वरूप दिखाई देता है। १८७१ ई० कार्तिक कृष्णपक्ष की अष्टमी को द्वादश या बारह आत्मसूर्यों का चित्र आंका है। बीच में एक वृहत सूर्य और वृत्ताकार ग्यारह सूर्यों का चित्र अंकित है—उसके बगल में लिखा है—**"सूर्य का भितर नारायण का षुदर्शन चक्र। बड़का विन्दि में बिचमे जरद रंग ओकरे बाद बेगुनि रंग उचके बाद शपेदी दुसरा विन्दि करिया रंगका उचका भितर एक खिरिके तिचके भितर मालुम होता हय आप-रुपी भगवान इसब विष्णुका चक्र में देखा।"** अर्थात् उस आत्म सूर्य के भीतर नारायण का सुदर्शन चक्र देखा—वड़ा विन्दु या वृहत सूर्य के बीच में जर्द अर्थात् पीतवर्ण, उसके चारों ओर बैंगनी रंग और उसको घेरे हुए है सादा अथवा सफेद रंग। इन तीन रंगों के बाहर जो ग्यारह सूर्य हैं उनका रंग काला है। उसके भीतर एक खिड़की देखी और उसी के भीतर स्वयंस्वरूप भगवान को देखा। यह सब कुछ समष्टि मंडल रूपी विष्णु के भीतर देखा। उसके पश्चात् फिर लिखा है—**"दाहिना स्वासा जब तक चले तब तक सब कुछ देखे फिर विनास होय—लेकिन पहेले दहिना ४लेने के बाद फिर वाय चलता हुय याने वाँवा जो कि स्थिर कालरुप हय।"** दाहिनो नासिका में यानी पिंगला में जितनी देर तक साँस की गति रहती है उसे रज: गुण कहते हैं। यह रज: गुण सारे कर्मों की प्रेरणायें सहेजता, जुटाता है इसीलिए सारा कर्म-सम्पादन होता है। जीव के इस प्रकार रज: गुण में रहने पर अन्त में उनका विनाश हो जाता है। किन्तु पहले दाहिनी नासिका में साँस चलने पर फिर बाँयीं नासिका में अर्थात् इड़ा में गति होती है; यह इड़ा भी जीव का काल-स्वरूप है अर्थात् इड़ा में रहने पर भी जीव का विनाश अवश्यम्भावी है। इसलिए जीव को प्राणकर्म द्वारा इड़ा और पिंगला से परे सुषुम्ना में जाना होगा; यह सुषुम्ना ही विष्णुधाम है; किन्तु इसके भी सत्व-गुणान्वित होने के कारण योगी इड़ा पिंगला और सुषुम्ना से परे त्रिगुणातीत अवस्था अर्थात् जहाँ सत्व, रज एवं तम तीनों गुण ही नहीं

हैं; उस कालातीत और द्वन्द्वातीत स्वच्छ महाशून्य में लीन हो जाते हैं; जहाँ ब्रह्मा विष्णु महेश्वर भी नहीं हैं, इसलिए जन्म भी नहीं; मृत्यु भी नहीं। **"आंख जयसे अन्धेका ठहर जय ओयसा विषय को जोन देखे केवल ब्रह्मको देखे उसकाभि आँखे थाम जाय अभ्यास बस ठहर जाय।"** अर्थात् अन्धे व्यक्ति की आँखें जिस प्रकार ठहर जाती हैं उसी प्रकार जो विष्णु को देखते हैं उनकी भी आँखें वैसी हो जाती हैं। ठीक उसी तरह जो ब्रह्म को देखते हैं उनका भी मन एवं आँखें सभी स्थिर हो जाते हैं। यह अभ्यास सापेक्ष है अर्थात् प्रतिदिन नियमित क्रिया करने से स्थिरत्व प्राप्त होता है। स्थिरत्व ही ब्रह्म है। इसलिए प्रतिदिन सब को क्रिया-साधना का अभ्यास करना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने फिर लिखा है—**"अभ्यास द्वाराय कोन कर्म ना करिलेओ करा हय।"** यानी अभ्यास के द्वारा कोई कर्म न करने भी करना पड़ता है। वे सब को क्रिया योग की उपकारिता के सम्बन्ध में समझाते हुए बार-बार कहा करते— **"तोमार निजेर भालो किसे हवे ता तुमि निजेइ जान ना।"** अर्थात् तुम्हारा अपना भला किससे होगा, वह तुम स्वयं नहीं जानते। तुमलोग जो सारे कर्म करते रहते हो, उससे ही अपने कल्याण की बातें सोचते रहते हो; किन्तु ऐसी बात बिल्कुल नहीं है. इसलिए तुम खुद नहीं जानते कि कौन सा कर्म करने से यथार्थतः कल्याण या मंगल होता है। क्रिया करने से ही सभी का मंगल होता है। **"एयसा मालुम होता हय कि कुछ चिज मिला अर्थात् तृप्त।"** अर्थात् क्रिया करते-करते ऐसा मालूम होता है कि कुछ प्राप्त हुआ; उसे पाकर तृप्त हुआ, पूर्णकाम हुआ। एक गीत मुखर हो उठता है—

"मेठाइ खेये मन कइ तृप्त हलो ना
एमन धन कइ याहा कखन याय ना
गुरु तुमि बले देओ बले देओ ना
से ये सर्वत्रेते आछे विराजमाना
अरे तुइ देखना देखना, देखना
चक्षुर सम्मुखे विराजे सून्यषना
वे ब्रह्मपद मनेते मिलाय ना
एक हले बाँकि किछु थाकबेना
मनेर आनन्द मने धरबे ना
तखन ब्रह्म विना आर हबे ना
एपद पावेना मूल मंत्र विना
यंत्रि विना केवल यंत्र यंत्रना
ताहा विना नाइ अन्य आराधना

ए आराधनाय सुख अतुलना
भुलिले पाबे तुमि जम यंत्रना
कलुर घाके पड़े प्राण रवे ना
घोरा मात्र सार लाभ किछुइ ना
हरिनाम[1] निते अलस करोना
नइले परम पद तुमि पाबे ना

● ● ●

काली देखे कालमय पाय
से ये किछु नय अथय सर्बमय
निर्जने बसे भेवे[2] देख पाबे सेइधन
ये कि हरे विधन ओ सकलेरि निधन
प्राण जाय जाक क्षति नाइ
पाइबे आमि सेइ धन
हरिधन अमूल्य रतन।"

● ● ●

"हरिमुखे हारा गेलो वाप
आरतो प्राणे वांचिना,
प्राण प्राण क'रे ह'लाम खून
प्राण येखानकार सेखानेतो गेलोना
स्थिर भावे स्थिर हइ ए मनतो
एखन स्थिर हलो ना
लेगे थाक हपिदे[3] हवे अवश्य ताहार करुणा।
जेने सुने तुमि हरि बलिते कखन आलस्य करोना।"

● ● ●

१—'हरिनाम' अर्थ में अन्तर्मुखी प्राणकर्म।
२—'भेवे देख' अर्थात् क्रिया करो।
३—हरिपदे लेगे थाका अर्थात् प्रतिदिन नियमित क्रिया करना।

"से ये विषम घटना ओ प्राण बांचेना
येते छिल आपन मन्दिरे सेथाय करे फेलले एक खाना।
बेटा येमन बेटी तेमन विटिर मजाय झुलना"

● ● ●

सुरेश उह विख्यात जगत में सुरन के
मालिक ओहि होइ
विश्वाधार हय उह जगत में
उह बिना रहे न कोइ।
गगन सदृश आकार वाको
देखत स्थिर घर जाइ
मेघवर्ण रंग वाको भलि लहे
अक्षर जब देखाइ
शुभांग इसलिए कहलावे बुद्धि
सुमति ले जाइ
लक्षिकान्त ओहि रटतुं हय
दारिद्र सब नसाइ
इच्छा होय दरिद्रता बढ़े इच्छाइ
उल्टे सन्तोष होइ
कमल नयन वाके लोग कहत हय
जेका सोभा वर्णन न जाइ।
जोगिभिर्ध्यानि अगमरुप हय
पइहो सब परिवार थोइ।
वन्दे भक्ता भयभय हरं अजपा
सिद्ध जब होइ।
सर्थलोकैकनाथ मिले तब
बाजत आनन्द बधाइ॥"

● ● ●

"बारतो पका अबहु मन लेया चरण भगवान
सुमिरत जाहि हो जाई एबओ छूटे अभिमान
टेक पकड़ साधू वचन होइहे ओंकारतान
नाम देव एहि नाम लेत हो गए अन्तरधान।"

● ● ●

"खेते दिवि सुते दिवि
करते दिवि सकल कर्म ।
मनमत इच्छा छेड़े तुष्ट हय
देखे आत्मकर्म ।।"

इसी अवस्था की ओर लक्ष्य करते हुए श्री कृष्ण भगवान ने कहा है—

प्रजहाति यदाकामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।

—गीता : २।५५

अर्थात् हे पार्थ, परमानन्द रूप आत्मा में स्वयं तुष्ट होकर जब योगी मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग करते हैं तब उन्हें स्थितप्रज्ञ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वयं तुष्टि स्वरूप आत्मानन्द में मग्न होकर जब योगी सभी प्रकार की कामनाओं-वासनाओं का परित्याग करते हैं यानी कर्मातीत अवस्था रूपी परमात्मा में मन की स्थिति हो जाने पर जिन्हें प्रकृष्ट ज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्राप्त होता है वे ही स्थितप्रज्ञ हैं।

"प्राणवायु को विन्दु में ठहराने से वायु स्थिति हो जाय वायु विन्द विधारणं।" अर्थात् कूटस्थ में ध्रुवतारा रूप जो विन्दु दिखाई देता है। प्राणकर्म करते-करते प्राणवायु को उस विन्दु में स्थित करने से ४९ वायु ही स्थित हो जाते हैं एवं ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है। यही वायु विन्द विधारणं का अर्थ है।—**"नाद वेधना—आवाज सुमार करे नरिके जिह्वा अग्रकर रोके ओंकार ध्यावे तब स्थिर होए ओ नेत्र नासिका विच ध्यान करे निराले बइट के तब निरालम्ब प्राप्त होय। तब आनन्द शब्द से धुन होता हय—धुन से ज्योति—ज्योति से मन हय ताहा मन लौलिन होता हय सो विष्णु का पद है।"** अर्थात् नाद ध्वनि को वेध कर, ओंकार का सुमिरन या स्मरण करते हुए जीभ को तालु के छिद्र में रखकर ओंकार का ध्यान एवं क्रिया करते रहने से स्थिरत्व की प्राप्ति होती है। एवं आँख एवं नाक के बीच अर्थात् कूटस्थ में दोनों आँखों को स्थिर करके एकान्त स्थान में बैठकर प्राणकर्म करते रहने से निरालम्ब अवस्था प्राप्त होती है अर्थात शून्य में स्थिति होने से अवलम्बन रहित हुआ जा सकता है। आनन्दरूप शब्द से ध्वनि उत्पन्न होती है; उस आत्मज्योति में मनका लय अथवा लोप हो जाने से जिस स्थिर पद की प्राप्ति होती है उसे ही विष्णुपद कहते हैं अर्थात् महास्थिर रूप महाशून्य ही विष्णु पद है—**"इसि तरह देखते-देखते उस देखने को आपने आख उस जगह से न हटावे—आउर देखते हि जाय लेकन जब उतर आवे तब फिर उसि तरफ आपना आँख न हटावे आउर थोड़ा नीचे दम को छोड़ फिर अच्छि तरह से उठावे इसीतरह देखते-देखते फिर**

आधियारा फिर ख्याल से फाड़ते-फाड़ते सुबह क माफिक मालुम होगा तब ज्योत विच में करिया पहले आग के माफिक ओ धूप के माफिक जरदरंग देखाय उसके बीच आतसबाजि ओगयरह—फिर सबुज, रंग होगा तब लाल रंग—तब हरा—तब निला, तब काला—अँधियारा सन्नाटा—फाड़ते जाय फिर सुभ होय फिर भितर से ज्योत देखलाय सामने अँधियारा उसिको देखे।" अर्थात् उस आत्मज्योति या महा-स्थिर रूप महाशून्य विष्णुपद को देखते-देखते उसमें तन्मय हो जाना पड़ेगा। उस पर दृष्टि को स्थिर करना होगा; किन्तु वहाँ दृष्टि न हटाकर देखते ही रहना है। फिर जब वहाँ से अर्थात् कूटस्थ से नीचे की ओर आओगे (कूटस्थ से नीचे उतर आने पर जगत दिखाई देता है।) तब भी कूटस्थ में अभिनिवेश पूर्वक दृष्टि को स्थिर रक्खो तभी जागतिक या सांसारिक सभी कर्मों से निर्लिप्तता की अवस्था प्राप्त होगी और तब कर्म का बन्धन नहीं रहेगा। इस प्रकार कूटस्थ में दृष्टि स्थिर रखकर उत्तम प्राणकर्म के साथ फिर कूटस्थ की ओर उठोगे। देर तक इस प्रकार षटचक्र के भीतर आत्मक्रिया द्वारा रत रहने पर कभी शाम के आकाश की तरह या फिर कभी भोर के आकाश की तरह प्रकाश हीन, अन्धकार हीन महाशून्य दिखाई देगा। इसके बाद जिस ज्योति का दर्शन होगा, वह कभी काली, कभी आग की तरह और कभी धूप की तरह पीले रंग की दिखेगी कभी-कभी उससे आतिशबाजी की तरह फुलझड़ी विच्छुरित होगी। फिर सब्जरंग होगा उसके बाद लाल रंग फिर हरा फिर नीला रंग होगा; उसके बाद काला होगा फिर सायंकालीन आकाश जैसा महाशून्य होगा। इसके पश्चात और भी क्रिया करते रहने पर पुनः भोर के आकाश जैसा न अन्धकार न प्रकाश जैसी अवस्था होगी। और भी आगे बढ़ने पर पुनः भीतर से ज्योति दिखाई पड़ेगी एवं अन्त में जो सन्ध्या के आकाश जैसा महाशून्य दिखाई देगा उसे ही देखते रहो। प्रकाशहीन, अन्धकार हीन, किन्तु स्वयं प्रकाश स्वच्छ वह महाकाश ही निर्मल ब्रह्म है। **"जो ब्रह्म सोइ सून्य सोइ सूर्य ज्योति। महादेव सो ए हय सूर्य के भितर।"** जो ब्रह्म वही महाशून्य है और वही आत्मसूर्य की ज्योति है। उस आत्मसूर्य के भीतर जो हैं, वही महादेव है। **सूर्यइ निराकार परमब्रह्म स्वरूप ओंकार रूप।"** अर्थात् वहआत्मसूर्य ही निराकार परमब्रह्म स्वरूप ओंकार का रूप है **"सूर्यइ ओंकार मालिक।"** वह आत्मसूर्य ही ओंकार मालिक है अर्थात् जो कुछ भी है उसकी उत्पत्ति और लय का स्थान है।

"उलटि वासो ज्ञान को लागि
इसविध देवा सेवू। —अर्थात् पीछे ले जाना
गुरुगम भितर जपे अजपा। „ प्राणायाम

हृदय पुस्तक किजिए ।। — हृदय देखना
अनभओ कथा किछु भाइ साधो
इह विध पाठ पढ़िजेत —भविष्यत
अनहद घन्टा झालर बाजे। —अनाहत शब्द
अलख पुरुष कि सेवा ।। —पुरुषोत्तम
पुराधा निरन्तर एयसा साधो। —रातदिन साधना करो
वोम वोम से देवा ।। —सर्वव्यापी
गंगा जमना रहे सरस्वती। —इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना
जहाँ जाय ध्यान का धरि जो। —बन्द करके ध्यान धरे
त्रिकुटि मन्दिर बेंठा साधो। —आज्ञाचक्र में ध्यान (भौंह का ध्यान)
ओहाँ जाय दर्शन कीजिए। —कूटस्थ
सहज सिंहासन निर्भय सेवो। — सहज समाधि
चित कि चमर किजिए ।। —चित्त का चँवर यानी मन से प्राणायाम।

१८७३ ई० पहली नवम्बर को लिखा है—"**ओंकार आउर स्थिर बड़ा गम्भीर। जो ओंकार सो मेरा रूप। ओंकार सार शब्द—ओंकार शब्द जेयादा सोके सुनने लगे। स्थिर घर बड़ा सुख।**" अर्थात् आत्म सूर्य ही ओंकार है यह ओंकार अब और भी स्थिर एवं गम्भीर हुआ अर्थात् अत्यन्त ध्वनियुक्त हुआ। ओंकार अर्थात् आत्मसूर्य ही मेरा रूप है। यह ओंकार समस्त शब्दों का सार है; क्योंकि इस आत्मसूर्य से ही सभी शब्दों की उत्पत्ति होती है। अब उस ओंकर ध्वनि या शब्द को सोये-सोये अधिक सुन रहा हूँ। यह जो स्थिरावस्था है यही परमानन्द है ऐसा आनन्द और किसी में भी नहीं। इसके पश्चात् जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय जो जीव की चार अवस्थायें हैं उनकी व्याख्या करते हुए योगिराज ने कहा है—

जाग्रत (जागना) **सुरत में प्राणायाम के हमेसा रहना** अर्थात् कूटस्थ अक्षर को हमेशा देखना—निरन्तर ब्रह्म में लीन रहना।

स्वप्न (अल्प निद्रा) **सब संसार को स्वप्नवत देखना कभी-कभी सच्चा मानना—उसीमे विह्वल रहना।** अर्थात् समस्त संसार को स्वप्नवत देखना और कभी-कभी सत्य मानना उसी में विह्वल रहना।

सुषुप्ति (घोर निद्रा) **ओंकार अनहद में थोड़ा लगना और छूट जाना। उसी में मन को लय करना।**

तुरीय—**महानिद्रा** अर्थात् जाग्रत में अजाग्रत रहना। ब्रह्म और मन को एक करना, एक हो जाना। जीव के अवस्थान के सम्बन्ध में कहा है—

"ओंकार—कूटस्थ अक्षर द्रोणाचार्य—

चक्रव्यूह —माया	}	इसके भीतर जीव बैठा है।"
शकट व्यूह —कर्म		
कमलाव्यूह —मोह		

"शान्ताकार शान्ताकार कहे सब कोइ
श-अन्ते भया जिसका ओहिमर्म पाइ
गुरुकृपा बिना भए कइसे मंगल होइ
श-के अन्ते आउर क्या केवल ओंकार होइ
शान्ताकार देखे पर नयन में दुइ विन्दि होइ ॥
वाको देखे ओहि रुप नव फिर होजाइ
भुजाबल जो साँप चलत घराइमे ओपर नर सोइ।
भुजग एयसा बना हय सुर नर मुनि सबे खाइ
पद्मनाभ सान्त्र वाको कहत हय
नाम कमल हरदम आइ ओ जाइ ॥"

"बलगो बल आमाय बल
तारे देखे एलि कोथाय
सकल ज्योतिर ज्योत
आनन्देरि श्रोत
नाच काली कोमर नेड़े
आमार माथाय ॥"

"कन्ठे बसो तुमि हरिरमनि
के जाने मा तुमि कार रमनि
शिवे शैवानि त्रिलोचनिवानि
कात्यायनि कादम्बिनि भवानि
शुलपानि खड़गपानि सर्वानि
शिशि शब्द वले करबे ध्वनि
जगत पिता भर्ता संहारिनि
अनाहत हय ओंकार ध्वनि
ध्वनिरन्तर ज्योति स्वेतरूपिनि
के जाने कि काली काल नागिनि
स्वरूपाख्याने से मन रमनि ॥"

"पेये छेड़ोना कोन जन, से जे विरलेर धन
स्वप्रकाश मन, वलार था पायना मन
अवर्ण वर्णन आछे वेदेर लिखन
से जे अभावेरि भाव—माथार टनक नड़ा भाव
भाबते गेले कूल ना पाय मुनिजन
कालो घाटे चलोरे मन जेथाय आछे हरिधन
जेखाने श्रीनाथेर धाम आनन्द कानन।"

"कार साद्धि ठोकर मारे
ए अतल स्पर्शे।
यदि थाकेन-त्रिपुरारि
तवे तो भरसा करि
नतुबा प्राणेमरि
सकल जाय भेसे॥"

"आँख मूँदे तुम क्या देख
वइठे व्रामण राम
आँख आप मूँदे तब देखो सहजे आत्माराम
आत्मा क्या देखाइ पड़े
भूठे ध्यान धरोमति
तदा लक्षण आत्मानं
ज्योति रूपं प्रपश्यति
आत्मा देखे क्या फल
आउर कैसे कार्य सधाय
परमात्मा मने मन
जयसे विर्य पड़ जाय।
दूरे दूर कवले सोचे
यामे हय बड़ कष्ट
भक्ति से पलमे मिले तब
एक सर्व विशिष्ट।"

एक जन आछे पड़े
बलोना बलोना तारे
सेजे अन्तरेरि अन्तर
बलबे केमन करे।

जड़वत स्थिर सेजे

आबार जितेछे चपलारे

माताल के मत्त कराय

गुण के बलते पारे।

सगुण निर्गुण से तो

आमा छाड़ा बइते नारे

मन जेनेशुने केन ना

चिन्ता कर सदा तारे।

अष्टसिद्धि पड़े आछे

चिन्तामणिर नाच द्वारे ॥"

"मन राजा को भगवान के तरफ लगा
पाँचो इन्द्रिको लड़ाइ करे
सब इच्छा के साथ
तब सइच्छा को दूर करेगा ॥"

"आँखि देखे आँखि

उचे धाय

किछू ना देखते पेये

केवल चोख रगड़ाय

मिछे केन मनके

भ्रमण कराय

देखतो घटेर भितर

स्वरूप जलधर काय।"

"हे मन देओ तुम सदा हाजिरि,
आपस में क्या तुम करो जारि।
ले ओ रामनाम का तबिलदारि,
राम के धनुया राम तोड़ डारि।
इह काम हय…अत्यन्त भारि
साँप के मारने से हय हुनरि
मदन हय दुस्मन बड़ भारि
मदन का अग्नि हय हमेशा जारि।
नागरस देकर उस्को मारो
नागिन के तब उप्पर जारो।

रगड़-रगड़ तब उसको जारो
एयसेकर परम लाभ करो।
ब्रह्मपद कांचन एक कर निहारो,
अतुल्य धन हय तब तुमारो॥
क्षिति चक्रे जावि
चार विन्दु देखते पावि
तार मध्ये बिज 'लं' पृथिबि॥"

इस प्रसंग में योगिराज ने प्रश्नोत्तरी शैली के माध्यम से एक अपूर्व योग सम्बन्धी शिक्षा दी है—

प्रश्न—ब्रह्मा किसे कहिदेहु गुरु मुझे बताय।
उत्तर—खाने से इच्छा उपजे उह चौदिश धाय।
प्र० हमतो उसे देख बहि क्यासा हय उस्का काय।
उ० हंस उस्का नाम हय उप्पर इच्छा जाय।
प्र० हंस किसे कहे, इस्का क्या हय अभिप्राय।
उ० स्वासा हंस का रुप हय बढ़े उल्टा चलाय।
प्र० आदमि क्या पानितरे मट्टि छोड़के जाय।
उ० गरमि प्राणायाम से पानि शिरदि आय।
प्र० हंस की आवाज दिजिए आदमि से मिलाय।
उ० यं, रं-लं-वं सक्ति विन्दु मिलदेत सुनाय।
प्र० इह सब क्या हय हमे दिजिए समझाय।
उ० लं पृथिवि बिज हय एहि सब कराय।
प्र० लं कइसे पृथिवि बिज दिजिए बताय।
उ० दन्तवर्ण चौरंगि इच्छा मनमे देखाय।
प्र० निराकार क्या मनुष्य रहे पृथिवि आय।
उ० स्वाद रहित भोजन निराहार बोलाय।
प्र० आहार बिना कइसे जिए पृथ्वितल आय।
उ० निःशब्द इच्छारहित मनहि मन जाय।
प्र० रं बिजका क्या कारखाना दिजिए देखाय।
उ० उस्का शुक्लवर्ण जलरूप दर्शाय।
प्र० जल से क्या इच्छा भया सो दिजिए बताय।
उ० जिह्वा से जल गिरे इच्छा मालुम हो जाय।
प्र० लोभ का क्या रूप है कधितइ देखाय।
उ० लालमू आख आठ ओर उचका कहाय।
प्र० रं रक्तवर्ण अग्निमण्डल क्योंकर देखाय।
उ० मारे बान जब शब्द का बोले विनाश रहाय॥

प्र० वायुमण्डल धूम्बवण मदनालाय।

उ० उहाँ वांछाति रिक्तफल कभि न नशाय।

इस प्रकार योगिराज ने अपनी दैनिक साधना की उपलब्धि के सम्बन्ध में बताया है—"ब्रह्म जल का रूप हय। रक्तवर्ण सूर्य देखा। धुआ से कुछ पतला ब्रह्म का रूप निराकार मालुम हुआ।"

योगिराज अपनी दिनलिपि या डायरी में प्रायः सभी कुछ लिख लिया करते थे। उनकी डायरी से तत्कालीन बाजार की दरों के सम्बन्ध में एक तथ्यपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। १८९० ई० ३१ दिसम्बर को उन्होंने काशी के प्राणकृष्ण मोदक नाम के एक दूकानदार को छह सेर सन्देश का मूल्य तीन रुपया दिया है एवं आधामन दूध का दाम अढ़ाई रुपया दिया है। उसी दिन रामचरण नाम के एक दूसरे दूकानदार को पाँच सेर तीन पाव बुँदिया का दाम दो रुपया छह आना, दो सेर तीन पाव कचौड़ी का दाम एक रुपया ग्यारह आना एक पैसा, पाँच सेर जलेबी का दाम दो रुपया तीन् आना एवं साढ़े आठ सेर माठा का दाम दो रुपया सात आना।

● ● ●

योगिराज ने अपनी डायरी में भगवान श्रीकृष्ण एवं उनकी लीला के प्रसंग में प्रश्न एवं उत्तर के माध्यम से जिस यौगिक व्याख्या अथवा अनन्तर व्याख्या को लिख रक्खा है वह ज्यों का त्यों यहाँ प्रस्तुत है।

प्रश्न—श्रीकृष्ण का मथुरा में देवकी और वसुदेव की सन्तान के रूप में जन्मग्रहण, तत्पश्चात कंस के भय से वसुदेव द्वारा गोकुल में नन्दभवन में रखना। नन्द और यशोदा के पुत्र के रूप में ख्यात होना, गोकुल से गोप एवं गोपियों के साथ वृन्दावन में आगमन, वहाँ बलराम के साथ समस्त गोपों की सहयोगिता द्वारा गोचारण, उल्लम्फन (उछलना कूदना) माखन चोरी, के लिए यशोदा द्वारा उलूखल-बन्धन एवं हाथ से दोनों अर्जुन वृक्ष (यमलार्जुन) को उखाड़ना, कंस द्वारा भेजे गए अनेक असुरों का बलराम की सहायता से हनन करना। यमुना मध्यस्थकालिय दमन, अग्निपान, नन्द द्वारा इन्द्रयज्ञ की मनौती के प्रति निवारण अथवा असहमति प्रकट करते हुए अपने यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रदर्शन, इन्द्र के कुपित होने पर मूसलाधार वृष्टि से व्रज के गोप-गोपाँगना की सुरक्षा के लिए गोवर्द्धनधारण, शैशवावस्था में दोनों पैरों से एक शकट को उलट देना, पूतना का स्तन-पान द्वारा वध करना, वेणुरव अथवा वंशी की ध्वनि में देवगणों से लेकर स्थावर-जंगम सभी पदार्थ ही समाहित, सम्मोहित,

यहाँ तक कि परस्त्रियों का भी निशाकाल में गृहत्याग एवं उनके अपने पतियों, पुत्र-परिजन आत्मीय आदि का त्याग करवाकर उनका वस्त्र या चीरहरण एवं पूर्णिमा में रास क्रिया या लीला करके उनके साथ भिन्न-भिन्न कृष्ण के रूप में रमण तत्पश्चात् बलराम के साथ मथुरा जाकर मत्तहाथियों एवं चाणूर, मुष्टिक, अन्यान्य असुरों तथा कंस-वध के पश्चात् द्वारकापुरी का निर्माण तथा वहीं अवस्थान।

उत्तर—श्रीकृष्ण — कूटस्थ

श्रीकृष्ण	कूटस्थ
मथुरा	मस्तक
देवकी	शरीर
वसुदेव	आत्मा
कंस	माया
गोकुल	कंठ-मूल में जिह्वा द्वारा अवस्थिति
नन्दभवन	स्थितिपद
गोप-गोपांगना	ओंकार की क्रिया द्वारा और आत्मशरीर के सहयोग द्वारा।
यशोदा	स्थिति होने पर यश होता है
व्रज	चला जा रहा है या गतिशील है।
वृन्दावन	कूटस्थ के भीतर वन इत्यादि देखना
बलराम	वलपूर्वक वायु में तान स्थिर
गोप	त्रिकुटा, ब्रह्मरेखा, पंचस्रोता, इत्यादि अनेक प्रकार की क्रियायें, जीभ के सभी स्थान
गोचरण	गो शब्द का अर्थ है जीभ चारण अर्थात् ले जाना अर्थात् जीभ को तालु-विवर में ले जाना।
उल्लम्फन	जीभ को उछालकर ऊपर उठाना
प्रलम्फन	अच्छी तरह जीभ को उठाना
माखन चोरी	चन्द्रलोप, चन्द्र कूटस्थ में मिल जाना
यशोदा द्वारा	यश की स्थिति हुई
उलूखल	मस्तक
वन्धन	अटके रहना, टिके या बँधे रहना।
हाथ द्वारा	सुषुम्ना
दो अर्जुनवृक्ष (यमलार्जुन)	इड़ा, पिंगला
उखाड़ना अथवा पातन	उखाड़ फेंकना अर्थात्, इड़ा पिंगला का त्याग करके सुषुम्ना में स्थिति।

अनेक असुर	अन्य दिशा की ओर मन
हनन	नाश
यमुना	पिंगला नाड़ी
मध्यस्थ	सुषुम्ना
कालिय	चलने का नाम, काल, कालिय, जगत
दमन	स्थिति
अग्निपान	वायु द्वारा जल, अग्नि शोधित होकर शरीर में अग्नि होती है, उस वायु के स्थिर होने पर अग्निपान होगा।
इन्द्रयज्ञ	कूटस्थ के भीतर ब्रह्म में स्थित रहकर टिके रहना।
निवारण (निषेध)	मन को अन्य ओर लेने के प्रति निषेध-निरोध
अपना यज्ञ	क्रिया की पर अवस्था
इन्द्र ने कुपित होकर मूसलाधार वृष्टि की	आसक्ति के साथ आँखों के द्वारा अथवा अनुमान और मन के द्वारा अन्य तत्त्व में स्थित रहकर एक के पश्चात और चिन्तन की वृष्टि हुई।
गोवर्द्धन धारण	ओंकार क्रिया के निमित्त जीभ बढ़ाना और धारण करना।
शैशवावस्था में दोनों पैरों से शकट उलट देना	क्रिया प्राणायाम के द्वारा नीच से मस्तक की ओर उठना—यही शकट उलटना है।
स्तन पान के द्वारा पूतना-वध	वक्ष में वायु स्थिर करके अनात्मा का नाश करना
वेणुरव	क्रिया की अवस्था में 'शि' 'शि' शब्द या ध्वनि
ब्रह्मादि	समस्त इच्छायें।
देवगण सहित स्थावर-जंगम सभी पदार्थ मोहित	अर्थात् सब कुछ वश में होता है इच्छा के अनुसार सब कुछ होता है।
परस्त्री	माया
निशाकाल	जब अन्धकार हो।
गृहत्याग	आत्मा में न रहकर पंचतत्व में मन की स्थिति

अपने या निज स्वामी	अहंकार
पुत्र आत्मीय	माया
वस्त्रहरण (चीरहरण)	निरावरण निर्वस्त्र अर्थात् सर्व ब्रह्ममय जगत।
पूर्णिमा में रासक्रीड़ा	सब में ब्रह्म को देखना
मत्त हस्तियाँ चाणूर, मुष्टिक अन्यान्य असुर एवं कंस	सभी माया
द्वारकापुरी	कूटस्थ

● ● ●

"सेवाय भगवान को जो कोइ काम करे सो बड़ा खराब आदमि हय—सब मन लुट जाय पर उस पर नजर न करे—जो भगवान को हामेसा ध्यान करे उसको काम उह करता हय।" अर्थात् जो व्यक्ति भगवान को छोड़कर या उसे दृष्टि में न रखके और सब काम करते हैं वे भले लोग नहीं है या अत्यन्त बुरे लोग हैं। जब वर्तमान चंचल मन का अस्तित्व नहीं रह जाता, मन, में अवस्थित हो जाने पर मन्मना अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् जब वर्तमान चंचलमन की ओर विन्दुमात्र भी ध्यान या उसका ख्याल न रहे और प्राणकर्म करते-करते जब इस प्रकार उन्मानी या उन्मना (आत्मविस्मृति) अवस्था प्राप्त हो जाए तभी यथार्थ रूप में उसे ध्यानावस्था कहते हैं। इस प्रकार उन्मनी ध्यानावस्था को जो हमेशा भगवान की ओर लगाए रखते हैं उनका सारा कार्य तब ईश्वर ही करते रहते हैं उसे फिर कुछ करना नहीं होता। क्योंकि तब और उसका कर्म नहीं रहता। इस अवस्था में उसके सारे कार्य अपने आप ही होते हैं। इसीलिये २६ मार्च १८७३ ई० को लिखा है—**"आहस्ते आहस्ते वेमालुम सब काम होता हय।"** यानी आहिस्ता आहिस्ता अनजाने ही सारे कार्य अपने आप होते रहते हैं। स्वयं को और चेष्टा द्वारा कुछ भी नहीं करना पड़ रहा है। योगियों की यह अवस्था कब होती है, इसके बारे में उन्होंने कहा है—**"विना इच्छार लाभ बड़ लाभ बोध हय तद्वत् बिना कुम्भक कुम्भक बड़ आनन्द।"** अर्थात् जिस वस्तु को प्राप्त करने की

कभी भी इच्छा न होती हो; किन्तु वही वस्तु अनायास प्राप्त होने पर जिस प्रकार उसे एक बड़ी उपलब्धि के रूप में महसूस करते हैं उसी प्रकार इच्छाकृत कुम्भक न करने पर भी जो कुम्भक अपने आप ही हो जाता है, उससे बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार के अवस्था सम्पन्न योगी सभी प्रकार की ईश्वरीय शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—**"सर्वशक्तिवान होने का आगम मालुम हुआ जो सकल सब चिज जानता हेय सो सकस सब चिज कर सेक्ता हेय। जब सब वँहि हेयं तो तो हमभि वँहि हेय त हम सब कुछ कर सेक्ता हय।"** अर्थात् सर्वशक्तिमान होने का आगम या रहस्य मालूम हुआ, ज़ो शख्स या व्यक्ति सभी चीजों को जान सकता है; वह शख्स सब कुछ कर सकता है। जब सब कुछ वही है तब मैं भी वही हूँ; इसलिए अब मैं भी सब कुछ कर सकता हूं। १३ मई १८७३ ई० को लिखा है—**"इह सूर्यहि आदि पुरुष हो जाता हय फिर एहि ब्रह्म का लिंगरूप लम्बा मालुम होता हय सोइ हम हय। उससे एक ज्योत निकलता हय जो न दिन न रात उससे मिल जाने का नाम हुआ लय तबहि शरीर से बुदा होता हय— आउर जो कुछ इरादा करे सो कर सक्ता हय—दस रोज रात दिन एकाग्रचित्त बिना खाए पिए सोए प्रेम लगावे तब इह बात सिद्ध होय विना सब आशा छोड़ने से इह बात कएसे होगा—आगे मंजि मालिक कि।"** अर्थात् यह ज़ो आत्मसूय देख रहा हूं यही आदि पुरुष हो गया फिर यही ब्रह्म का लम्बा लिंगरूप हो गया—वही मैं हूं। ब्रह्म के उस लिंगरूप से एक ज्योति निकल रही है जहाँ दिन भी नहीं है रात भी नहीं है,—स्वयं प्रकाश, उसमें मिल जाने का नाम लय है। इस प्रकार जब लय की स्थिति हुई तब शरीर निस्पन्द हो गया। इस अवस्था में इच्छानुसार सब कुछ कर सकता हूं; दस दिन, दस रात बिना कुछ खाए पिए, जागते हुए एकाग्र चित्तता के साथ एक आसन से आत्मकर्म करने पर ही यह अवस्था सिद्ध या प्राप्त होती है। किन्तु सभी प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं का त्याग किये बगैर यह कैसे सम्भव है? अर्थात् मन की तरंग से ही आशा की उत्पत्ति होती है। जितनी देर तक मन की तरंग रहेगी—आशा भी रहेगी। आत्मकर्म करते-करते जब सभी प्रकार की मनस् तरंगें लुप्त हो जाएँगी और मन पूर्णतः स्थिर होगा तब किसी प्रकार की आशा भी नहीं रहेगी। इस अवस्था की प्राप्ति पर सब कुछ अपने आप सिद्ध हो जाता है अर्थात् स्थायी स्थिति-अवस्था प्राप्त होती है। इसीलिए वे कालिक या अन्तर्यामी ईश्वर के ऊपर सारा भार छोड़कर उसकी शरणागति के प्रति संकेत करते हुए कहते हैं—इस बार सामने जो साधना का कठिन स्तर देख रहा हूं उसमें मालिक की जैसी

इच्छा, वही हो। इस कठिन स्तर के सम्बन्ध में उन्होंने १६ जुलाई १८७३ ई० को लिखा है—**स्वभाव ब्रह्म हय—इससे पार जाना मुस्किल आज इन्द्रिया ने सताया सबको मारके आशा त्यागके अपने आप लय होना काम हय—लेकन मगन रहने से आनन्द रहत हय—पर विषय चैतन्य नहि रहता हय—रात के अब एहि एरादा करता हय कि रातभर बैठके मगन कटावे—ताकत कुछ बड़ाना चाहिये।"** अर्थात् आत्मभाव ही ब्रह्म है, इसको अतिक्रमण करना कठिन है। इसीलिए आज समस्त इन्द्रियों का दमन करके सभी प्रकार की आशाओं को छोड़कर स्वयं को ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण रूप से एकात्म अथवा लय कर देना ही मेरा काम है। ब्रह्म ध्यान में मग्न रहने से हमेशा आनन्द ही आनन्द रहता है। उस अवस्था में विषय चैतन्य अथवा भोग्य वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति भाव नहीं रहता। इसलिए अब सारी रात ब्रह्मध्यान में निमग्न होकर समाधिस्थ अवस्था में बिताने की इच्छा हो रही है। उसके लिए अवश्य ही और कुछ अतिरिक्त शक्ति का संचय करना होगा। इसके पहले २९ जून १८७३ ई० को लिखा है—"**अब भितर-भितर कुछ कुछ जाने लगा—बड़ा कठिन कवारा—इहाँ कोइ हय नहि कि जिसको पकड़के होस में आदमि रहे—जयसे निद लेकन ठिक निद नहि हय—हमेसा ओंकार ध्वनि—राजा पुरुषोत्तम सामने खड़े—सन्तोषामृत पान—इस मजे के आगे कोइ मजा जो करे सो चाखे नहितो रहे गोता खाते।**—अर्थात् अब कुछ-कुछ भीतर-भीतर प्रवेश किया, यह कठिन किवार है। इसको पार करना मुश्किल है यहाँ ऐसा कोई नहीं है जिसे पकड़कर होश में रहा जाय अर्थात् प्राणकर्म करते-करते जब सब कुछ एकाकार हो जाता है तब दो या द्वैत के न होने पर कौन किसे पकड़ेगा? अर्थात् यह सांसारिक चिन्ताओं से रहित होकर एक बेहोशी की अवस्था है, नींद जैसी या फिर नींद जैसी भी नहीं। इस अवस्था में हमेशा ओंकार ध्वनि सुनाई पड़ती है। राजाधिराज पुरुषोत्तम सामने खड़े हैं। यही सन्तोषामृत पान है। इस प्रकार का आनन्द प्राप्त करने के पहले और सभी प्राप्त आनन्द तो केवल चखना है; ऐसे व्यक्ति संसार-सागर की तरंगों के थपेड़ों की मार से तो केवल गोते ही खाते रहते हैं। फिर लिखा है—**पिछे मेरुदण्ड मे स्वासा मजे से चलने लगा—आव घर में आए—आव बड़ा आनन्द—मुर्दा जिता हय जबतओ में लय हो जिसका कि ब्रह्ममय दृष्टि हय उनके इच्छा करने के पहिले मनोकामना सिद्ध होय अब स्थिर होने का लक्षणपक आया हय।"** अर्थात् पीछे की ओर मेरुदण्ड के भीतर अर्थात् सुषुम्ना में

श्वास सहज भाव से ही चल रहा है। अब स्थिर घर में आया। अब बड़ा आनन्द मिल रहा है। इसके पश्चात जब सब कुछ लय हो गया तब देहबोध नहीं रहा अर्थात् देह के भीतर स्थित सभी प्रकार की तरंगें लुप्त हो गईं। और एक देहबोध से रहित अवस्था की विजय हुई अर्थात् इस देहबोधहीन अवस्था में दीर्घकाल तक स्थित रहने का अभ्यास पक्का हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि इस देहबोध को ही मृत देह के रूप में परिणत करना तथा मृतवत् स्थिर होने पर उसके भीतर स्थित रहना ही यथार्थ शव-साधना है। किसी मृत देह के ऊपर बैठकर साधना करने से ही शव-साधना नहीं होती। इस प्रकार देह-बोध से रहित जिस योगी ने यह अवस्था प्राप्त कर ली है; उसकी दृष्टि सदैव ब्रह्ममय रहती है। किसी वस्तु की इच्छा करने के पहले ही उसकी वह मनोकामना स्वयं अपने आप पूरी हो जाती है। योगिराज इस अवस्था को प्राप्त करके कहते हैं–अब उस प्रकार की स्थिरावस्था का लक्षण दृढ़ एवं पुख्ता हो गया। यह योगियों की एक उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था में पहुंचकर उन्होंने ६ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है–**"ब्रह्मइ असल हय—सूर्यरूप हय फिर उह रूप नहि हय केवल ब्रह्म-अब एक जगह बइठका एरादा करे—साहस करके जो करे सो सो होय एयसा मालुम होता हय—स्त्रिमातारि पुरुष रूप लड़कि माका रूप लड़का बाप का रूप-वापमातारि सब जाता हय—आपना सब दोनों रूप रुक जाता हय—पुरुष प्रकृति छोड़ाय आउर कुछ नहि इह अनादि बना हय—उसका बहुत रूप हय इसलिए उह अनन्त रूप हय—लेकन एक ही रूपका सकल पसारा हय।"** अर्थात् ब्रह्म ही अस्ल है अर्थात् आदि है, यथार्थ है, वही आत्म-सूर्य रूप है और फिर वह भी नही रहा, महाशून्य में मिल गया, केवल स्थिरब्रह्म ही शेष रहा। अब केवल एक आसन से बैठे रहने की इच्छा हो रही है और यह भी समझ में आया कि अब साहसपूर्वक जो कुछ करूँगा, वही होगा। स्त्री-माता पुरुष रूप हो गए, कन्या, मा रूप और पुत्र, पिता रूप हो गए। इस प्रकार सभी पिता-माता के साथ एकाकार होकर महाशून्य में मिल गए। यहाँ तक कि स्वयं को जो स्वतंत्र देख रहा था, वह भी, स्तब्ध-स्थिर हो गया, एकाकार हो गया। इस प्रकार पुरुष-प्रकृति से अलग या अलावा और कुछ भी नहीं देख रहा हूँ, वह पुरुष-प्रकृति ही अनादि तत्त्व है। उस पुरुष-प्रकृति ने ही अनेक रूप धारण कर रक्खा है। इसीलिए वे अनन्त रूप दिख रहे हैं; किन्तु ब्रह्म के उस एक ही रूप से सभी कुछ जो अस्तित्व में है; उसका विकास, विवर्त और विस्तार-प्रसार देख रहा हूं। इसीलिए वे अपने सभी भक्तों से कहा करते—**"आइनेमे दुइ देखने से अहंकार एक देखने से कुछ नहि।"**

अर्थात् आईने में जबतक दो या द्वैत रूप दिखता है तब तक मन में अहंकार इत्यादि सभी रहते हैं; किन्तु जब सब कुछ एकाकार हो जाता है, एक या अद्वैत रूप हो जाता है तब और कुछ नहीं रहता; क्योंकि द्वैत या दो की अनुपस्थिति में अहंकार किसे होगा ? जहाँ दो नहीं, वहाँ प्रमाण नहीं। इस देह में जब तक यह भाव है तभी तक प्रमाण है और जब देह-बोध नहीं तो फिर दो नहीं, जैसे रूपा या रौप्य एक धातु है। यह धातु गुण जिसमें है वह भी रौप्य है, ये दो वस्तुएँ या गुण जहाँ नहीं हैं, वह प्रमाण से परे का स्थान है। तत्त्व की क्रिया करके क्रिया की जो पर अवस्था है, वही तत्त्वातीत स्थान है। दो रहने पर दुःख है, किन्तु दुखातीत होने की इच्छा करने पर हमेशा द्वन्द्वातीत क्रिया की पर अवस्था में स्थित रहना चाहिए। दो रहने पर ही द्वन्द्व की सृष्टि होती है और ब्रह्म द्वन्द्वातीत या द्वन्द्व से परे हैं। इस कारण ब्रह्म का प्रमाण एवं प्रमेय द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता। क्रिया करने पर जो सारे रूप दिखाई देते हैं—वे सब क्या हैं कहाँ से आते हैं और कैसे किस रूप में दिखाई देते हैं; इन तमाम प्रश्नों एवं चिन्ताओं के कारण मन में द्वेष पैदा होता है और उसे देखने की इच्छा होती है। समस्त दृश्यमान वस्तुएँ नाशवान हैं। सभी अवयवों या अंगों-उपांगों के भीतर जो अणुस्वरूप ब्रह्म है, उससे परे जो क्रिया की पर अवस्था है—वही तत्त्व ज्ञान है। उपरोक्त सभी रूपों को देखने पर मन में नाना प्रकार के तर्क उभरते हैं अर्थात् यह सब सही है या भ्रम है। इस तर्क के उभरने पर उसके स्वरूप का निर्णय करने की दिशा में द्वेष पैदा हुआ; इसमें भी ब्रह्म नहीं है। अन्त में तर्क वितर्क के द्वारा यह तय हुआ कि सब कुछ चंचल मन का कर्म है। स्थिर मन ही ब्रह्म है और इन समस्त रूपों के बारे में इतना सूक्ष्मतर आभास मिला था जो अनुभव सापेक्ष नहीं है। इस प्रकार का निर्णय द्वेष का कार्य है; किन्तु द्वेष में भी ब्रह्म नही क्योंकि ब्रह्म तत्त्वातीत है। क्रिया की पर अवस्था में जब मैं नहीं तब दो भी नहीं। इसलिए दो के न रहने पर द्वेष हिंसा तर्क इत्यादि कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में हमेशा रहने पर ही तत्त्वज्ञान होता है और नाना प्रकार के तर्क-वितर्क बाद-वितण्डा से परे ही शून्य तत्त्व है। यह शून्य तत्त्व ही ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्म तत्त्वातीत है। जहाँ दो हैं वहीं प्रमाण की जरूरत है; किन्तु प्रमाण से परे क्रिया की पर अवस्था हैं; क्योंकि वहाँ दो की स्थिति नहीं, इसलिए प्रमाण की जरूरत नहीं। तो फिर क्या एक है ? उस एक में भी रहना न रहना दोनों समान है क्योंकि जो एक कहेगा वह भी यदि एक हो गया तब एक का रहना न रहना दोनों समान है। इसलिये ब्रह्म प्रमाणातीत है; प्रमाण से परे है

ब्रह्म का प्रमाण ब्रह्म ही है। प्रमाण के रूप में चार प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द को मान्यता दी गई है। जिस प्रकार आँख के द्वारा रूप दिखाई देता है; किन्तु आँख तो मुर्दे को भी होती है फिर भी उसे दिखाई क्यों नहीं देता ? आँखों के माध्यम से जिस शक्ति द्वारा दिखाई देता है, वह ब्रह्म शक्ति या ब्रह्मतेज है। और समस्त तेजों का आधार ब्रह्म है। क्रिया की पर अवस्था में कोई तेज नहीं; लेकिन तेज है। क्रिया करने पर क्रिया की पर अवस्था उत्पन्न होती है। उत् = ऊपर ऊर्ध्व में पन्न, = स्थिति। उस समय प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्म में मिलने से क्रिया की पर अवस्था उत्पन्न होती है अर्थात् जो क्रिया की पर अवस्था पहले नहीं थी, वही उत्पन्न हुई— इसे ही ज्ञान कहते हैं और यह स्वयं के बोध का रूप है। तो फिर इस ब्रह्म की उपमा क्या है ? वस्तुतः उसे साध्य, साधना और साधर्म्य के द्वारा समझा जा सकता है। साध्य अर्थात् जिसकी साधना की जाये वह ब्रह्म है। साधना जिसके द्वारा साध्य वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् क्रिया और साधर्म्य क्रिया की पर अवस्था है। क्रिया की पर अवस्था में न रहने से ही मन दूसरी ओर जाता है। दूसरी ओर मन जाने से ही लक्ष्य का रूप स्थिर होता है और लक्ष्य होने से ही कष्ट होता है। दूसरी ओर मन का जाना पृथ्वी का कर्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही दोष है। प्रवृत्ति में रहने से ही जन्म होता है; क्योंकि क्रिया की पर अवस्था में न रहने से मन में जो तमाम इच्छाएँ उभरती और उत्पन्न होती है उनके अनुसार नाना प्रकार के कर्म होते हैं और वही कर्मफल जो भोग का निमित्त है, जन्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में रहने से इच्छा नहीं और इच्छा नहीं तो कर्म नहीं, फिर जब कर्म नहीं तव फल या प्रवृत्ति नहीं, फिर तो जन्म भी नहीं। अतएव जन्म-मृत्यु का रोध करने के लिए तक-वितर्क में न पड़कर तथा व्यर्थ में समय न नष्ट करके क्रिया करने का नाम ही साधना है। इस साधना के पश्चात् तेजों का तेज महातेज अर्थात् ब्रह्मतेज जहाँ तेज नहीं किन्तु तेज है, उस अवस्था में रहना पंचतपा की परिभाषा है—(चारों-दिशाओं में अग्नि और ऊपर सूर्य; इन पंचतापों या उत्तापों के बीच जो तपस्या करता है उसकी संज्ञा पंचतपा है।

वर्तमान के न रहने से भूत और भविष्य का अस्तित्व नहीं। इसलिए भूत एवं भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा है और वर्तमान के बिना प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियग्राह्य का आभास नही मिल सकता जब प्रत्यक्ष होता है तब वही वर्तमान है। इसलिए वर्तमान के अभाव में—अथवा काल के अभाव में प्रत्यक्ष या इन्द्रियगोचर नहीं है। और

Scanned by CamScanner

फिर जब प्रत्यक्ष नहीं तब भूत, भविष्य, काल वर्तमान कुछ भी नहीं। क्रिया की पर अवस्था में भूत-भविष्य, काल, वर्तमान कुछ भी नहीं; अतएव प्रत्यक्ष भी नहीं। यह जो क्रिया की परावस्था है वह क्रिया सापेक्ष है। यही अग्निहोत्र यज्ञ है, यही स्तुति है क्रिया करने के प्रति यदि कोई भी अनिच्छा प्रकट करे तो क्रिया की प्रशंसा करते हुए प्रत्यक्ष एवं दृष्टान्त के द्वारा उसे समझा-बुझा कर उसकी क्रिया के प्रति उत्साहवर्द्धन करने या प्रोत्साहन देने का नाम स्तुति है अर्थात् क्रिया करने से भला होता है, कल्याण होता है और अनेक लोगों को उत्तम गति प्राप्त हुई है—ऐसा कहना चाहिए। फिर जो क्रिया की दीक्षा लेकर क्रिया नहीं करते, छोड़ देते हैं—उनकी निन्दा करनी चाहिए। क्रिया करने से सभी प्रकार से भला होता है—यह बात उसे बार-बार समझा देना चाहिए। किस औषधि का प्रयोग करने से रोग दूर होता है यह आयुर्वेद में लिखा है और उस औषधि के प्रयोग से जब रोग शान्त या दूर हो जाए तब यह समझना चाहिए कि वह प्रामाणिक है। उसी प्रकार मन की शान्ति के लिए अथवा मन के लिए जो क्रिया है वह भी प्रामाणिक है। जिस प्रकार उपयुक्त समय पर उपयुक्त औषधि का प्रयोग न करने से रोग शान्त नहीं होता उसी प्रकार उपयुक्त गुरु के निकट मन के त्राण के लिए उपाय न प्राप्त होने पर मंत्र बेकार हो जाता है। मन के त्राण की अवस्था का नाम ही मंत्र है। जिन्हें यह अवस्था प्राप्त है उन्हें आप्त अथवा अभ्रान्त कहते हैं। ऐसे ही आप्त व्यक्ति दूसरों के दुःख से दयार्द्र होकर क्रिया का उपदेश दिया करते हैं। सम्यक रूप से मन का दान करने से क्रिया की पर अवस्था होती है। यही सम्प्रदान है और उत्कृष्ट रूप से मन का दान यदि हो सके तो वह कभी उसे छोड़ता नहीं और ऐसी स्थिति में वह हमेशा अटका या टिका रहता है और तब वह अवस्था ही नित्य है। क्रिया की पर अवस्था में जो गहरा नशा है उसके बाद जो थोड़ा या हलका नशा रहता है उसे ही क्रिया की पर अवस्था की परावस्था कहते हैं। योगी इस अवस्था में स्थित रहकर सारे कार्य करते हैं इसीलिए वे समस्त कार्य करके भी कुछ नहीं करते। लेकिन क्रिया की दीक्षा पाने मात्र से ही क्रिया की परअवस्था प्राप्त नहीं होती, इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास अनिवार्य है। इसलिए क्रिया का पाना क्रिया की परअवस्था का हेतु नहीं है बल्कि क्रिया करना हेतु है। जब भी क्रिया की जाती है तभी क्रिया की पर अवस्था अर्थात् समाधि होती है। इसीलिए अभ्यास ही क्रिया की परअवस्था का हेतु या कारण है, इसका और कोई प्रतिषेध अथवा निषेध नहीं। क्रिया की परअवस्था (समाधि) जो अतीन्द्रिय होती है उसमें कहाँ था, किस अवस्था में था, किस प्रकार

सुख में था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि निर्णय करने वाला मन तब नहीं होता। वह सभी प्रकार से तत्त्वातीत, गुणातीत और सत्त्वातीत है, उसमें अस्पर्श होने के कारण उसके नित्यत्व का प्रतिषेध नहीं और उसे व्यक्त करने का कोई उपाय भी नहीं। व्यक्ति में विशेष प्रकार से गुण का आश्रय होने से उसे मूर्ति कहते हैं। कृष्ण-मूर्ति की पूजा करते हो किन्तु कृष्ण में जो विशेषगुण है। उसकी मूर्ति जिसकी पूजा कर रहे हो, उसमें विशेषगुण का रहना तो दूर सामान्य जो सत्व, रज, तम है वह भी नहीं। विशेषगुण अर्थात् अनन्तगुण सम्पन्न वह नारायण उत्तम पुरुष हैं जिसकी मूर्ति हमारे-तुम्हारे और सबके भीतर है। उन्हें जानने से ही सत्यनारायण, नहीं तो मिथ्यानारायण का बोध होगा।

आत्मा का निमित्त बुद्धि नहीं है। बुद्धि का विषय सब चंचल मन का है, स्थिर मन में कुछ भी नहीं। क्योंकि ब्रह्म सदैव एक भाव में है, अपरिवर्तनशील है। मन आत्मा इन सब में केवल संज्ञा भेद है। जब मन आत्मा में होता है तब वह आत्मा और जब तत्त्व में होता है तब मन। सारी इन्द्रियाँ मन के वश में हैं और मन आत्मा के वश में है-तथा आत्मा परमात्मा के वश में है। एक ब्रह्म ही सब कुछ हो रहा है। पूर्व जन्म के अभ्यास के अनुबन्ध के कारण हर्ष, भय शोक क्रोध इत्यादि होते रहते हैं। पूर्वजन्म में जो सत्वगुण का कार्य करके आया है वह इस जन्म में भी और परजन्म में भी सत्वगुण का कार्य करेगा। पूर्वजन्म में जो सत्वगुण में था वह इस जन्म में शैशवावस्था से ही धार्मिक अथवा धर्म परायण होगा। और जो तमोगुण में था वह स्वभावतः ही हिंसक अथवा मन्दगति अथवा नीच मनोवृत्ति का होगा। शैशवावस्था से ही उसके सारे लक्षण दिखाई देने लगते हैं। जैसे कोई मेढक देखकर डरता है और कोई हाथ से पकड़ लेता है। कोई पुत्र शोक में अत्यन्त कातर होता है और किसी को अणुमात्र शोक नहीं। किन्तु पूर्वजन्म के अनुसार आत्मा का हर्ष, विषाद, भय, शोक क्रोध आदि से कोई सम्बन्ध नहीं। सारी इच्छाएँ मन में होती हैं और जो इच्छारहित है उसका जन्म नहीं। आत्मा जब इच्छा रहित है तब फिर आत्मा का जन्म कैसे सम्भव है ? किन्तु आत्मा के गुण विशिष्ट होने पर ही जन्म होता है। जैसे गुणरहित वृक्ष सूख जाता है उसी प्रकार आत्मा निर्गुण होने से ही ब्रह्म में लय हो जाता है। ब्रह्म अनन्त है और ब्रह्म से ही सब कुछ हुआ है। इसीलिए ब्रह्म की क्षमता भी अनन्त है जो ब्रह्मज्ञ हैं वे असीम क्षमतावान होते हैं। ब्रह्माणुओं के सन्निकर्ष से तीनोंलोक की रचना हुई है इसीलिए ब्रह्माणु के भीतर वे तीनों लोक को देख पाते हैं।

लेकिन स्थिरत्व के तारतम्य का हेतु एवं मन अथवा गुण के सन्निकष का हेतु अवस्थाभेद से अलग-अलग दिखाई देता है। जैसे मूलाधार में जगद्धात्री, सरस्वती गणेश और ब्रह्मा तथा स्वाधिष्ठान में राधाकृष्ण इत्यादि। यह देखने का कार्य भी पदार्थ या भूत का धर्म है; किन्तु क्रिया की पर अवस्था में कुछ भी नहीं दिखाई देता। ऐसी स्थिति में न दिखना ही यदि धर्म है तो फिर दीखता क्यों है? ब्रह्माणु के जिस विभाग में जिसका जो प्रकार व्यक्त होता है वही दिखाई देता है क्योंकि ब्रह्म के प्रत्येक अणु में तीन लोक की स्थिति है। वह अवस्था सूक्ष्मरूप में भूतों में प्रतिघात के कारण पृथक दीखती है। इसलिए वह देखना भी भौतिक धर्म है। कूटस्थ की महत् ज्योति अन्यान्य पार्थिव ज्योति को ढँके रहने से दिन में उत्कापात की तरह नहीं दिखाई देती; किन्तु ब्रह्म-ज्योति-विशिष्ट देवों एवं सिद्धगणों को उसके भीतर योनिमुद्रा के द्वारा देखा जा सकता है। जब ब्रह्मतेजो विशिष्ट हो गए अथवा अपने आप ब्रह्म में स्थित हो गए तब सब कुछ दिखाई देने लगा; क्योंकि ब्रह्माणु के एकांश में जगत की स्थिति है। जिसका संकेत एवं प्रमाण गीता में "एकांशेन स्थितो जगत' की उक्ति में स्पष्ट है। फिर और भी अधिक प्राणकर्म एवं ओंकार क्रिया करते करते जब समान तेजो विशिष्ट की स्थिति होती है तब छोटे-बड़े के अभाव और भौतिक धर्म से परे होने की स्थिति में कोई किसी का भी आवरण नहीं हो पाता। योगियों को जब इस प्रकार की तेजो विशिष्ट एवं आवरणहीन स्थिति प्राप्त होती है तब न देखने पर भी उन्हें सब कुछ दिखाई देता है। यह ब्रह्मतेज सर्वत्र ही विद्यमान है किन्तु अ-समान होने के कारण अप्रकाश अव्यक्त एवं समान होने से ही प्रकाशित तथा व्यक्त है। ब्रह्मज्योति के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भीतर की सारी मूर्तियाँ अन्तर्दृष्टि द्वारा दीखती हैं। फिर ब्रह्मज्योति के भीतर प्रवेश करने पर या उसमें लय प्राप्त हो जाने पर देखना-सुनना आदि कोई कर्म नहीं रहता—पानी में नमक की तरह। उस समय अज्ञान के प्रकाशरूप स्वच्छ गुण के न रहने से कूटस्थ भी नहीं दिखाई देता। क्रिया करके स्थिर होने से ही बुद्धि एवं उस अवस्था में हमेशा स्थित किन्तु रहने से ही अधिष्ठान तथा स्थिर रहने से ही जहाँ-तहाँ गति सम्भव है और गति की स्थिति में ही आकृति दीखती है। जब क्रिया की पर अवस्था शून्यब्रह्म है तब कुछ भी नहीं, उसकी विपरीत स्थिति में ही देखना-सुनना संभव है। इस देखने-सुनने की स्थिति के लोप हो जाने पर वह अनित्य कारण देखना और सुनना साथ-साथ न होने से वह नित्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म में स्थिति न होने से अवयवान्तर की

स्थिति होती है अर्थात् दूसरी ओर मन लगाने से गृहस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की उपाधि प्रयुक्त होती है। आत्मा और मन दोनों एक हैं। आत्मा क्रिया की पर अवस्था में निर्लिप्त है और वही जब सुखदुख को मानता है तब मन कहलाता है। एक साथ विभु की उत्पत्ति होती है, मन की नहीं– क्यों? जब चंचल मन स्थिर होकर विभु होता है तब आत्मा दोनों को ही देखने में सक्षम होता है। मन की गति जब तक बाहर की ओर है तब तक वह चंचल है और जब स्थिर होकर मन में प्रवेश करता है तब विभु अर्थात ब्रह्म होता है। ब्रह्म में एक साथ संयोग और साथ-साथ ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान क्रिया की पर अवस्था में होता है, चंचल मन में नहीं। मन की स्थिरता ही बुद्धि है; क्योंकि उस समय देखना, न देखना, जानना और न जानता कुछ भी नहीं रहता—तब फिर विरोध नहीं और जब विरोध की स्थिति नहीं तब सब कुछ नित्य होने से बुद्धि भी नित्य है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था अर्थात इच्छारहित होना ही ज्ञान है। यह अवस्था या ज्ञान आत्मक्रिया के द्वारा ही संभव है। जिस साधन या उपाय के द्वारा जानकारी प्राप्त होती है उस साधन को सम्यक रूप से करने का नाम भी ज्ञान है। ज्ञान क्रिया की पर अवस्था में होता है। उस अवस्था को प्राप्त करने का साधन क्रिया है एवं सम्यक प्रकार से क्रिया करने यानी उत्तम रूप से क्रिया करने पर ही ज्ञान होता है अर्थात् क्रिया की पर अवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। यह सम्यक रूप से क्रिया करना आत्मा का कार्य है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में क्रिया करेगा कौन? आत्मा द्वारा संस्कार होने से आत्मा में मन का सन्निकर्ष होता है तब क्रिया करने की इच्छा जागती है और क्रिया करते-करते मन आत्मा में मिल जाता है, एकात्म हो जाता है इस प्रकार आत्मा और मन के सन्निकर्ष की स्थिति में स्मरण होता है। जैसे अगले दिन प्रातःकाल कहीं जाना जरूरी है—यह इच्छा मन में उभरी और दूसरे दिन सुबह पहले दिन की बात याद आने पर उस स्थान की ओर प्रस्थान किया। इसी तरह पूर्व जन्म की भी स्मृति होती है। इस जन्म के आत्मा और मन का जब मिलन या सन्निकर्ष होता है तब पूर्वजन्म की सभी घटनायें—बातें मन में उभर आती हैं और मन उसी के अनुसार कार्य करता है। आत्मा का गुण मन है इसलिए दोनों ही एक हैं। मन जब स्थिर होकर आत्मा में उतरता है तभी क्रिया की पर अवस्था होती है, तब आत्मा और मन की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि दो नहीं हैं—जैसे दही और दूध के एक होने की स्थिति को जानने वाला कोई नहीं। शरीर, मन और आत्मा

का संयोग ही जीवन है। आत्मा और मन के संयोग से कर्माश्रित रह कर जीवन में अनुभव प्राप्त होता है और यह जीवन ही क्रिया के द्वारा क्रिया की पर अवस्था (विभु) को प्राप्त करने में सक्षम होता है। मन ही बाहरी ज्ञान का संस्कार करता है यानी बाहर की वस्तुओं एवं विषयों को इन्द्रियों द्वारा अनुभव करता है। किन्तु इसमें आत्मा के संयोग की उत्पत्ति नहीं होती ; क्योंकि आत्मा निर्लिप्त है। इसलिए आत्मा की निर्लिप्तता के कारण देखने-सुनने आदि की क्रियाएँ मन की हैं। इस समस्त शरीर एवं मन का बहिर्ज्ञान संस्कार के द्वारा होता हैं। शरीर के भोगायतन होने के कारण सुख-दुख सभी की अनुभूति शरीर और मन के द्वारा होती है। स्मरण करने से ही हर समय मन में दिखाई देता है—ऐसी बात नहीं और फिर जो दीखता है वह भी केवल मन के द्वारा नहीं दिखाई देता, आत्मा में मन के संयोग द्वारा दीखता है। इसलिये ब्रह्म को जानना मन का कार्य नहीं हैं; आवरण दूर होने से ही जानना संभव है। मन का आत्मा के साथ सन्निकर्ष होना ही स्मृति का हेतु है, जो पूर्व-संस्कार वश होता है। अर्थात् मन का आत्मा में प्रवेश हो जाने पर अनेक चेष्टाओं द्वारा उसे स्मरणीय वस्तु का आहिस्ता-आहिस्ता स्मरण आता है जैसे दूध की याद आते ही तुरन्त दूध के रूप-गुण और स्वाद एकबारगी जल्दी याद नहीं पड़ते, एक साथ दोनों नहीं उभरते। अगर सभी वस्तुओं के चिन्ह या संकेत एक बार में दिखाई देते तो फिर स्मरण भी साथ-साथ उभरता : फिर अधिक आत्म कर्म करते-करते जब सभी कुछ सम्पूर्णतः दिखाई देता है तब साथ-साथ उत्पत्ति और उससे अलग या अकेले उत्पत्ति कुछ भी नहीं अर्थात् आत्मा की प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा साथ-साथ एक ही समय में उत्पत्ति एवं अनुत्पत्ति कुछ भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापी है; ब्रह्म के एक अणु के भीतर पंचतत्व वर्तमान है। ब्रह्म से दूर रहने का नाम दुःख है। जिसमें प्राप्ति की इच्छा नहीं है उसे सुख-दुख नहीं ; क्योंकि सुख-दुख मन का व्यापार है। आत्मा सर्वव्यापी है और अनन्त जीव रूप में वर्त्तमान है। इसी रूप में जीवस्वरूप शिव (आत्मा) समस्त विश्व में व्याप्त है। इसीलिए उसे विश्वेश्वर कहा जाता है। चेतन अचेतन समस्त पदार्थ ही ब्रह्म है जो शून्य रूप में स्थित है। समस्त पदार्थों की रचना पंचतत्वों से हुई है और समस्त तत्वों में जीव वर्तमान है। दृश्यमान निर्जीव पदार्थों के जीव का बोध केवल योगियों को ही होता है। इसीलिए वे योगी जिन्हें युक्ततम अवस्था प्राप्त है अथवा जिनका कोई कर्म शेष नहीं—ध्यान नहीं करते; क्योंकि उनका ध्यान, धाता और ध्येय सभी कुछ एक हो गया है। वे सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन

करते हैं। उनके लिए कोई विषय इन्द्रियगोचर न होने पर भी ज्ञान के द्वारा जानना कोई मुश्किल कार्य नहीं। उनके सामने किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

मनोयोग पूर्वक क्रिया करने में ही क्रिया की सार्थकता है। मनोयोग पूर्वक संसार में रहने से ही संसार में रहना सार्थक है नहीं तो उसमें रहकर भी न रहने जैसा ही है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन या इच्छा है तभी तक संसार है। जब मन और इच्छा ही नहीं तब संसार भी नहीं। मन अथवा इच्छा के न रहने पर नियम एवं कर्म भी नहीं, इसलिए धारणा, ध्यान और समाधि भी नहीं। स्मरणीय वस्तु का अनेक बार स्मरण न हो सकने पर जब मन उस स्मरणीय वस्तु में प्रवेश करते-करते मुमूर्ष अथवा मरणापन्न अवस्था में होता है या उसकी निवृत्ति की अवस्था में जो स्मरण होता है उसे प्रणिधान कहते हैं। और तब जो वस्तु मन में नहीं-उसके चिन्तन अर्थात् वह वस्तु कैसी है उसमें क्या गुण है—जो स्मरण का निमित्त है उसमें हर प्रकार से मन के टिके या अटके रहने का नाम निबन्ध है। इसी प्रकार स्मरणीय वस्तु एक बार मन में जब प्रकट हुई तब उसे अच्छी तरह स्मरण में रखने के लिये जिससे उसमें बार-बार मन लगा रहे उसे अभ्यास कहते हैं। यह आत्मा का कर्म है, इसलिए स्मरण का हेतु आत्मा है क्योंकि आत्मा के न रहने पर कुछ भी नहीं होता। किन्तु जब स्मरण के चिन्ह का अनुसन्धान करना पड़ रहा है तब स्मरण की शाश्वत विद्यमानता का अभाव है और बिना चिन्ह या प्रतीक के स्मरण नहीं होता; क्योंकि स्मरण का ,आधार चिन्ह है। स्मरणीय वस्तु और उसके चिन्ह के अभाव में चिन्तन हो नहीं सकता। इस प्रकार एक बार स्मरण को नित्य और फिर अनित्य कहा गया; किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि बुद्धि एवं पराबुद्धि द्वारा आत्मा, परमात्मा में लीन होकर स्थिर है। उसके स्मरण में दो वस्तुओं की अवस्थिति है, इसलिये स्मरण बुद्धि द्वारा हो रहा है, इसीलिए बुद्धि ही स्मरण का हेतु है। किन्तु क्रिया की पर अवस्था में स्मरण एवं बुद्धि कुछ भी नहीं फिर जब क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में प्रत्यावर्तन होता है तब मन उस क्रिया की पर अवस्था का स्मरण करता है। इसी कारण स्मरण में दो हुआ।

पूर्वकृत कर्म के परिणाम का अनुबन्ध ही इस शरीर की उत्पत्ति का कारण है। इस शरीर के प्रारम्भ में ही पूर्व शरीर की प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगती हैं जैसे सन्तान के पैदा होते ही रोना ताकना आदि। और उस पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप इस जन्म के धर्माधर्म भी हुआ करते हैं और समस्त भोगों के निमित्त आत्मा इस शरीर में स्थित रहता है; किन्तु

वह स्वतंत्र ब्रह्म की तरह ही निर्लिप्त रहता है। केवल कर्मफल को भोगने के लिए बुलबुले के रूप में आत्मा ने इस शरीर में निवास कर रक्खा है जिसे लोग 'मैं—मैं' कहते हैं। पूर्व जन्म के सभी कर्म विशेष रूप से आत्मा में टिके-अटके रहते हैं इसलिए यह अनावश्यक भोग हुआ करता है। किन्तु क्रिया की पर अवस्था में जब कर्म का क्षय दिखाई देता है तब कर्म के लिए शरीर की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? कर्म के लिए आत्मासहित शरीर और सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है; किन्तु कर्मक्षय होने पर जब आत्मा के बिना देह नहीं रहता; तब आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है। कर्मक्षय होने से ही वैराग्य होता है और वैराग्य होते ही आसक्तिपूर्वक तन-मन एवं वचन सहित कर्म और होता नहीं। इस प्रकार कर्मक्षय होने से पुरुष निष्कर्मा होता है। इस निष्कर्मा अवस्था में कर्म का हेतु न होने से पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती, तब वह अकर्मा अवस्था ही हेतु होती है। उत्तम पुरुष का गुण कूटस्थ है, कूटस्थ का गुण आत्मा है, आत्मा का गुण मन है और मन का गुण इन्द्रिय है। इन सभी इन्द्रियों के द्वारा सभी भूतों-एवं पदार्थों के कार्य हुआ करते हैं और कर्मातीत अवस्था अर्थात् क्रिया की पर अवस्था में सभी ब्रह्मलीन हो जाते हैं। इसीलिए तब देह का अस्तित्त्व नहीं रहता अथवा देहबोध नहीं रहता। उस समय शरीर एवं दर्शन दोनों हो नहीं। पुनः क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में धीरे-धीरे देहबोध जाग्रत होता है। अतएव जो जैसी उत्तम क्रिया करेगा उसे वैसी ही देखने-सुनने और अन्त में लय की अवस्था प्राप्त होगी। क्रिया की पर अवस्था में रहकर अनासक्त भाव से सभी कार्य किये जा सकते हैं; क्योंकि तब पंचभूत में मन के न रहने से किसी कर्म के प्रति आकर्षण नहीं होता। उस समय सारी इन्द्रियाँ मन में, मन आत्मा में और आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है और फिर जब ब्रह्म आत्मा में, आत्मा मन में, मन इन्द्रिय में और इन्द्रिय आदि पंचतत्त्व में मिलते हैं तब देहबोध के साथ समस्त विषय जाग उठते हैं अर्थात् एक ही ब्रह्म कभी क्रिया की पर अवस्था में और कभी पंचतत्त्व में तथा शरीर में रहता है। यही जीवन है, अर्थात् इन्द्रिय, मन और आत्मा का मिलन ही जीवन है और उसके विपरीत जो क्रिया की अदृश्य पर अवस्था है, वही ब्रह्म है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था की प्राप्ति के लिए जो एकमात्र काम्य है—सभी को क्रिया करनी चाहिए। जो व्यक्ति निश्चित रूप से हमेशा क्रिया-साधना में रत है एवं जो बुद्धि हमेशा ब्रह्म में स्थित है उसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं और जो व्यक्ति क्रिया प्राप्त करके क्रिया करना कष्टकर समझ कर छोड़ देते हैं उन्हें इस साधन-या उपाय को छोड़ देने के कारण अत्यन्त दुख या

कष्ट सहना पड़ता है। यह तो निश्चित है कि क्रिया न करने से दुख और करने से ही सुख होता है। बुद्धि एवं पराबुद्धि को सम्यक रूप से जानने से ही मोक्ष प्राप्त होता है—यही आगम है। ऋषियों-महर्षियों ने उपदेश द्वारा अर्थात् कूटस्थ द्वारा यह निर्णय किया है कि जिन सभी व्यक्तियों का मन दूसरी ओर लगा है अर्थात पंचतत्त्व या विश्व-प्रपंच में रमा है, उन सब की दृष्टि मिथ्या है यानी क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही शरीर-सृष्टि एवं सुख-दुख आदि का कारण है।

जिस किसी वस्तु को देखने का नाम प्रवृत्ति है यह जो कृष्ण को देख रहे हो, वह भी प्रवृत्ति है और न देखना ही निवृत्ति है। जो चलता है या गतिशील है. वही संसार है, और अनादिकाल से गतिशील है, उस चलने या गति की ओर प्रवृत्ति का जाना सत्य के रूप में प्रतीत होता है। इस मिथ्या को तत्त्वज्ञान द्वारा अर्थात् क्रिया द्वारा क्रिया की पर अवस्था में स्थिति ही निवृत्ति है। इसलिए क्रिया की पर अवस्था में अटके रहने को ही धर्म कहते हैं और यह अटके रहना निवृत्ति है, इस कारण कोई दोष नहीं किन्तु वहाँ न टिकने से ही प्रवृत्ति है—वही दोष है, क्योंकि क्रिया की पर अवस्था में स्थिति नहीं होने से देहबोध जाग उठता है और देहबोध के जागते ही मन, बुद्धि चित्त, राग-द्वेष मोह आदि उत्पन्न होते रहते हैं, यही दोष है। क्रिया की पर अवस्था में स्थित रहना ब्रह्म-भाव है। जो उस अवस्था में हमेशा रहते हैं उन्हें ही श्रेष्ठ प्रज्ञा प्राप्त होती है; क्योंकि उस अवस्था में उपरोक्त राग-द्वेष मोह आदि सब एक हो जाते हैं अर्थात् क्रिया की पर अवस्था में सब का विलय हो जाता है। क्रिया की पर अवस्था में आत्मा में स्थित रहने से मोह आदि की निवृत्ति होने से अनुत्पत्ति की स्थिति में एक भावोत्पत्ति के कारण मन दूसरी ओर नहीं जाता। इसलिए मन के दूसरी ओर न जाने से फिर जन्म नहीं होता। जन्म का अर्थ है अन्य दिशा में मन की प्रवृत्ति एवं उसी में स्थिति। यह स्थिति यानी इस जन्म में पंचतत्त्व में अच्छी तरह से लिप्त रहना ही प्रवृत्ति है और इसमें रहना ही क्लेश है। क्रिया की पर अवस्था अव्यक्त है, इस अव्यक्त से क्रिया की पर अवस्था की परावस्था में सबकुछ व्यक्त हो रहा है। देखने के द्वारा ही दिखाई देता है अर्थात् ब्रह्म द्वारा ही सब कुछ दिखाई दे रहा है; किन्तु उसके रहने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार मूर्ति द्वारा मूर्ति नहीं दिखाई देती। जो मूर्ति देख रहे हो वह मूर्ति ही यदि अपनी हो तो फिर देखोगे किसे? क्रिया करने के पहले असत उसके बाद क्रिया करके सत् अर्थात् कूटस्थ का दर्शन। फलाकांक्षा रहित कर्म करके अर्थात् प्राणकर्म करके क्रिया की परअवस्था में जो कुछ होता है वह होकर भी न होने जैसा ही है।

समस्त कर्मफल स्वभाव द्वारा प्राप्त होता है उसका हेतु ईश्वर नहीं। उत्तम पुरुष का फलाकांक्षा के साथ कोई कर्म नहीं—आत्मा गुणविशिष्ट (सत्व, रज, तम) के रूप में शरीर में स्थित है इसी कारण मिथ्या 'मैं' सब कुछ भोग रहा है। और ईश्वर भीतर ही भीतर निर्लिप्त है जिस प्रकार आत्मा के पश्चात् परमात्मा कूटस्थ ब्रह्म। क्रिया की पर अवस्था प्राप्त करने का नाम ईश्वरत्व है। आत्मा एवं ईश्वर एक है केवल गुण-भेद है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरी ओर मन देने का नाम अधर्म है और क्रिया करना ही धर्म है तथा क्रिया करके ईश्वर को जानना ज्ञान है और क्रिया करके उस नशे को बढ़ाना धर्मसंचय है। इस प्रकार क्रिया करके एक हो जाना ही समाधि है अर्थात् समान रूप से ब्रह्म में स्थित रहना। तब सर्व ब्रह्ममय जगत का बोध हो जाने पर द्वैत या दो की स्थिति नहीं होती। जहाँ दो, वहाँ ईश्वर नहीं अतएव ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम से परे है। प्रत्यक्ष का अर्थ है आँखों से देखना—दो नहीं होने पर कौन किसे देखेगा? जो मन में उभरे वही अनुमान है, वहां भी दो है। जो अकस्मात उपस्थित होता है वही आगम है इसमें भी दो वर्तमान है। इसलिये जहाँ दो या द्वैत है वहाँ ईश्वर नहीं; इन्हीं कारणों से ईश्वर, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से परे है। ईश्वर को साधन किया जा सकता है; किन्तु उपसाधन नहीं, क्योंकि पृथिवी के अणु के बल की अपेक्षा ब्रह्माणु का बल लाखगुना अधिक है। एक लाख ब्रह्माणु से एक मिट्टी का अणु तथा दस हजार ब्रह्माणु से एक जल का अणु बनता है। इसीलिए मिट्टी से जल का बल अधिक है। एक हज़ार ब्रह्माणु से एक तेज का अणु, एक सौ ब्रह्माणु से एक वायु का अणु और दस ब्रह्माणु से एक शून्य या आकाश का अणु। इस कारण जल की अपेक्षा तेज, तेज की अपेक्षा वायु, एवं वायु की अपेक्षा शून्य का बल अधिक है। वह लाख ब्रह्माणु जब एक के भीतर होते हैं तब उस एक के भीतर लाखगुना शक्ति होती है। योगी इस प्रकार जब ब्रह्माणु के भीतर स्थित होते हैं तब पंचतत्त्वों एवं काल पर उनका आधिपत्य होता है, वे सर्वशक्तिमान होते हैं। वे तब ब्रह्म में विचरण करने के कारण ब्राह्मण की संज्ञा प्राप्त करते हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से ही ब्राह्मण होंगे—ऐसा नहीं है। हालाँकि ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति हो रही है, इसलिए सबको ब्राह्मण कहा जा सकता है; किन्तु ब्रह्म में न रहने से शरीररूपी गृह में रहने के कारण गृहस्थ कहा जाता है। जैसे गर्म वस्तु में मिथ्या अग्नि, उसी प्रकार ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर भी सभी मिथ्या ब्राह्मण। पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार मां के गर्भ से उत्पन्न होने पर सभी गृहस्थ हैं; क्योंकि उस समय आत्मा विशिष्ट रूप से शरीररूपी गृह में प्रवेश करता है।

और जब क्रिया करते-करते देहबोध समाप्त हो गया तब शरीर रूपी गृह में न रहने से ब्राह्मण; तब और दूसरी बार जन्म नहीं होता। जो सुकृतिवान या सौभाग्यशाली हैं वे ही क्रिया प्राप्तकर एवं क्रिया करके सभी वस्तुओं में ब्रह्म का दर्शन करते हैं उन्हें ही ऋषि कहते हैं ऋषि अर्थात् जो हमेशा कूटस्थ में हैं ऐसे ही ऋषि कूटस्थ का दर्शन करने के लिये उपदेश दिया करते हैं। क्रिया की पर अवस्था के लिए उपदेश जरूरी है। मन्त्र अर्थात् जो मन का त्राण करता है, जिसके द्वारा मन स्थिर होता है उसे क्रिया कहते हैं। स्थिर होने से ही त्राण तथा स्थिर होकर जो स्थिरतत्व में रहते हैं उन्हें ही ब्राह्मण कहते हैं और इस कर्म को ही कर्म कहते हैं तथा जो इस कर्म को कर्म कहते हैं उनकी पत्नी न होने से वे गृहस्थ नहीं अर्थात् पत्नी स्वरूपा प्रकृति में न रहने से यानी श्वास प्रश्वास की गति न होने से वे गृहस्थ नहीं। इसीलिए गृहस्थ का नाम जायमान है, अथवा जिसका जन्म हो रहा है अर्थात् जो चलायमान है, चंचल है। यह गृहस्थ ही क्रिया करके क्रिया की परअवस्था में जब कूटस्थ में स्थित होता है, तब ऋषि होता है। और जो दूसरी ओर मन नहीं देते वे हमेशा क्रिया की परअवस्था में रह कर अमर होते हैं या फिर अमरता के बारे में भी कुछ नहीं सोचते। गुहा या ब्रह्मयोनि में रहते-रहते सभी कुछ का त्याग होने के कारण 'मैं ही वह पुरुष हूँ', इस प्रकार का अनुभव होने पर सर्व ब्रह्ममय जगत होता है और इसके बाद कुछ नहीं है—जो यह समझ पाते हैं वे मनीषी हैं। अतएव पहली तपस्या है कूटस्थ में रहना, दूसरी तपस्या है ब्रह्मचर्य कुल या आश्रम में रहना अर्थात् ब्रह्म में स्थित रहकर कुल कुण्डलिनी स्वरूप आत्मा में रहना और तीसरी तपस्या है आत्मा को कूटस्थ में रखकर टिकाए या अटकाए रखना अर्थात् क्रिया की परअवस्था में रहना। इससे व्यक्ति में अच्छे गुणों का विकास होता है। जो इस निष्काम कर्म को करते हैं अर्थात् आत्मकर्म करते हैं उनके प्राण का उत्क्रमण नहीं होता अर्थात् वियोग नहीं होता अथवा ब्रह्म में योग होने या युक्त होने से दूसरी ओर नहीं जाता ऐसी स्थिति में वे स्वयं ब्रह्म स्वरूप होकर लीन हो जाते है अर्थात् ब्रह्म हो जाते हैं।

दूसरी ओर मन लगाने से मन में विषय की उत्पत्ति होती है जिसे अहंकार कहते हैं। अर्थात् 'मैं' बुद्धि होने से ही विषय की ओर मन जाता है और यह अहंकार ही आत्मा में नहीं रहने देता। क्रिया की पर अवस्था में आत्मा रहने से विषय में नहीं और फिर विषय में रहने से वह आत्मा में नहीं। क्रिया की परअवस्था में रहते-रहते अहंकार, जन्म प्रवृत्ति आदि की निवृत्ति होती है और इन सब के नाश से मोक्ष होता है,

यही सभी शास्त्रों का उद्देश्य है। ये तमाम मिथ्या संकल्प जब नहीं होते तब मन आत्मा में रहता है—इस अवस्था का नाम मुक्तावस्था है। यही सब का काम्य है। संसार की वस्तुएँ देखने में उत्तम हैं; किन्तु भीतर विष जैसी हैं। ऊपर-ऊपर देखने से ही मन आकृष्ट होता है। किन्तु भीतर देखने से ही त्याग होता है। यही माया, यही चंचलता की अभिव्यक्ति है। ब्रह्मविद्या अथवा क्रिया की पर अवस्था का नाम विद्या है और क्रिया की पर अवस्था के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं की ओर मन लगाने का नाम अविद्या है। दूसरी ओर मन देने या लगाने से ही यानी क्रिया की पर अवस्था में न रहना ही अयुक्त अवस्था है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों द्वारा समस्त विषयों से मन के आवृत होने पर क्रिया की पर अवस्था उपलब्ध नहीं होती। विषय की ओर मन के जाने से सारी इन्द्रियाँ दुर्बल होती है। दुर्बलता से जुड़ा मन क्रिया की पर अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता। क्रिया की पर अवस्था में जब मन, मन में स्थित रहता है तब वह इन्द्रिय-विषय की ओर नहीं जा पाता, और गन्ध आदि कुछ भी ग्रहण नही कर सकता। क्रिया की पर अवस्था और प्रलय दोनों एक हैं। तीनों गुणों से परे क्रिया की पर अवस्था है। जब तक भाव है तब तक दो है और जब अच्छी तरह से अभाव की स्थिति होती है अर्थात् क्रिया की पर अवस्था होती है तब निराकार की स्थिति होती है फिर उस समय कुछ भी नहीं, तब ब्रह्म में लीन होने से निर्वृत्ति होती है यानी वृत्ति-शून्यता की स्थिति होती है। किन्तु इस स्थिति में सभी वस्तुओं के लय की कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय तुम्हारा ही लय हुआ है अन्यान्य वस्तुएँ ज्यों की त्यों हैं। निरवयव या निराकार की स्थिति में समस्त पदार्थों के परमाणु विशेष रूपों में विभाजित होकर ब्रह्म में मिल जाते हैं। अर्थात् पृथ्वी के अणु जल में, जल के अणु तेज में, तेज के अणु वायु में, वायु के अणु शून्य या आकाश में, और शून्य के अणु ब्रह्म में मिल जाते हैं। इस प्रकार जिसका विस्तार-विकास हुआ था वह संकुचित हो गया और बाद में जहाँ ब्रह्माणु भी नहीं, वहीं टिका-अटका रहा—यही क्रिया की पर अवस्था है। आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अनुभव में नहीं आ सकता; किन्तु लगता है, कुछ है। इसी प्रकार आकाश की अपेक्षा सूक्ष्मतर, निरवयव या निराकार ब्रह्माणु का अनुभव नहीं हो सकता। लेकिन कुछ है—इस प्रकार का बोध होता है। अतएव क्रिया की पर अवस्था कुछ भी नहीं—यह कुछ भी नहीं ही ब्रह्म है। उसी में सबका विलय होगा। क्रिया की पर अवस्था में कोई मूर्त्ति या आकार दिखाई नहीं देता। वह सर्वगत—सर्व व्यापी अवस्था है। मन जब तक वस्तु

में है तब तक आवरण है और जब किसी वस्तु में नहीं होता तब वह निरावरण या आवरणहीन होता है। क्रिया की पर अवस्था का आकाश सर्वगत है, आवरण हीन है। इसीलिए क्रिया की परावस्था के अतिरिक्त संसार में और कुछ भी कल्याणकारी नहीं है। वही अभयपद, विभु पवित्र और महान है। वही सबका आदि है, निधि है, एवं कूटस्थ स्वरूप विशाल नेत्र तथा सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र है। यह क्रिया की परावस्था अचानक ही आती है; किन्तु जब आती है तब उस अवस्था में जितनी भी देर तक रहा जाय अच्छा है अथवा उस अवस्था में रहना उचित है। इस अवस्था को भंग करना आत्महत्या के समान है।

● ● ●

योगिराज को क्या वैष्णव कहा जाय या वे क्या शैव, शाक्त सौर अथवा गाणपत्य थे ? वे इनमें कुछ नहीं थे और सब कुछ थे। इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही अपनी दिनलिपि में प्रमाण रख छोड़ा है। उन्होंने सभी तरह के कृष्ण-विष्णु और सभी तरह के शिव को देखा है तथा सभी तरह की काली के साथ तमाम देवियों को देखा है। सौर मत के अनुसार नानाप्रकार के आत्मसूर्य एवं गणपति को देखा है। वे किसी विशिष्ट मत या पथ के साधक नहीं थे, उनमें सभी मतों एवं पथों का संगम हुआ था। वे एक ओर परम वैष्णव थे और दूसरी ओर परम शैव परम शाक्त, परम सौर एवं परम गाणपत्य थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो कुछ देखा या जिसका दर्शन किया और अपनी दिनलिपि जो लिपिबद्ध किया है वह नीचे दिया जा रहा है—

१—**"इहाँ कालीजि विराजमान—खालि कालि नहि सबकोइ याने कुछ नाहि आउर सब कुछ—आहा क्या मजा हय।"** अर्थात् यहाँ कालीजी विराजमान हैं, केवल काली ही नहीं बल्कि सभी अर्थात् कुछ भी नहीं और सब कुछ भी। और इसका दर्शन करके गद्‌गद् हो गए और कहा—वाह क्या मजा है।

२—**"लोल जिह्वा मालुम हुआ काली का। इह जिह्वा जब तालुमूल में लपट जाता ह्याय। जिभ आउर उठा आउर इह मालुम होता हय कि निद छोड़ देना। आउर बड़ा मजा मालुम हुआ आउर वासुलिका आवाज आउर साफ बजने लगा।"** अर्थात् काली की लालसायुक्त जिह्वा मालूम पड़ी। मेरी यह वर्तमान जीभ जब तालुमूल में अटक गई तभी यह मालूम पड़ा। इसी के ही प्रतीकस्वरूप माँ काली की जिह्वा बाहर निकली है। जीभ और ऊपर उठ गई और यह समझ में आया कि इस

अवस्था में नींद त्याग दूँगा। तब खूब मजा आया और श्रीकृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि की तरह प्राणायाम के समय बाँसुरी की आवाज और भी साफ-साफ बजने लगी।

३—"**महादेव औ काली दरशन हुआ—आज थोड़ा सफा ब्रह्म देखा।**" अर्थात् महादेव और काली का दर्शन हुआ। आज कुछ साफ ब्रह्म को देखा।

४—'**हाड़का काली देखा, फटिक का आउर ज्योति का काली देखा।**' अर्थात् हाड़ की काली देखा, स्फटिक एवं ज्योति की काली देखा।

५—"**सूर्यहि काली का रुप।**" अर्थात् आत्मसूर्य ही काली का रूप है।

६—**नीलवर्ण कालीजिका शिर का उपर देखा।**" अर्थात् मस्तक के ऊपर सहस्रार में नीलवर्ण की काली को देखा।

७—सिंह के ऊपर एक देवी की मूर्ति आँक कर उसके बगल में लिखा है—**आधारचक्र में जो देवी श्वेतवर्ण श्वेतवस्त्र परिधान सिंहवाहिनि को देखा—कुलकुण्डलिनी शक्ति।**" अर्थात् श्वेत वर्ण श्वेतवस्त्र पहने सिंह-वाहिनी देवी को आधारचक्र अथवा मूलाधार चक्र में देखा। वे ही कुल कुण्डलिनी शक्ति रूपा जगद्धात्री हैं। इस देह रूप जगत को उन्होंने ही धारण कर रखा है।

८—"**काली का चरण देखा।**" "**कालीर नाम अर्थात् सूर्येर ध्यान ओ प्राणायाम कालीर पा एक वै पा दुइ हइयाछे बाँ पा ओ डान पा अर्थात् चन्द्र ओ सूर्य अर्थात् इड़ा ओ पिंगला।**" अर्थात् आत्मसूर्य का ध्यान ही काली का नाम है। सुषुम्ना के भीतर प्राणायाम ही काली का पाँव है, वह एक है; किन्तु वही एक पाँव दो हुआ है अर्थात चंचल होकर इड़ा और पिंगला में गति होने से दो पाँव हुआ है—इड़ा यानी बायाँ पाँव और पिंगला दाहिना पाँव है। मा के इस इड़ा और पिंगला रूपी दोनों चरणों को पकड़ने से ही मा मिलती है। हाड़-माँस के दोनों पाँवों में चलने की अपनी कोई क्षमता नहीं है। इड़ा और पिंगलारूपी दो चरण हैं—इसीलिए स्थूल चरणों का अस्तित्व है। चरण का अर्थ है जो विचरण करे। इड़ा-पिंगला में श्वास के विचरण करने के कारण ही देह का अस्तित्व है। इसीलिये योगिराज ने कहा है—"**चरण याने दोनो श्वासा जयसा चरण ए स्थान छोड़ के जाता हय ओएसाहि शक्ति श्वासा का।**" अर्थात् चरण यानी दो श्वास; जिस प्रकार चरण एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाता है—श्वास भी उसी प्रकार इस देह को छोड़कर नूतन देह में जाता है।

९—कपाल के ऊपर एक सूर्य आँककर उसके बगल में लिखा है—**सूर्य ओहि काली—सूर्य का रुप आउर हमारा रुप एक हय।**" यह जो

आत्मसूर्य देख रहा हूं वही काली है। उस आत्मसूर्य का रूप एवं मेरा रूप एक ही है अर्थात् जो मेरा रूप है, वही काली का रूप है दोनों अभिन्न हैं; कई दिन पश्चात फिर लिखा है—**"सूर्यहि काली सोइ काली हम सोइ हम।"** अर्थात् जो आत्मसूर्य वहीं काली है; वही मैं ही हूं वह काली मैं ही हूं। इसके ठीक दो दिन बाद लिखा है—**"सूर्यइ ब्रह्मरूप हय एवं सूर्यइ जगत आधार हय ओहि अटल छत्र—ओहि सूर्य फिर हम निराकार ब्रह्म होते हय—अब श्वासा का चलना ओ न चलना मालुम न होय—बड़ा मजा।"** अर्थात् यह आत्मसूर्य जिसे देख रहा हूँ वही ब्रह्मरूप है। यही ज़गत का आधार-स्थल है। सभी कुछ की इससे उत्पत्ति होती है एवं उसी में लय होता है। यही सबका दृढ़ एवं अचंचल आच्छादन है। इस आत्मसूर्य रूपी काली के दर्शन में आगम-निगम रूपी श्वास-प्रश्वास चलता है या कि नहीं चलता है कुछ भी समझ में नहीं आता अर्थात् 'केवल कुम्भक' की अवस्था है। इस अवस्था में बड़ा ही मजा है। वह आत्म सूर्य ही मैं हूँ; निराकार ब्रह्म हूँ।

१०—**"कभि कभि निला जो कि ठान्डि काली का रंग हेय रटन्ति नाम उनका ऐसा व्याप्त हुआ कि जब प्रणाम को बठते हय तद्याव्रिच में विच वेहि रंग का सूर्य नजड़ पड़ाता हेय, काली तो एक हेय लेकिन रंग में परभेद हेय।"** अर्थात् कभी-कभी शान्त नीले रंग की काली को देखता हूँ जिसे रटन्ती कहते हैं। जब प्राणायाम करने बैठता हूँ तब वह काली ऐसी हो जाती है कि कभी उसी रंग का आत्मसूय दिखाई देता है। काली एक ही है किन्तु विभिन्न रंगों में दिखने से पृथक लगती है।

११—**"शक्ति ओ महादेव का लिंग देखा।"** अर्थात् महामाया शक्ति और महादेव का लिंग देखा।

१२—**"काली का खड्ग देखा।"**

१३—**"शक्ति रूप भगवती देखा।"** अर्थात् शक्ति रूपा भगवती दुर्गा को देखा।

१४—**"छिन्नमस्ता रूप देखा।"**

१५—**"आद्याशक्ति देखा।"** अर्थात् महामाया सनातनी महादुर्गा को देखा।

१६—**"आज सोने का काली से भेट हुआ।"** आज सोने की काली का दर्शन हुआ।

१७—**"सूर्य के झालर याने किरीट। सूर्य से काली का खड्ग हय। सूर्यइ मालिक। ओहि उत्तमरूप सूर्य का हय।"** अर्थात् उस आत्म सूर्य की झालर अर्थात् किरीट। उस आत्मसूर्य से ही काली के खड्ग का अस्तित्व है। वह आत्मसूर्य ही मालिक है प्रमुख है। वही उस आत्म सूर्य का उत्तम रूप है।

१८—"**दुइ चाँद—महादेव काली दर्शन हुआ।**" अर्थात् दो चाँद यानी महादेव और काली का दर्शन हुआ।

१९—एक श्यामा-मूर्ति आँककर उसके बगल में लिखा है—"**श्यामा-सुन्दरी रूप। काली रूप देखा बेहुत देर तक।**" इस प्रकार का श्यामा सुन्दरी रूप देखा और काफी देर तक कालीरूप देखा। १३ अगस्त १८७३ ई० को काली के गले की माला आँक कर उसके बगल में लिखा है—"**महाकाल—एहि आपना रूप—एहि घटाकाश—एहि कालीजिके माला गले में-इह गल जाय याने नहि रहे तो सबके उपर अजर अमर घर हय -ओंहा जाने से स्थिर घर का थ मिलता हय—उसि स्थिर में आज दो मिनिट रहे—सवेरे, हुंइ हमेशा रहना चाहि। हमहि सूर्य हय फिर उलट के सूर्य हमहि—हमहि निराकार ब्रह्म।**" अर्थात् यही महाकाल है यही अपना रूप है—यही घटाकाश है और और फिर यही काली के गले की माला है। यह माला जब गल जाती है अर्थात् जब नहीं रहती तब फिर वहीं सबके ऊपर अजर अमर घर है; वहाँ पहुँचने पर स्थिर घर का ठाँव मिलता है। उस स्थिर घर में आज सुबह दो मिनट स्थिर रहा उस स्थिर घर में हमेशा रहना चाहिए। मैं ही आत्मसूर्य हूँ और दूसरे रूप में वह आत्मसूर्य ही मैं हूँ, मैं ही निराकार ब्रह्म हूँ।

२०—"**इड़ा पिंगला पटचक्र जो की सुषुम्ना में मिलके पडुके रुप साफ मालुम होता हेय उहि के उपर सरस्वती हेय देखा।** अर्थात् इड़ा पिंगला और षटचक्र जो सुषुम्ना में मिलकर पाँव स्वरूप हो गए—वह साफ-साफ समझ में आया। उसके ऊपर सरस्वती को देखा।

२१—"**सूर्य के भितर पद्मका वन वीनापाणि के देखा।**" अर्थात् आत्म-सूर्य के भीतर जो कमल-वन अर्थात् षटचक्र है, वहाँ वीणा पाणि को देखा।

२२—"**विद्युतप्रभा पुष्प सदृश रक्तवर्ण कामवीज वागदेवी देखा।** अर्थात् विद्युत की विशिष्ट प्रभा से पूर्ण फूलों जैसा रक्तवर्ण कामबीज वाग्देवी को देखा

२३—हाथी की पीठ पर सावित्री एवं ब्रह्मा की मूर्ति आँककर उसके बगल में लिखा है—"**सरस्वती विनायक अर्थात् सावित्री सह ब्रह्मा हस्तिवाहन देखा।** अर्थात सरस्वती और गणेश अर्थात सावित्री के साथ ब्रह्मा हस्तिवाहन को देखा।

२४—"**गणेश कूटस्थ अक्षर के भितर याने चतुर्मुख ब्रह्मा देखा।** अर्थात कूटस्थ अक्षर के भीतर गणेश यानी चतुर्मुख ब्रह्मा को देखा।

२५—"**अब ध्वनि सुने राधाजिका दर्शन भया।**" अर्थात अब ओंकार ध्वनि सुना और उसके भीतर राधाजी का दर्शन हुआ।

२६—"**सूय क भितर गनेशका मूर्ति साफ देखा।**" अर्थात् आत्मसूर्य के भीतर गणेश की मूर्ति स्पष्ट रूप से देखा।

२७—"**वइशुण्ड का गणेश नारायण से निकिले देखा।**" अर्थात् विना सूँड़ का गणेश नारायण से बाहर होते हुए देखा।

२८—सर्पवत कुण्डलिनी का चित्र आँककर उसके बगल में लिखा है—"**एहि कुल कुण्डलिनी सार्द्ध त्रिवलयाकारास्वयंभू लिंग वेष्टिनीं भुजगाकार रूपिणि—एयसा देखने में आता हय।**" अर्थात् यही कुलकुण्डलिनी है, यह सर्प की तरह साढ़े तीन चक्कर या गेंडुरी में स्वयम्भू लिंग को घेरे है ऐसा देख पड़ा। पुनः एक ओंकार क्रिया का रेखांकन करके उसके बगल में लिखा है—"**शरीर के ईशान कोन मे शयम्भु कुण्डलिनी वेष्टित ज्वलन्त गन्धक का रंग मशाल के माफिक लेकन स्थिर श्वेतवर्ण सर्पाकार देखा।** अर्थात् शरीर के ईशान कोण में वह कुल कुण्डलिनी सर्पाकार स्वयंम्भू लिंग को लपेटे है जो जलते गन्धक के रंगमशाल की तरह देखने में है; किन्तु वह यथार्थतः स्थिर एवं श्वेतवर्ण है।

२९—२२ जनवरी १८७३ ई० को लिखा है—"**चन्द्र सूर्य ज्योति दोनो तरफ देखा—विश्वनाथ का लिंग सुषुम्ना रूप विच में देखा—तंत्रप्रमाण-योनि ब्रह्म हृदाकारं अन्तरात्मनि चिन्तयेत्।**"—अर्थात् कूटस्थ के दोनों तरफ चन्द्र और सूर्य की ज्योति देखा। उसके भीतर सुषुम्ना के रूप में विश्वनाथ का लिंग देखा। इसके सम्बन्ध में तंत्र में प्रमाण है कि वही वह ब्रह्मयोनि है अर्थात् सभी कुछ का उत्पत्ति स्थल है जो अन्तर्मुखी ध्यान द्वारा प्राप्त की जा सकती है। पुनः एक द्विदलपद्म अथवा कमल की दो पंखुड़ी आँककर उसके बगल में लिखा है—"**द्विदल पद्म कोटि चन्द्रप्रभा जसा देखा।**" अर्थात् द्विदलपद्म अर्थात् आज्ञा-चक्र जो कोटि कोटि विशिष्ट चन्द्रप्रभा से युक्त है। १२ अगस्त १८७३ ई० को लिखा है—"**पाँच सूर्य का उदय सूर्यहि हय श्वेत ध्वजा। सूर्यनारायण मालिक—ओहि सूर्य मालिक-ओहि सहस्रांशु हय।**"—अर्थात् पाँच सूर्यों का उदय हुआ। वह आत्म सूर्य ही श्वेत ध्वजा है। वह आत्मसूर्य ही नारायण हैं (सवितृ-मण्डल में मध्यवर्ती नारायण) वे ही मालिक हैं एवं वे ही सहस्रांशु हैं। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए संजय ने कहा है—

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भा : सदृशी सा स्याद्भास्तस्य महात्मनः॥

गीता : ११।१२

संजय का अर्थ है सम्यक रूप से जय-प्राप्ति पर जिसका प्रकाश होता है अर्थात् दिव्य दृष्टि ही संजय का प्रतीक है उसी दिव्यदृष्टि द्वारा मन के

निकट यह कहा गया है। दिवि का अथ हं आकाश है यदि सहस्र या हजार सूर्य की प्रभा एक साथ उदित होती है तो फिर वह महात्मा के प्रभाव सदृश होती है अर्थात् उस ज्योतिर्मय महान रूप की कोई तुलना नहीं होती—वही कूटस्थ ब्रह्म का वृहत रूप है। इसीलिए कह रहे हैं कि यदि सहस्र सूर्य की ज्योति एकत्र होती है तो फिर वह महान आत्मा जैसी हो सकती है[१]। इस सहस्रांशु का दर्शन करके अर्जुन ने कहा है :—

---

१. इस सूर्य एवं महाशून्य के सम्बन्ध में शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऋषियों ने अनेक प्रकार से चर्चा की है। किन्तु यह किस सूर्य एवं किस महाशून्य के बारे में कहा गया है इस सम्बन्ध में परवर्तीकाल में तमाम पंडितों एवं भाष्यकारों ने आकाश में उदीयमान सूर्य एवं दृश्यमान आकाश का ही उल्लेख किया है। किन्तु योगिराज का कथन है कि आकाश का यह सूर्य भी अनित्य है, नाशवान है, अतएव शास्त्रोक्त वह सूर्य आत्मसूर्य है, जो नित्य है, शाश्वत और अविनाशी है उसे केवल योगी ही देखने में सक्षम होते हैं। गीता में अर्जुन ने भी उस आत्मसूर्य की चर्चा करते हुए कहा है कि आकाश में इस सूर्य की तरह यदि सहस्र सूर्य एक साथ उदित हों तो उस महान आत्मसूर्य जैसे हो सकते हैं। इससे यह बात समझ में आती है कि गीता में इस दृश्यमान सूर्य की चर्चा नहीं की गई है। वह आत्म सूर्य है। यह भाष्य केवल योगिराज ने ही किया है क्योंकि उन्हें इसकी उपलब्धि हुई थी—उपलब्धि ही नहीं बल्कि उन्होंने उसका बार-बार प्रत्यक्षत: दर्शन किया था और यह कहने की सक्षमता प्राप्त की थी। ऐसी ही क्षमता अर्जुन ने भी प्राप्त की थी।

फिर शास्त्रोक्त महाशून्य के सम्बन्ध में पूर्वोक्त तमाम पण्डितों एवं भाष्यकारों ने इस दृश्यमान शून्य या आकाश की ही चर्चा की है अथवा पृथ्वी से अनेक ऊपर जो शून्य या आकाश है उसकी ही चर्चा की है। किन्तु इसके बारे में योगिराज का कथन है कि यह शून्य पंचभूतों का अन्तिम भूत है जो स्थूल से सूक्ष्म होते-होते शेष सूक्ष्म महाभूत है। अतएव यह शून्य भी स्थूल होने के कारण महाशून्य नहीं है। यह भी अनित्य है; किन्तु सीमाहीन होने से इसे मापा नहीं जा सकता। इस शून्य के अन्तिम महाभूत होने से इसका भी गुण है। यह गुणातीत नहीं है इसीलिए वे महाशून्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि इस शून्य के भीतर जो शून्य है अर्थात जिस शून्य के अस्तित्व से इस दृश्यमान शून्य का अस्तित्व हैं। जो स्वच्छ अविनाशी एवं निर्गुण है जिससे इस शून्य की सृष्टि-स्थिति और लय होते हैं वही महाशून्य है। वह महाशून्य ही ब्रह्म है। वह महाशून्य इस शून्य के भीतर ओत-प्रोत है। उसी महाशून्य की उपलब्धि और प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें बार-बार हुए। इसीलिए ऐसा भाष्य करने में वे सक्षम थे। केवल यही नहीं बल्कि उनकी उपलब्धि के

त्वमक्षरं परमं वेदितव्य
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

—गीता : ११।१८

अर्थात् तुम ही अक्षर हो, परमब्रह्म हो, तुम्हीं एक मात्र ज्ञातव्य या जानने योग्य हो; तुम ही इस विश्व के परम आश्रय हो। तुम ही अव्यय एवं शाश्वत धर्मगोप्ता या धर्म-रक्षक हो और तुम ही सनातन पुरुष हो, ऐसा मेरा मत है। अर्थात् तुम ही कूटस्थ चैतन्य और स्थिर प्राणरूप अक्षर पुरुष हो; क्योंकि तुम्हारा क्षय नहीं। और कूटस्थ के ऊपर सहस्रार में तुम ही अव्यक्त रूप महाप्राण परम ब्रह्म हो; तुम ही एक मात्र जानने योग्य हो इसीलिये तुमको जानना ही आत्मज्ञान है जो यथार्थ ज्ञान है। अतएव तुम्हें जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता इसीलिए तुम्हीं एक मात्र ज्ञातव्य हो। तुम ही जगत के प्रधान आश्रय हो, क्योंकि अव्यक्त ब्रह्म की स्थिरावस्था का अन्त नहीं है इसलिए तुम ही विश्व के आधार स्वरूप परम आश्रय एवं नित्य अर्थात् स्थिर प्राण हो। तुम ही विश्व के शाश्वत, सनातन धर्म-रक्षक, पालनकर्त्ता हो; क्योंकि शाश्वत-सनातन धर्म की योगक्रिया के भीतर तुम ही गुप्त रूप से स्थित-प्रतिष्ठित हो। इस रहस्य को एक मात्र गुरु उपदेश रूपी उपाय के द्वारा ही उद्घाटित किया जा सकता है। तुम ही सनातन आदिपुरुष हो; क्योंकि तुम्हारे पूर्व एवं पश्चात कोई नहीं—यही मेरा अभिमत है।

सम्बन्ध में उनकी दिनलिपियाँ या डायरियाँ देखने से समझ में आता है कि वे साधना द्वारा उस स्वच्छ अविनाशी निर्गुण महाशून्य रूपी परब्रह्म में मिलकर एकाकार हो गए थे, उसी में लीन-विलीन हो गए थे। यही वेदान्त द्वारा प्रतिपादित साधना की अन्तिम या परम अवस्था है। उस महाशून्यरूपी परब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाने पर दो या द्वैत का कोई आभास नहीं, वही अद्वैत की अवस्था है और इसके पूर्व सभी की द्वैत अवस्था है। इस आत्मसूर्य एवं महाशून्य को जानना ही गीता एवं वेदान्त की अन्तिम अवधारणा है। दिव का अर्थ है आकाश यानी वह स्वच्छ अविनाशी महाशून्य है। उस महाशून्य से जिनकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जो पहले व्यक्त होते हैं वे ही देवता हैं इसीलिए योगिराज ने कहा है कि कृष्ण भी महाशून्य में मिल गए क्योंकि वे भी अनित्य थे। केवल वह महाशून्य ही नित्य है; यही योगिराज का वक्तव्य है।

भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से जिस प्रकार अर्जुन असीम, अमित महातेजस्वी विश्वरूप का दर्शन करने में सक्षम हुए थे उसी प्रकार बाबाजी महाराज के प्रसाद या उनकी अनुकम्पा से योगिराज भी अर्जुन की तरह विश्वरूप दर्शन करते हैं—सहस्रांशु को देखते हैं—यही शशि सूर्य नेत्रम् का दर्शन है।

इस विश्व रूप दर्शन से अर्जुन जैसा साधक भी भयभीत हो गया था; किन्तु योगिराज का कथन है—**"आदित्य सेरा पुरुष हय अब सहजे आवे जाय।"** अर्थात् वह आदित्य या सहस्रांशु ही श्रेष्ठ पुरुष है जो अब आँख मूँदने पर आसानी से ही दिखाई देता है और आँख खुलने पर चला जाता है। यह अवस्था अब उनके लिए सहज स्वभाव सिद्ध हो गई।

इसके कई दिन बाद एक सहस्रदल पद्म आँक कर उसके बगल में लिखा है—**"अयसा हजारो चक्र मय हरफ समेत मालुम होता हय सहस्रार में।"** अर्थात् सहस्रार में हजार दलों वाला विशिष्ट चक्र स्थित है उसके प्रत्येक दल को बीजाक्षर समेत देखा। ३०—**' श्वेत द्वीपवासी नारायण देखा—"** अर्थात् श्वेत द्वीप वासी या चन्द्रद्वीप वासी नारायण को देखा अर्थात् विष्णु धाम का दर्शन किया। तात्पर्य यह है कि कूटस्थ में जो चन्द्र दिखाई देता है उसके अन्तर्गत नारायण को देखा। फिर लिखा है—**सूर्यनारायण रूप देखा।"** अर्थात् कूटस्थ में जो आत्मसूर्य दिखाई पड़ता है उसके अन्तर्गत नारायण को देखा। पुनः लिखा है—**"ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेवेर रूप देखा, बडा आनन्द हुआ।"** अर्थात् उस चन्द्र सूर्य के भीतर ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेव को देखा और बड़ा ही आनन्द आया। इसके बाद लिखा है। **"ज्योतिरूप लालडोरा सुषुम्ना को किनारे मेहिन देखा—पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा फिर शून्य में समाय गया।"** अर्थात् सुषुम्ना के किनारे लाल धारीदार महीन ज्योतिरूप देखा इसके पहले ज्योतिर्मय लिंग देखा; किन्तु वह शून्य के भीतर जो शून्य है उस महाशून्य में मिल गया। इसके बाद और आगे जाकर लिखा—**"नक्षत्र लोक देखा।"** अर्थात् जहाँ वृहत चन्द्र सूर्य नहीं हैं किन्तु जिससे सभी कुछ प्रकाशित है तथा जो छोटे-छोटे तारा-समूह का अवस्थान-स्थान है इस दिवा शर्वरी या महारात्रि को देखा। नक्षत्र का गूढ़ार्थ स्पष्ट करते हुए योगिराज कहते हैं कि नक्षत्र = जिसका क्षय न हो—या क्षरण न न हो, अत्र =जहाँ स्थिति होने पर क्षय नही अर्थात् क्रिया की परावस्था रूप स्थिरावस्था। इस प्रकार स्थिरावस्था में कूटस्थ के भीतर स्थित हृदयाकाश में स्थिर ध्रुवतारा रूपी उज्ज्वल नक्षत्र दिखाई पड़ता है।

३१—"**ज्योतरूप अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष देखा।**" अर्थात् ज्योति रूप अँगूठे के माप का पुरुष देखा।

३२—दो कालमूर्ति का अंकन करके उसके बगल में लिखा है—'**राधाकृष्ण साधिष्ठान पदमे कृष्णवर्ण देखा।**''—अर्थात् साधिष्ठान अथवा स्वाधिष्ठान चक्र या कमल में कृष्णवर्ण राधाकृष्ण को देखा।

३३—२१ सितम्बर १८७३ ई० को लिखा है—'**महादेव का त्रिशुल विष्णु का सुदर्शनचक्र ब्रह्मा का दण्ड पंचदेवता देखा—सत्य हे भगवान।**

अर्थात् महादेव का त्रिशूल, विष्णु का सुदर्शनचक्र, ब्रह्मा का दण्ड और पंच देवता (गणेश, सूर्य विष्णु शिव और दुर्गा), को देखा और भाव विभोर होकर कहते हैं, हे भगवान तुम ही सत्य हो।

३४—**सप्तऋषि व चार मनु देखा।**" अर्थात् सप्तर्षियों एवं चार मनुओं को देखा। सप्तर्षियों के अन्तर्गत भृगु, अत्रि, अंगिरा, मरीचि पुलस्त्य, पुलह और क्रतु का नाम आता है। मनु को ब्रह्मा का पुत्र माना जाता है, वे मनुष्य जाति के आदिपुरुष थे। चौदह मनु एवं मन्वन्तरों के नाम हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सार्वणि, दक्षसार्वणि, ब्रह्म सार्वणि, धर्म सार्वणि, रुद्र सार्वणि, देव सार्वणि एवं इन्द्रसार्वणि। किन्तु योगिराज चार मनुओं को देखते हैं। इस सन्दर्भ में श्री कृष्ण ने कहा है—

> **महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**
> **मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।**
>
> गीता : १०।६

अर्थात् सात महर्षि और उनसे पूर्ववर्ती चार ऋषि सनक, सनन्द सनातन और सनत कुमार तथा चौदह मनु ये सभी मेरे प्रभाव से युक्त एवं हिरण्यगर्भ रूपी मेरे ही संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। इस जगत के सभी प्राणी जिनकी सन्तान हैं।

यहाँ योगिराज उन चार पूर्ववर्ती मनु अर्थात सनक, सनन्द, सनातन, एवं सनत्कुमार को ही देखते हैं।

३५—**श्री नाथ का दर्शन हुआ।**" अर्थात् लक्ष्मीपति श्री विष्णु का दर्शन हुआ।"

३६—"**शेष नाग पर हरि सयन किए हय हृदय मे देखाता हय।**" अर्थात् हृदय-कमल में शेषनाग के ऊपर हरि को शयन की अवस्था में देखा यानी अनन्त नागरूप शय्या पर शयन करने वाले नारायण को देखा।

३७—"**कृष्ण का शेषनाग पर शयन—एयसा रूप आँखो से देखा।**"

अर्थात् कृष्ण शेष नाग पर सोए हैं—ऐसा रूप खुली आँखों से देखा। यह रूप कैसा है—उसे अपनी दिनलिपि में अंकित कर रक्खा है।

३८—'अनत देव देखा।'—अर्थात अनन्तदेव नारायण को देखा।

३९—"रुद्रराज देखा।" अर्थात् रुद्रराज शिव को देखा।

४०—"मत्स्यावतार देखा।"

४१—वाराहावतार देखा

४२—"शिव सनक शक्ति—रामचन्द्र का धनुक देखा" अर्थात् शिव ब्रह्मा के मानसपुत्र सनक एवं शक्ति रूपा जगद्धात्री एवं रामचन्द्र के धनुष को देखा।

४३—"नारद का विन देखा।" अर्थात् नारद की वीणा देखा।

४४—"मोगल दरवान भगवान का देखा।" अर्थात् भगवान के मोग़ल रूपी दरवान को देखा। यहाँ उन्होंने अपनी डायरी या दिनलिपि में एक मुसलमान का चित्र आँक रक्खा है।

४५—'विष्णु जी पदम देखा। अर्थात् विष्णुपद देखा।

४६—नारायण देखा।"

४७—"पंचानन शक्ति रूप देखा।" अर्थात् शिव के शक्ति रूप को या शिवशक्ति को देखा। वहाँ शिव एवं शक्ति को उन्होंने अभिन्न रूप में देखा है।

४८—"लक्ष्मीनारायण देखा।"

४९—"त्रिशूल महादेव का देखा।"

५०—"कृष्ण कालीजी भयराह देखा लेकिन कुछ बोले नेहि।" अर्थात् कृष्ण काली हुए यह देखा किन्तु कुछ कहा नहीं।

५१—"कृष्ण का रूप ओंकार हरि का रूप देखा।" अर्थात् कृष्ण-रूप एवं हरि के ओंकार रूप को देखा।

५२—"सर्वघट बिराजमान ओकार से परे पुरुषोत्तम नारायण का रूप इसि घट में सूर्य को देखत देखत मालुम होता हय।" यहां अपनी दिनलिपि में पुरुषोत्तम नारायण का रूप आँककर उसके बगल में लिखा है इस देह रूप घट के कूटस्थ में स्थिति प्राप्त होने पर जो आत्मसूर्य दिखाई देता है उस आत्मसूर्य को देखते-देखते यह समझ में आया कि ओंकार से परे सर्वघट में व्याप्त विराजमान पुरुषोत्तम नारायण हैं।

५३—"ब्रह्मा विष्णु महेश देखा।" अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-महेश को देखा। इन तीन प्रमुख देवों को वे एक साथ ही देख रहे हैं।

५४—"दश महाविद्या देखा।" अर्थात् काली, तारा, षोड़शी, भुवनेश्वरी भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, एवं कमला इन दश महाविद्याओं या महादेवियों को देखा।

५५—"कल्पवृक्ष नाल—ब्रह्मा विष्णु महेश पंचदेवता देखा। कल्पवृक्ष असल।" अर्थात् कल्पवृक्ष नाल एवं ब्रह्मा विष्णु महेश के साथ

पंचदेवता को देखा। यह कल्पवृक्ष अथवा कल्पतरु ही सत्य है, मूल है। "भारि परदा विचका जिसमें लखा न जाय उह परम पुरुष जो अनादि निराकार आपने मे हय याने आँख एक जो हय कल्पवृक्ष। उस्के बाद फिर एक लम्बा देखा जो ले जाता अभय पद को उह सूर्य से पायदा हय वो सूर्य सून्य में मिला हय। एहि हय शिवलिंग इसका वर्णन को कर सके एहि तुम हो इह छोड़ाय के दुसरा कोइ नहि। अर्थात् कूटस्थ के भीतर जो भारी परदा है उसमें जो दिखाई देता है वही परम पुरुष है और फिर वे ही आदि, मध्य एवं अन्त, निराकार, स्वयंभू स्वरूप हैं—फिर जब सब स्वच्छ कूटस्थरूपी एक चक्षु होते हैं तब वे ही कल्पवृक्ष या कल्प तरु हैं। इसके बाद एक लम्बी ज्योति-रेखा को देखा जो अभयपद तक पहुँचा देती है। जिसकी उत्पत्ति आत्मसूर्य से हुई है। वह आत्म सूर्य महाशून्य में मिल जाता है। यह जो लम्बा ज्योतिरूप या लम्बवत ज्योतिर्मय रूप देख रहा हूँ वहीं शिवलिंग है। इसकी व्याख्या अथवा वर्णन योगी कर सकते हैं। यही हम-तुम और सभी हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई नहीं।

५६—"**किसोर मूर्ति देखा।**" अर्थात् भगवान का किशोर रूप देखा।

५७—"**ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेवेर रूप देखा—बडा आनन्द हुआ।**" अर्थात् ज्योतिर्मय श्वेतवर्ण महादेव के रूप का दर्शन हुआ; बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ।

५८—गुरु नानक का एक चित्र आँककर उसके बग़ल में लिखा है—"**नानकसाब सूर्य का मूर्त्त हय।**" अर्थात् नानक साहेब आत्मसूर्य के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

५९—"**द्विदल पदम (आज्ञाचक्र) जयसा देखना चाहिए—**

अर्थात् द्विदल पदम रूपी आज्ञा चक्र को जैसा देखना चाहिए। यह उसका रेखांकन है।

• • •

इन समस्त तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि वेद, उपनिषद गीता आदि आर्ष ग्रन्थों के द्वारा ऋषियों ने ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवित की अवस्थाओं की क्रमपूर्वक जो व्याख्या अथवा विवरण प्रस्तुत किया है

वैसो ही उपलब्धि के द्वारा योगिराज ने भी आर्ष अवस्था प्राप्त की थी। यह सब कुछ उनकी उपलब्ध डायरियों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। सचमुच योगिराज न:सन्देह भारत के एक अन्यतम ऋषि थे।

भक्तों से घिरे महायोगी उपदेश दे रहे हैं। किसी भक्त ने जिज्ञासा प्रकट की—"ईश्वर क्या है ?"

योगिराज ने कहा—जानते हो, ईश्वर क्या है ? यही अभी जो तुमने 'ईश्वर क्या' का प्रश्न जिस शक्ति के माध्यम से किया, वही ईश्वर है, वह अगर नहीं होता तो ईश्वर क्या है' यह बात तुम कह ही नहीं पाते। उन्हीं की शक्ति ने सर्वदा जीव को धारण कर रखा है इसीलिए वह जगद्धात्री है, राधा है। रा' का अर्थ है विश्व एवं 'धा' का अर्थ है धारण करना। उसी शक्ति ने जीव देह को धारण कर रक्खा है इसीलिए वह राधा है।"

दूसरे एक भक्त ने पूछा—' मृत्यु क्या है ?"

योगिराज ने कहा—'प्राकृतिक कारणों से चंचल प्राण का स्थिर हो जाना ही मृत्यु है। उस स्थिति में जीव के कर्म का संस्कार रहता है; किन्तु समाधि की अवस्था में जिस स्थिर अवस्था का अस्तित्व है यह भी मृतवत है लेकिन उस समय कर्म का संस्कार नहीं रहता। सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो श्वास-ग्रहण की क्रिया का होना ही जीव के जीवित होने की अवस्था है और उसका अभाव या त्याग ही मृत्यु है। क्योंकि श्वास छोड़ने के पश्चात् यदि फिर श्वास लेने की क्रिया न हो तो ऐसी स्थिति में जीव मृत है। इस श्वास-प्रश्वास के ग्रहण एवं त्याग की प्रक्रिया यदि क्रमश: जीव की जीवित एव मृत अवस्था है तो फिर वह जीव के शरीर में हमेशा ही हो रही है। जन्म और मृत्यु हमेशा ही हो रहे हैं। उस ओर किसी की दृष्टि या लक्ष्य नहीं है। अतएव वह वास्तविक मृत्यु नहीं है केवल जीव का चोला बदलता है। क्योंकि ऐसी मृत्यु होने पर फिर जन्म लेना पड़ता है। आना-जाना तो लगा ही रहता है। वास्तविक मृत्यु है ब्रह्म में लीन हो जाना, मूल उत्स या केन्द्र तक पहुँच जाना; जहाँ जाने पर पुनरावर्तन नहीं होता अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते॥

गीता : ८।१६

अर्थात् हे अर्जुन ब्रह्मलोक से भी सबका पुनरावर्तन होता है किन्तु मुझे (आत्मा को) प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन नहीं होता अर्थात् आज्ञाचक्र

में अ-स्थायी स्थितिरूपी ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बावजूद पुनरावर्तन होता है जब तक पूर्णरूप से आत्मा की प्राप्ति रूपी स्थिति नहीं उपलब्ध होती तब तक मुक्ति की सम्भावना नहीं। अ-स्थायी स्थिति होने के कारण ही मन फिर ऊर्ध्वस्थान से नीचे की ओर च्युत होता है एवं प्राण के पुनः चंचल होने पर पुनः श्वास ग्रहण रूप पुनरावर्तन होता रहता है। किन्तु यदि उसके ऊपर की स्थिति प्राप्त हो जाये अर्थात् मन का लय हो जाये तो फिर उसके पश्चात और कोई अवस्था या स्थिति नहीं है। वही अन्तिम स्थिति है जिसका कहीं कोई शेष नहीं, जो निःशेष है। देहान्तर के पहले इस स्थिति के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

१८८६ ई० (तारीख नहीं) की दिनलिपि या डायरी में लिखा है—"**कथोपकथन नवहाधर सहित।**" नवहाधर सहित का अर्थ है अमित-तेजाः अथवा असीम तेजस्वी आत्मसूर्य का प्रत्यादेश या देववाणी का श्रवण। अर्थात् आत्म सूर्य रूपी मालिक के साथ तर्क-वितर्क हुआ कि उनकी आयु कितनी है? उत्तर नहीं लिखा है—

प्रश्न—मृत्यु कहाँ?

उत्तर—काशी में।

प्र० जिस रास्ते पर जा रहा हूँ क्या यह ठीक है?

उ० योग साधन रीति।

इस अमिततेजाः आत्मसूर्य के सम्बन्ध में योगिराज ने बार-बार कहा है कि यही मालिक सबकुछ का उत्स-मूल, अवस्थान का केन्द्र एवं लय-स्थल है। यही भगवान है और अन्त में यही ब्रह्म है। यह आत्मसूर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह अद्वितीय है। यह आत्मसूर्य सर्वत्र विराजमान है और यह चिरसत्य शुद्ध निर्मल महाशून्यरूपी परब्रह्म है। यह जगत आदि जो प्रत्यक्ष होते हैं ये सभी उस चिर निर्मल आत्मसूर्य की ही चंचलता की अभिव्यक्ति हैं जिन्हें अविद्या और माया की संज्ञा दी गई है। इन सबके भीतर से आत्मसूर्य रूपी परब्रह्म ही प्रतिभासित है। इस आत्मसूर्य का जो प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और अन्त में इसके साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं वे योगी ही अद्वैतवादी हैं और शेष सभी द्वैतवादी। इसीलिए योगिराज कहा करते—"साधक की साधना जहाँ शेष हो जाती है, वहीं से योगी की साधना शुरू होती है।"

दशम परिच्छेद

महा समाधि

योगिराज गरुड़ेश्वर स्थित जिस मकान में रहते थे उसे क्रय अथवा खरीदने के पहले ही उसमें शिव की तीन मूर्तियाँ स्थापित थीं। मकान मन्दिर सहित खरीदा गया था। काशीमणि देवी नित्य ही शिव की पूजा करतीं, किन्तु उनकी आन्तरिक इच्छा थी कि वे स्वयं एक शिव की प्रतिष्ठा करें।

स्कन्दपुराण के अन्तर्गत काशीखंड में इस बात का उल्लेख है कि काशी में शिव की प्रतिष्ठा करना महापुण्य का काम है। यही कारण है कि इस शिवनगरी काशी में अनेक लोग अपने घरों में शिव की प्रतिष्ठा करते हैं। एक दिन काशीमणि देवी ने अपनी यह इच्छा अपने पिता देवनारायण वाचस्पति के निकट व्यक्त की तो उन्होंने कहा था कि "घर में शिव की प्रतिष्ठा करने पर कालान्तर में उनकी अच्छी तरह सेवा या पूजा नहीं हो पाती, इसलिए घर में शिव की प्रतिष्ठा न करना ही अच्छा है। तुम जिस शिव की पूजा करती आ रही हो उसे ही अपना प्रतिष्ठित शिव मानकर पूजा करो।" तभी से काशीमणि देवी जीवन भर उसी पूर्व प्रतिष्ठित शिव को ही भक्ति पूर्वक पूजती रहीं।

एक दिन अपनी दैनिक चर्या के अनुसार प्रातः काशीमणि देवी शिव-पूजा कर रही हैं उसी समय योगिराज दरवाजे के सामने आकर खड़े हो गये। काशीमणि देवी ने सोचा, इस समय तो वे किसी दिन भी इस ओर नहीं आए, आज अकस्मात् क्यों आए? काशीमणि देवी ने मुड़कर देखा।

योगिराज नें मधुर मुस्कान के साथ शान्त स्वर में काशीमणि देवी से कहा—देखो! अब मेरा यहाँ का काम समाप्त हो गया। इस बार जाने का समय आ गया और केवल छह महीने तक रहूँगा, उसके बाद चला जाऊँगा। तुम लोग शोक मत करना केवल तुम्हें ही यह बतलाया है। इसके बाद उन्होंने फिर कहा—देह त्याग के पश्चात् मैं

जिस घर में रहता हूँ उस घर में ही मेरी देह को रख देना, बाद में मैं फ़िर लौट आऊँगा। अगर ऐसा न कर सको तो उस घर में ही समाधि दे देना।"

काशीमणि देवी ने इन सब बातों को कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने सोचा था कि ब्रह्मज्ञ स्वामी ने संभवतः किसी कल्पना के वशीभूत होकर उस तरह की बातें कही होगी।

इस बार महायोगी ने अपने महाप्रस्थान का दिन क्षण निश्चित किया और मर्त्यलीला की समाप्ति के लिए प्रस्तुत हो गए। भक्तों को भी प्रस्तुत करना होगा। इसलिए प्रायः तीन मास पूर्व से ही कई उन्नत भक्तों के निकट यह चर्चा की। धीरे-धीरे निर्धारित दिन निकट आने लगा। छह मास बीतने के पहले एक मास पूर्व उनकी पीठ में एक फोड़ा Carbuncle दिखाई पड़ा। इस कारबंकल रोग को ही उपलक्ष्य बनाकर महायोगी देह-त्याग के लिए प्रस्तुत होने लगे। खबर पाते ही उनके ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी अपने कर्मक्षेत्र दिल्ली से तुरन्त घर आ गए।

भक्तों की विरामहीन सेवा शुरू हो गई। उनके गृह चिकित्सक पूर्णचन्द्र वन्द्योपाध्याय चिकित्सा करने लगे। किन्तु तनिक भी रोग में कमी नहीं हुई। समाचार पाते ही उनके भक्त कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के सुप्रसिद्ध डॉक्टर हेमचन्द्र ने यहाँ आकर चिकित्सा आरंभ की। किन्तु अच्छे लक्षण नहीं दिखे। हेम बाबू ने आपरेशन करने की दृष्टि से उनकी अनुमति मांगी। योगिराज ने मुसकराते हुए कहा—प्रकृति के नियम के अनुसार रहना ही अच्छा है।" डाक्टर ने समझा कि उनकी आपरेशन करवाने की इच्छा नहीं है। इसलिए डाक्टर ने आपरेशन की आशा छोड़कर घाव को साफ करके बैन्डेज कर दिया। किन्तु जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो, क्या उसे बाँधकर रक्खा जा सकता है।

महायोगी को अस्त्रोपचार के पक्ष में न देखकर निरुपाय चिकित्सक ने घाव पर बँधी पट्टी खोल दी। योगिराज स्वयं एक प्रकार का नीम-तेल तैयार करके भक्तों को नाना प्रकार के रोगों में व्यवहार करने के लिये दिया करते थे। घाव पर उस तेल का भी प्रयोग किया गया। किन्तु उससे भी किसी प्रकार के लाभ का सुलक्षण नहीं दिखा। चिकित्सक हेमबाबू कलकत्ता वापस आ गए।

योगिराज नीचे बैठकखाना वाले घर में जिस चौकी पर बैठकर भक्तों के साथ ज्ञान-चर्चा किया करते थे और जहाँ बैठकर भक्तों को ब्रह्मज्ञान से आप्लावित करके उन्हें पूर्णता प्रदान करते थे उसी चौकी पर ही महायोगो सोए हुए हैं। भक्तों के आने-जाने का ताँता

बधा है ओर सेवा हो रही है। सभी श्रेणी के लोग आकर योगिराज का कुशल संवाद ले रहे हैं; सभी चिन्तित हैं। राजपूत ब्राह्मण भक्त कृष्णाराम योगिराज की सेवा में निरन्तर छाया की तरह जुटा हुआ हैं। और अपने गुरु महाराज की मन-प्राण से सेवा कर रहा है। उसकी एक मात्र चेष्टा है कि उन्हें किस प्रकार स्वस्थ किया जाये। किन्तु रोग धीरे धीरे बढ़ता ही जा रहा है। चिकित्सक सभी प्रकार की चेष्टायें कर रहे हैं। विराम-हीन सेवा के बीच भी कृष्णाराम की आंखों से आँसू की धार फूट पड़ती है। सभी लोगों की इच्छा है कि वे भी योगिराज की सेवा करते। घर-परिवार की महिलायें भी यही चाहती हैं। उन दिनों पर्दानशीन समाज में साधारणतः विवाहिता औरतें दूसरे पुरुषों के सामने नहीं आती थीं। कृष्णाराम की निरन्तर सेवा एवं साथ ही तमाम भक्तों के आवागमन से परिवार की महिलाओं को सेवा का सुयोग ही नहीं मिल पाता था। कृष्णाराम एक अकेला ही सौ के बराबर था। वह स्वयं ही सेवा करेगा। उसकी धारणा है उसकी सेवा के बिना सम्भवतः गुरुमहाराज की सेवा ठीक से नहीं होगी। इस कारण और किसी को सेवा करने का सुयोग नहीं मिल पाता।

कृष्णाराम की अक्लान्त सेवा से महायोगी बड़े ही सन्तुष्ट थे। महाप्रयाण के पूर्व दिन उन्होंने कृष्णाराम को स्नेहपूर्वक पास बुलाकर कहा— 'कृष्णाराम मैं तुन्हारी सेवा से बहुत सन्तुष्ट हूँ। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए। जो चाहोगे, वही मिलेगा।"

कृष्णाराम हाथ जोड़कर खड़े हैं। आँखें गंगा-जमुना को तरह झर-झर बह रही हैं, गला सूख गया और हाथ-पाँव काँपने लगे।

स्नेहगम्भीर कंठ से फिर ध्वनित हुआ—"बोलो कृष्णाराम, तुम्हें क्या चाहिए? मैं तुमसे बहुत ही सन्तुष्ट हूँ, तुम्हारे ऊपर बेहद प्रसन्न हूँ।"

आँसू से भीगी आँखों और काँपते हुए कंठ से भक्तिपूर्वक गदगद चित्त होकर कृष्णाराम से कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। केवल एक ही प्रार्थना हैं कि आप के श्री चरणों में मुझे स्थान मिले।"

योगिराज ने मधुर मुस्कान के साथ कहा—"कृष्णाराम वही मिलेगा।"

कृष्णाराम योगिराज के चरणों में लोट गया।

कृष्णाराम की निर्लोभता की एक और घटना की चर्चा योगिराज के अन्यतम शिष्य भूपेन्द्रनाथ सान्याल महाशय के मुँह से सुनी जाती है कि एक बार योगिराज के महाप्रयाण के अनेक दिन बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर भूपेन्द्रनाथ सान्याल के साथ काशीधाम आए थे। सभी दर्शनीय

स्थानों का दर्शन करने के बाद रवीन्द्रनाथ ने कहा—"सान्याल महाशय, सुना है काशी साधुओं की जगह है। क्या मुझे किसी सच्चे साधु का दर्शन करवा सकते हैं ?"

सान्याल महाशय ने कहा—आप क्या किसी वेशधारी नामी या प्रसिद्ध साधु को देखना चाहते हैं या फिर जिसे मैं सच्चे साधु के रूप में जानता हूँ—वैसे किसी साधु का दर्शन करेंगे।

रवीन्द्रनाथ ने कहा आप जिसे वस्तुतः सच्चे साधु के रूप में जानते हैं उसका ही दर्शन करवाइए।"

वे दोनों काशी के गंगातीरवर्ती एक मुहल्ले में कृष्णाराम के वास-स्थान पर गये। कृष्णाराम उदयपुर स्टेट के राधाकृष्ण मन्दिर से संलग्न एक घर में रहते थे। कृष्णाराम आँखें ऊपर की ओर किए बैठे हैं लगता है किसी एक भावराज्य में विचरण कर रहे हैं। देखने से भी प्रतीत होता है कि वे संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हैं। कौन आया और कौन गया; इस ओर दृष्टि ही नहीं। दोनों महानुभाव (रवीन्द्रनाथ एवं सान्याल महाशय) चुपचाप धीरे से बैठ गए। कृष्णाराम चुप बैठे हैं।

कुछ देर बाद सान्याल महाशय ने कहा—

"कृष्णाराम जी हम आए हैं।"

कृष्णाराम का ध्यान टूटा और वे इस अनित्य धाम पर उतर आए।

सान्याल महाशय ने रवीन्द्रनाथ के साथ परिचय करवाया। रवीन्द्रनाथ काफी देर तक उनके साथ धर्म-चर्चा करके सन्तुष्ट हुए। जाते समय रवीन्द्रनाथ ने कृष्णाराम जी को दस रुपया दिया और कहा-- "यह राशि यदि आपकी सेवा में लगे तो मुझे आनन्द प्राप्त होगा।"

कृष्णाराम ने कहा—'मुझे अब अर्थ की कोई आवश्यकता नहीं है।

रवीन्द्रनाथ ने विनीत भाव से फिर कहा—"यह रुपए आप की सेवा में लगें यही मेरी एकमात्र इच्छा है।"

कृष्णाराम ने शान्त स्वर में कहा—"ठीक है, मान लीजिए कि वह रुपया मेरा ही है। अभी आपके पास सुरक्षित रक्खा रहे; जब प्रयोजन होगा, माँग लूँगा।"

● ● ●

योगिराज के प्रिय शिष्य देवघर के पंडित पंचानन भट्टाचार्य[१] सहित अनेक भक्त आकर उपस्थित हुए हैं। उनके और एक प्रिय भक्त स्वामी प्रणवानन्द उस समय उदयपुर में थे। गुरुदेव की अन्तिम अवस्था की खबर पाकर शीघ्र ही काशी जाने की व्यवस्था कर रहे हैं तभी अचानक प्रणवानन्द ने देखा कि उनके गुरुदेव अलौकिक मूर्त्ति या रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित होकर कह रहे हैं—"प्रणवानन्द, अब और जल्दी करने से कोई लाभ नहीं। तुम्हारे पहुँचने के पहले ही मैं देह त्याग करूँगा।"

प्रणवानन्द रोने लगे। योगिराज ने सान्त्वना देते हुए कहा—"रोते क्यों हो ? देह के जाने पर भी सदगुरु का अस्तित्व रहता है। मैं सर्वदा ही हूँ।"

योगिराज के एक और भक्त पाँचकौड़ी वन्द्योपाध्याय[२] उस समय हरिद्वार में थे। योगिराज के तिरोधान के कई दिन पहले वन्द्योपाध्याय महाशय ने देखा कि उनके गुरुदेव ने ज्योतिर्मय रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित होकर कहा—"शीघ्र काशी चले आओ।"

वन्द्योपाध्याय महाशय शीघ्र काशी आ गए। यहाँ आकर देखा कि गुरुदेव नश्वर देह का त्याग करने के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं।

इस प्रकार महाप्रस्थान के पूर्व योगिराज ने अपने अनेक भक्तों को सजग कर दिया था।

१—भट्टाचार्य महाशय बाद में कार्य-वश कलकत्ता लौट गए। योगिराज के देह-त्याग के समय वे काशी में उपस्थित नहीं थे। महाप्रयांण के दूसरे दिन अर्थात् २७ सितम्बर १८९५ ई० बांग्ला ११ आश्विन १३०२ शुक्रवार को योगिराज के ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय ने एक पोस्टकार्ड द्वारा कलकत्ता के वृन्दावन बोस लेन के पते पर पंचानन भट्टाचार्य महाशय को सूचित किया है—"गत कल सायंकाल पाँच बजकर पच्चीस मिनट पर पितृदेव को काशीलाभ हो गया। महाशय, कलकत्ता-स्थित एवं अन्यान्य स्थानीय सभी महाशयों को इस सम्बध में जानकारी देने के लिए जो उचित समझें, करेंगे। जिससे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो, आपलोगों को वही करना है। पत्र द्वारा यह भार आपको सौंपता हूँ।"

पहले के अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख है कि योगिराज के महाप्रयाण के समय भट्टाचार्य महाशय काशी में उपस्थित थे। किन्तु यह सही नहीं है। हालांकि वे अपने गुरुदेव के देह-त्याग की खबर पहले से ही जानते थे। (अनुमति के अनुसार पत्र की प्रतिलिपि दी गई है)

२—ये बाद में केशवानन्द ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

Benares

The Treasury officer
of
Benares

Sir

I request the favor of forwarding the accompanying Pension Roll for renewal.

Inspector General of Military Works No. 4642 d/ 6th Octr 1880. & Offg Assistant to Accountant General Mil'y and Audit No 5678 d/ Allahabad 9th October 1880. ~~...~~ drawn upto ~~Decr 1890~~ April/1891. I am in caste Brahmin. Date of my birth is May 1826.

I have the honor to be,
Sir
Your most obedient servant
Shama Churn Lahiri.
Gurudeshwar
Benares City.

Benares
9 May 91.

दूसरे पृष्ठ पर इस पत्र की प्रतिलिपि द्रष्टव्य ।

Benaras

To,

The Treasury officer of Benaras.

Sir,

I request the favour of forwarding the accompanying Pension Roll for renewal.

Inspector General of Military Works No. 4642 dt. 6th October 1880 and offg. Assistant to Accountant General. NNP and audh No. 5678 dt. Allahabad 9th October 1880 for Rs. 29/4/6 four months drawn upto April 1891. I am in caste Brahmin. Date of my birth is May 1826.*

I have the honour to be

Sir

your most obedient servent,

Shama Charan Lahiree,

Guroodeshwar

Benaras City.

Benaras

7th May 1891.

---

* इस पत्र में योगराज ने अपने जन्म के सम्बन्ध में जिस महीने एवं वर्ष की चर्चा की है वह पूर्णतः ठीक नहीं है। नौकरी के सिलसिले में यही जन्म तिथि है यह तो ठीक ही है; किन्तु डायरी में उनके हाथ की लिखी जन्म-पत्री में जो जन्म-तिथि है उसे ही हमने सही जन्म-तिथि माना है।

योगिराज जिस घर में रहा करते थे उसमें खिड़की न होने के कारण रोशनी कम आ पाती थी। देह त्याग के एक दिन पहले दोपहर के समय महायोगी अत्यन्त अस्वस्थ स्थिति में लेटे हुए थे.। सामने बैठक खाने में उनकी निगरानी करते हुए योगिराज के ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय बैठे थे। हठात् उन्होंने देखा कि उनके पितृ-श्री ने बिस्तर से उठकर कमरे के भीतर की एक दीवार में बनी आलमारी के पास जाकर कुछ क्षण तक कई पुस्तकों को उलटा-पलटा। और अन्त में स्वस्थ, नीरोग व्यक्ति की तरह चलकर पुनः बिस्तर पर आकर लेट गए।

यह देखकर उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ, कमरे में आकर उन्होंने पिता से पूछा—"आप अभी इतने स्वस्थ और चलने-फिरने लायक हैं तो फिर बिछौने पर लेटे-लेटे बेड पैन में क्यों मलमूत्र त्याग करते हैं। कमसे कम नाली पर बैठकर तो टट्टी-पेशाब कर ही सकते हैं?

योगिराज ने पूछा—'तू कहाँ था?'

तिनकौड़ी बाबू ने कहा—'पास वाले घर से सब देख रहा था।'

महायोगी ने मधुर मुस्कान के साथ कहा 'सभी की इच्छा है कि वे कुछ सेवा करें, इसलिए बिछौने पर पड़ा हूँ इस तरह न लेटे रहने से उनकी इच्छा कैसे पूरी होगी? अन्त में गरुड़ेश्वर स्थित मकान[१] के सम्मुख २६ सितम्बर १८९५ ई० (बांग्ला फस्ली सम्वत १३०२ आश्विन ता० १० वृहस्पतिवार को महाष्टमी का दिन उपस्थित, योगिराज रोगशय्या पर पड़े रहने के बावजूद प्रतिदिन जिस प्रकार चौकी पर लेटकर अथवा बैठकर भक्तों को धर्मोपदेश दिया करते उसी प्रकार वे उस दिन भी अत्यन्त अस्वस्थ स्थिति में भगवद्गीता के कई श्लोकों की धीमे और मधुर स्वर में व्याख्या कर रहे हैं। गहरी निस्तब्धता के बीच उपस्थित भक्त सुन रहे हैं। सभी का मन बोझिल हो उठा है। आँखों में आँसू छलक आए हैं। बाहर से महाष्टमी के गाजे-बाजे की आवाज आ रही है। सूर्यास्त की बेला है।

सजल नेत्रों और काँपते हुए स्वरों में भक्तों ने जिज्ञासा प्रकट की—'आपकी अनुपस्थिति अथवा अ-वर्तमानता में हम निराश्रय-बेसहारा हो जायेंगे। तब हमारे लिए कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर होगा?'

---

१. योगिराज के वास-स्थान का वर्तमान पता, डी।३१।५८ मदनपुरा वाराणसी है। गरुड़ेश्वर सम्प्रति मदनपुरा के अंतर्गत है यहां अब उनकी उत्तरवर्ती पीढ़ी के लोग रहते हैं। योगिराज के लाखों भक्त अनुयायियों के लिए वह मकान तीर्थ स्वरूप है।

योगिराज ने अभय प्रदान करते हुए कहा—'ऋषियों द्वारा सेवित एवं साधित इस अमर योगसाधना से जो संपृक्त होता है, वह कभी भी निराश्रत नहीं होता। यह प्राण-कर्म कभी भी लुप्त नहीं हो सकता। यह चिरकाल से रहा है और रहेगा। मनुष्य जितना ही पूर्णता की ओर अग्रसर होगा उतनी ही उसके मन में प्राणकर्म के प्रति उत्साह एवं आग्रह की वृद्धि होगी।'

अधखुले नेत्र की मुद्रा में स्थित योगिराज ने पुन: भक्तों की ओर लक्ष्य करते हुए कहा—'इस महान एवं अमर योग को जिसे गुरुदेव के निकट प्राप्त करके पुन: स्थापित किया है भविष्य में लोग उसकी घर-घर में चर्चा करेंगे और धीरे-धीरे मनुष्य मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होगा। प्राचीनकाल की तरह मनुष्य की जीवन्मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा।'

योगिराज पद्मासन लगाकर बैठ गए। आँखों में आँसू भरे तमाम भक्तों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा—'अब मेरे जाने का समय हो गया। तुम लोग शोक मत करो। नश्वर देह के न रहने पर भी सदगुरु की सत्ता रहती है। मैं हमेशा तुम लोगों के साथ हूँ।'

उस चौकी के ऊपर ही महाष्टमी के सन्धिक्षणों में महासमाधि की स्थिति में उन्होंने महाप्रयाण किया उस समय सायंकाल के पाँच बजकर पचीस मिनट बीत चुके थे।

काफी देर तक उनके शरीर में काठिन्य नहीं आया। भक्तगण पुष्प-माला चन्दन आदि के द्वारा उनकी मृत देह को सजाने लगे। तमाम लोगों ने, स्त्री-पुरुष सभी ने अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए उन्हें अन्तिम प्रणाम दिया।

उस समय अनेक लोगों ने अपना विचार प्रकट किया कि उनके मृतदेह को समाधि दे दी जाये—यही उचित है, किन्तु पण्डितों के शास्त्र विधान एवं विचार के अनुसार योगिराज सिद्ध योगी-पुरुष होते हुए भी गृहस्थाश्रमी थे। इसलिये गृहस्थ आश्रम के अनुसार तथा लौकिक नियमों के साक्ष्य में उनकी मृतदेह का अग्नि-संस्कार करना ही उचित है। अन्त में विराट शोभायात्रा एवं कीर्तन आदि के साथ उनकी मृतदेह मणिकर्णिका घाट पर लाई गई। वहाँ भी तमाम लोगों ने जिनमें अनेक साधु-सन्यासी भी उपस्थित थे उनके प्रति अपनी अन्तिम श्रद्धा निवेदित की। शास्त्रानुसार उनके ज्येष्ठ पुत्र द्वारा मुखाग्नि के पश्चात उनकी लीला देह का अग्नि-सत्कार किया गया। सर्वग्रासी अग्निशिखा धाँय-धाँय करके प्रज्वलित हो उठी—उपस्थित साधुओं संन्यासियों और तमाम स्त्री-पुरुषों के समवेत कंठ से ध्वनित होने लगा 'हर-हर' महादेव शम्भो सैकड़ों भक्तों की आँखों से आँसू की धारायें झर रही थीं। उसी समय

विश्वनाथ मन्दिर में आरती के घन्टे-घड़ियाल बज उठे। एक ओर शोकातुरा काशीमणि देवी छह मास पहले की बात भूल गईं। जिसे योगिराज ने उनसे कहा था। काशीमणि देवी के साथ केवल कई एक महिलाएँ घर पर रह गई थीं। सभी शोक से पीड़ित हैं। इसी बीच काशीमणि देवी को योगिराज द्वारा कही गई बात याद आई। तुरन्त उन्होंने अपने भाई राजचन्द्र सान्याल को श्मशान की ओर भेजा। किन्तु उन्होंने जाकर देखा कि चिता धाँय-धाँय कर जल रही है।

ऐसी भूल उनसे क्यों हुई—शोकातुरा काशीमणि देवी हाय-हाय करके पछताने लगीं।

कुछ देर बाद श्मशान तक जाने वाले लोग लौट आए। काशीमणि देवी के भाई पंडित भगवान सान्याल ने सब कुछ सुनकर कहा—"यह भूल उन्होंने ही करवाई है। महायोगी हमेशा यथार्थ जगत में नहीं रहते थे। संभवत उन्होंने वैसी ही कल्पनालोक की स्थिति में कहा था। इसके बाद उन्होंने ही यह भी मार्ग दिखाया था कि वे गृहस्थ व्यक्ति हैं इसलिए गृहस्थ आश्रम के अनुकूल ही लौकिक रीति-रस्म और नियम पूर्वक अन्त्येष्टि करना उचित है। इसीलिए उन्होंने ही यह भूल करवा दी है। उसके लिए दुख या चिन्ता की कोई बात नहीं।"

जिस बात की चर्चा उन्होंने काशीमणि देवी से की थी, ठीक उसी प्रकार समाधिस्थ होकर देहत्याग करने की जो इच्छा उनके मन में पहले से ही थी उसका प्रमाण उनकी स्वहस्त लिखित डायरी से प्राप्त होता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—**"आज एरादा हय कि अनहद ध्वनि में ध्यान साम से कल साम तक लगावे अगर हम मर जाय तो कोई हमको न फेंके—इहँइ गाड़ के रखो या वैसेहि बइठायके रखो हम फिर जागेंगे।"** अर्थात आज इच्छा हो रही है कि अनहद नाद या अनाहत ध्वनि में चित्त को निविष्ट करके आज शाम से कल शाम तक रहें; यदि मैं इसी अवस्था में मर जाऊँ तो कोई मुझे फेंक न दे—यहीं गाड़ दे अथवा उसी तरह बैठाकर रखे। मैं फिर जागूँगा। योगिराज के महाप्रयाण के पश्चात् ही उनके प्रिय शिष्य देवघर के पंडित पंचानन भट्टाचार्य महाशय एक लम्बे पत्र में किसी एक क्रियावान या क्रियायोगी को अपने गुरुदेव के नश्वर-देह के त्याग के समय का विशद वर्णन करते हुए लिखते हैं।[१]

१—उपरोक्त पत्र की प्रतिलिपि अनुमति के अनुसार दी गई है। वे योगिराज के आदरणीय शिष्य थे और साधना की उच्च अवस्था प्राप्त करके अनेक

"नमस्कारान्तरमिदं, नमस्कार के पश्चात् निवेदित है—

"दीक्षागुरु यदि सिद्ध न हो तो फिर असिद्ध गुरु को औषधि आदि की आवश्यकता हो सकती है और ऐसा करना भी उचित है। सिद्ध अथवा मुक्त पुरुष को किसी की आवश्यकता नहीं होती। वायु-विकार से जितने प्रकार के रोग रोते हैं और वह भी वायु की चंचलता से होते रहते हैं। जो सिद्ध अथवा मुक्त होते हैं वे सर्वदा ही स्थिर वायु में रमण करते रहते हैं। जहाँ वायु स्थिर है—वहाँ रोग कहाँ? लेकिन जीवभावापन्न मूढ़ व्यक्ति अपनी तरह मान कर सिद्ध अथवा मुक्त पुरुषों को औषधि आदि द्वारा नीरोग करने की दिशा में दौड़ते हैं। यह केवल उनकी अदूरदर्शिता का परिणाम है। वे नासमझी के कारण सिद्ध या मुक्त पुरुष को रोगी के रूप में देखकर उसकी अवमानना करते हैं। वह भी वे अपने स्वार्थ कीं सिद्धि के लिए किया करते हैं। अर्थात् जिनकी साधु होने के बहाने साधु होने की इच्छा रहती है वे कहा करते हैं कि सिद्ध मुक्त पुरुष भी रोग ग्रस्त हुआ करते हैं और वे भी औषधि आदि का सेवन करते हैं। क्योंकि ऐसा नहीं कहने पर उनकी प्रतिपत्ति का क्या होगा? क्योंकि उन्हें स्वयं रोग होने पर औषधि खाना चाहिए नहीं तो मृत्यु का भय है। इसलिए सिद्ध पुरुष भी औषधि का सेवन करते हैं और औषधि का सेवन कराना उचित भी है। औषधि नहीं देना पाप है यह वे ही कहा करते हैं। सिद्ध अथवा मुक्त पुरुष को साधारण मनुष्य के रूप में मानना या उनकी गणना करना क्या यह महापाप नहीं है? जो सिद्ध या मुक्त पुरुष हैं वे पहचान में आ जाने के भय से कभी-कभी साधारण मनुष्यों की तरह सब को अपने कार्य का आभास दिया करते हैं। इसीलिए जो सामान्य व्यक्ति हैं, कहा करते हैं कि सिद्ध अथवा मुक्त पुरुष भी औषधि का सेवन किया करते हैं और वे व्याधि ग्रस्त भी हुआ करते हैं तथा भले-बुरे कार्य भी किया करते हैं। किन्तु वे कुछ भी नहीं करते एवं वे व्याधिग्रस्त भी नहीं होते—यह सामान्य व्यक्ति को ज्ञात नहीं। यह गुरुदेव के देह-त्याग के समय भी हुआ था। गुरुदेव के कोई शिष्य जो लोक एवं समाज में गुरुदेव को गुरु के रूप में स्वीकार करते हैं उन्होंने उन्हें रोगी मानकर औषधि एवं चिकित्सा की व्यवस्था करने की व्यस्तता दिखाई थी। किन्तु गुरुदेव ने अपने पुत्र

लोगों को आत्मानुसन्धान का मार्ग दिखाया था। बांग्लादेश के अनेकों व्यक्तियों को जो योग दीक्षा प्राप्त करने के इच्छुक होते योगिराज उन्हें भट्टाचार्य महाशय के पास भेज देते। योगिराज के जितने भी ग्रन्थ प्रकाशित होते—अधिकांशत: भट्टाचार्य महाशय कें तत्त्वावधान में होते।

तिनकौड़ी बाबू से यह बात कही कि "मेरी कोई भी चिकित्सा करना अच्छा नहीं। स्वाभाविक रूप से रहना ही अच्छा है।" जो खुदा के ऊपर खुदगीरी करने की कोशिश करते हैं वे किस प्रकृति के लोग हैं वह समझ सकता हूँ। मान लीजिए, यदि वे व्याधिग्रस्त थे तो फिर उनके मल-मूत्र में रोग-जन्य दुर्गन्ध क्यों नहीं थी एवं घाव में जो मवाद थी कम से कम उसमें तो दुर्गन्ध होनी चाहिए वह भी नहीं थी। यह सब कुछ देखकर भी लोगों को होश नहीं। अफसोस तो इस बात का है कि इन लोगों ने क्या मान लिया है; क्या वे एक वेशधारी साधु महात्मा थे? उन्होंने किस कारण से देह-त्याग किया और मुक्त पुरुष जिस प्रकार देह-त्याग किया करते हैं उन्होंने भी उसी तरह देह-त्याग किया है। किन्तु उन्हें सामान्य मानव के रूप में समझना उचित नहीं। उनकी चिकित्सा कौन करेगा? उसको इस बात का ज्ञान या जानकारी रखना उचित है कि अहंकारी जीव अहं के नशे में चूर होकर नाना प्रकार के प्रलाप की सृष्टि करते रहते हैं। इससे उनकी कोई क्षति नहीं। वे देह-त्याग करेंगे ऐसा उन्होंने मुझसे अगस्त मास में ही कह रक्खा था और मैंने भी आठ-दस व्यक्यों से इस बात की चर्चा की थी···

(इसके बाद का अंश उपलब्ध नहीं)

• • •

इस महायोगी के दर्शन करने पर लगता जैसे एक स्वर्गलोक का शिशु विश्व जननी की अभय-निर्भय गोद में अत्यन्त निश्चिन्तता के साथ बैठा है। आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न इस महायोगी को देह वार्द्धक्य स्पर्श तक नहीं कर पाया, केवल सर के केश ही श्वेत हुए थे। किन्तु शरीर में कहीं कोई सिकुड़न नहीं आ पाई थी। ये ऐसे महायोगी थे कि अपनी इच्छानुसार स्थूल देह का नये रूप में गठन कर सकते थे। यह शक्ति उनमें थी[१] किन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया बल्कि कहा करते थे कि जिसे एक न एक दिन अवश्य ही परित्याग करना पड़ेगा उसे प्रयोजन पूर्ति के पश्चात् त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

१—किस-किस साधना एवं प्रक्रिया के माध्यम से कायाकल्प किया जाता है अथवा नया शरीर प्राप्त होता है—वह उनकी डायरी में लिपिवद्ध है। किन्तु गूढ़तत्व सम्बन्धी साधना के कारण उसे प्रकाशित नहीं किया गया।

वे अपनी पाँचभौतिक देह परित्याग करने के वावजूद भक्तों के निकट हमेशा विराजमान हैं। इस महायोगी का आशीर्वाद उनके असंख्य उन्नत शिष्यों के जीवन में कितना प्रतिफलित हुआ उसे उनके कई भक्तों के दर्शन से ही समझा जा सकता है।

महायोगी ने जीवन के अन्तिम क्षणों में कृष्णाराम की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें मनचाहा वरदान माँगने का आदेश दिया था। कृष्णाराम सांसारिक, इच्छाओं, वासनाओं से ऊपर थे उन्होंने उस दिन हाथ जोड़कर निवेदन किया था कि गुरु के चरणों की छाया और आश्रय के अतिरिक्त उनकी और कोई कामना नहीं है।

पहले ही कहा जा चुका है कि कृष्णाराम उत्तरवाहिनी गंगा के तट पर स्थित राणामहल घाट के ऊपर अवस्थित उदयपुर स्टेट द्वारा निर्मित राधाकृष्ण के मन्दिर से संलग्न एक घर में रहा करते थे। महाप्रयाण के पुण्य क्षणों में योगिराज के एक पार्श्व में उनके ज्येष्ठ पुत्र तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय और दूसरे पार्श्व में योगिराज के अन्यतम एकनिष्ठ सेवक वंशीधर जी बैठे हैं। प्रयाण-मुहूर्त्त के समय श्वास की गति ऊर्ध्वमुखी हो गई है; किन्तु कृष्णाराम जी धीर स्निग्ध और अकम्पित स्वर में कंठस्थ गीता का आद्योपान्त पाठ किए जा रहे हैं। पुरुषोत्तम योग के अन्तिम श्लोक "एतदबुदध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत" का उच्चारण करने के साथ-साथ उनका प्राणवायु महाव्योम में लीन हो गया।

अत्यन्त शान्त एवं गम्भीर तथा अचंचल तिनकौड़ी लाहिड़ी महाशय और वंशीधर जी की आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे।

● ● ●

काशीमणि देवी परलोक यात्रा के उद्देश्य से शय्या पर लेटी हैं। उन्हें कोई रोग नहीं था; वार्द्धक्य ही उनकी मृत्यु का कारण था। हठात् उन्होंने अपने पौत्र को बुलाकर कहा—"अभी तुम्हारे पूज्य बाबा आएंगे, उन्हें आसन देना होगा तो।"

पौत्र ने पूछा—'बाबा अब कहाँ हैं जो आएँगे'।

हलकी मुसकान के साथ काशीमणि देवी ने कहा। विश्वनाथ के मन्दिर में हैं।'

पौत्र ने कौतुक पूर्वक पूछा—"क्या वे नित्य ही आपके पास आते हैं?"

पुनः हलकी हँसी के साथ काशीमणि देवी ने कहा—"हाँ, वे प्रति दिन ही मुझे देखने आते हैं। यहाँ बैठते हैं ढेर सारी बातें कहते हैं। आज भी आएँगे, इसीलिए तुझे आसन बिछाने के लिये कहती हूँ।"

पौत्र ने आसन बिछा दिया। उसके कई दिन बाद काशीमणि देवी ने सज्ञान स्थिति में परलोक गमन किया।

योगिराज के प्रिय शिष्य रामपदारथ जी प्रतिदिन आते और योगिराज द्वारा व्यवहृत पुण्य कक्ष में कुछ समय तक ध्यान धारणा करके चले जाते। वार्द्धक्य के कारण धीरे-धीरे उनका शरीर शिथिल हो गया। आँख से भी अच्छी तरह नहीं देख पाते फिर भी लाठी के सहारे प्रतिदिन आना उनकी दिनचर्या में शामिल था। इस प्रकार एक दिन रामपदारथ जी आते वक्त रास्ते में गिर पड़े। उसी समय योगिराज के कनिष्ठ पौत्र श्री सत्यचरण लाहिड़ी महाशय उसी रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने दौड़कर उन्हें उठाया और पूछा—इतनी उम्र में इतना कष्ट करके प्रतिदिन आने की क्या जरूरत है?

पाँव कट गया है फिर भी मुसकराते हुए रामपदारथ जी ने कहा—"गुरु महाराज की मुझ पर बड़ी कृपा रही है किन्तु मैं इतना अपदार्थ हूँ कि जीवन में कुछ भी नहीं कर पाया। इसीलिए उनके दरबार में प्रतिदिन एक बार हाजिरी दे जाता हूँ। साधु का दरबार है; जिस दिन उनकी कृपा प्राप्त होगी, उद्धार हो जाएगा।"

बाद में धीरे-धीरे वार्द्धक्य के कारण वे अपने गुरु के पुण्य वास-स्थान पर हाजिरी नहीं दे पाते थे। जीवन की अन्तिम यात्रा के समय अपने भतीजे को उन्होंने बुलाकर कहा—"अरे! गुरु महाराज आकर खड़े हैं बैठने के लिए एक आसन बिछा दे!"

भतीजे ने पूछा—"कहाँ हैं आपके गुरु महाराज? मरणासन्न रामपदारथ जी ने हाथ बढ़ाते हुए मुसकरा कर कहा—"वह देख, महा-राज खड़े हैं देख नहीं पाता है क्या? बैठने को आसन बिछा दे।"

भतीजे ने वैसा ही किया। थोड़ी देर बाद प्राणों से भी प्यारे गुरु का स्मरण करते-करते रामपदारथ जी का जीवन-दीप बुझ गया।

योगिराज की ज्येष्ठा कन्या हरिमती देवी के कोई सन्तान नहीं थी। वे यहीं पिता के घर ही रहा करती थीं। वे लगभग ८५ वर्ष की उम्र तक जीवित थीं।

उनके परलोक गमन के एक दिन पहले शाम को घर पर कृष्ण-लीला-कीर्तन हो रहा था और वे दो तल्ले पर बैठी कीर्तन सुन रही थीं। वृद्धावस्था के कारण कुछ अस्वस्थता का भान होने पर वे घर में आकर बिछौने पर लेट गईं और भतीजे सत्यचरण को बुलवाया। सत्यचरण

के आते ही उन्होंने कहा—"यहाँ आसन बिछा दे, पिता जी मुझे लेने आए हैं, बैठने दे।

उनकी बात से सत्यचरण लाहिड़ी महाशय कुछ विस्मित हुए और जो आसन एक बार काशीमणि देवी के महाप्रयाण के समय योगिराज के लिए बिछाया गया था; वही आसन उन्होंने बिछा दिया। उसी दिन ही रात्रि के अन्तिम प्रहर के ब्राह्म मुहूर्त में अपना चिर अभ्यस्त "ब्रह्मा मुरारी त्रिपुरान्तकारी' 'रामाय रामचन्द्राय' आदि प्रिय प्रभाती स्तोत्रों का पाठ करते-करते उनका प्राणवायु महाकाश में विलीन हो गया।

योगिराज के निजी सेवक वंशीधर खन्ना बाद में काशी से २० मील दूर योगिराज के वंश के लोगों की जमीदारी में नायब का काम करते। अत्यन्त विश्वस्त होने के नाते जमीदारी के सारे कार्य की देख-भाल का भार उन्हें दिया गया था। इस कारण वे गुरुधन या उनकी सम्पदा की जी-जान से रक्षा करते।

उनकी वृद्धावस्था में उनके एक आत्मीय वेणीप्रसाद खत्री ने एक दिन कहा—"अब काशी में रहने की व्यवस्था कीजिए; नहीं तो क्या इस जंगल में ही मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए पड़े रहेंगे ?"

वंशीधर जी ने कहा—"गुरु महाराज की मुझ पर अनेक कृपा थी किन्तु मैं कुछ भी नहीं कर पाया। इसीलिए इस शरीर के द्वारा जो भी कार्य होता है सब उन्हीं का कार्य है। यह शरीर उन्हीं के चरणों में अर्पित कर दिया है। अब उनकी इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है वे चाहे जंगल में रक्खें चाहे अपने चरणों में स्थान दें, इसके लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं।"

एक दिन योगिराज के पौत्र सत्यचरण लाहिड़ी महाशय ने जहाँ उनकी जमींदारी थी वहाँ जाकर उनसे कहा—"आप बूढ़े हो गए हैं अब आपको सेवा की जरूरत है। आप अपने पुत्र एवं पुत्र-वधू के पास जाकर रहें। आपके खर्चे के लिए हर माह कुछ भेज दिया जायगा।"

वंशीधर जी ने कहा—'ऐसी बात मत कहिए। जब तक आपके कार्य के लिए जितने दिनों तक कलम हाथ में रहे उतने दिनों तक आपका अन्न खाऊँ। जिस दिन कलम नहीं पकड़ पाऊँगा; उस दिन गुरु महाराज के चरणों में स्थान मिले; यही इच्छा है। अपना भार आप लोगों के ऊपर नहीं देना चाहता और लड़कों के ऊपर भी नहीं देना चाहता। मेरे मरने पर मेरा शरीर काशी नहीं ले जाएँ—मैं नहीं चाहता कि इसके लिए गुरु जी का धन खर्च हो। मृत देह जंगल में फेंक दीजिएगा जानवरों के काम आ जाएगी।"

Scanned by CamScanner

कुछ दिन बाद जमींदारी के कार्य में व्यस्त रहते हुए अचानक बीमार पड़ गए। और अच्छी तरह से देखभाल एव चिकित्सा के लिए उन्हें काशी लाया गया। उस दिन क्वार मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी थी। दूसरे दिन कोजागरी पूर्णिमा के दिन दोपहर, जिस घर में योगिराज रहा करते थे उसके सामने बरामदे में लेटे हुए वंशीधर जी अन्तिम यात्रा की प्रतीक्षा में थे। योगिराज के पौत्र सत्यचरण लाहिड़ी महाशय एवं योगिराज के अन्यतम शिष्य भूपेन्द्रनाथ सान्याल महाशय के साथ और भी अनेक भक्त उपस्थित हैं। सान्याल महाशय सिरहाने बैठकर सुमधुर स्वर में गीता का पाठ कर रहे हैं। प्राण से भी अधिक प्यारे गुरु का स्मरण करते-करते वंशीधर जी ने चिर समाधि प्राप्त की और ३८ वर्ष के एक लम्बे समय तक निरन्तर गुरु की सेवा में तल्लीन एक उन्नत क्रियावान का जीवन गुरुचरणों में लीन हो गया।

गुरु चरणों के आश्रय की सांसारिक प्रभावशाली महत्ता के प्रमाण स्वरूप राममोहन दे एवं उनकी बहन मनोमोहिनी की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। मनोमोहिनी की गुरु के चरणों में कितनी अगाध आस्था और निष्ठा थी वह उनके अन्तिम क्षणों में रूपायित होती है।

मनोमोहिनी के सिरहाने उनके आराध्य गुरुदेव का एक चित्र रक्खा रहता। मृत्यु के एक दिन पहले अपने बेटे को बुलाकर उस चित्र को सामने रखने को कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने गुरुदेव के कनिष्ठ पौत्र सत्यचरण लाहिड़ी महाशय को बुलवाया एवं अपने गुरुदेव की पादुका को धोकर उसका चरणामृत ला देने की प्रार्थना की। चरणामृत आ जाने पर उन्होंने परम श्रद्धा के साथ गुरु-पौत्र एवं अन्य प्रियजनों के हाथों उसका पान किया और अपने आराध्यदेवता के चित्र को अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने वक्ष पर रख लिया और गुरुचरणों में हाथ जोड़कर निर्निमेष अपलक नेत्रों से देखती रहीं—कुछ क्षण पश्चात ही एक गुरुपदाश्रित प्राण गुरु के चरण कमलों में सदैव के लिए लीन हो गया।

● ● ●

योगिराज एक अमृतमय ज्योतिलोक की यात्रा पर चले गए। किन्तु उन्होंने जिस आदर्श को स्थापना की है और मुक्तिमार्ग की खोज करके उसे प्रशस्त किया है उसे कभी भी गृहस्थाश्रमी व्यक्ति नहीं भुला सकेंगे। उनके द्वारा निर्देशित एवं प्रदर्शित मार्ग पर आज भी लाखों व्यक्ति चुपचाप अपने घरों के एकान्त शान्त वातावरण में मुक्तिपथ की

ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। आज भी बगाल, बिहार उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, उत्तरपश्चिमांचल, पंजाब तथा समग्र प्राच्य एवं पाश्चात्य देश में उनके अनेक भक्त वर्तमान हैं उनमें अनेक सुपरिचित एवं सु-ख्यात-विख्यात योगी-मनीषी हैं।

योगिराज के जीवन की अनेक घटनाओं की तरह उनके साधना कालीन जीवन के बारे में भी सामान्य जन को कोई जानकारी नहीं है। क्योंकि उनकी साधना की अधिकांश प्रक्रिया एवं पद्धति लोगों की दृष्टि से परे एकांत में क्रियान्वित हुई है। साधारण मनुष्य की साधना केवल अपनी मुक्ति के लिए होती है; किन्तु योगिराज जैसे महान योगी पुरुषों की साधना व्यष्टि-समष्टि दोनों की मुक्ति एवं एक सार्वभौम आदर्श की स्थापना के लिए हुआ करती है। साधना तो दोनों ही हैं किन्तु दोनों का उद्देश्य अलग-अलग है।

वे 'अनेक' प्रकार की साधनाओं के भीतर से 'एक' की ओर नहीं जाते बल्कि एकत्व में प्रतिष्ठित होकर अनेक साधनाओं के प्रति उन्मुख रहे। अर्थात् स्वतंत्ररूप से किसी देव-देवी की साधना न करके मूल आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित रहकर उन्होंने जो साधना की है उसके माध्यम से स्वयं ही समस्त देव-देवियों के दर्शन प्राप्त हुए हैं। किन्तु आत्ममय, सर्वभावमय ही उनका इष्ट था। सभी देव-देवियों के भीतर जो शक्ति, प्रकाश, आत्ममयता और सर्वभावमयता के रूप में प्रतिष्ठित है, प्रति-बिम्बित है, वही उनका इष्ट है। उन्होंने ईश्वर को माता-पिता और सखा के रूप में नहीं देखा। उन्होंने आत्मा को आत्मारूप अथवा आत्म-स्वरूप में देखा था। वे कहा करते थे—"दिन के रहने से ही जिस प्रकार रात रहती है (अर्थात् दिन के साथ रात का होना अनिवार्य है,) सुख के रहने से दुख रहता है। उसी प्रकार इष्ट की उपस्थिति में ही अनिष्ट रहता है। प्राण की सेवा करो, प्राण की सेवा करने से ही इष्ट की प्राप्ति होगी, सेवा नहीं करने से ही अनिष्ट होगा। प्राणकर्म ही प्राण की सेवा है। प्राण की चंचलता ही अनिष्ट है, स्थिरता ही इष्ट है।"

आत्मदर्शन ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। मनुष्यजीवन में यदि आत्मदर्शन की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर मानव-जीवन व्यर्थ है। यही उनके जीवन-दर्शन का मूल तत्व था। वे कहा करते थे कि सांसारिक एवं भौतिक सुखों का भोग-उपभोग ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य नहीं है। उनका दृढ़ एवं स्पष्ट विचार था कि अनेक शास्त्रों, ज्ञान-विज्ञान आदि के पाण्डित्य की प्राप्ति तथा उनके प्रचार-प्रसार से क्या लाभ होगा अथवा धर्म प्रचार के उद्देश्य से भाषण-प्रवचन आदि से क्या होगा यदि आत्म दर्शन की उपलब्धि नही हुई तो यह सब व्यर्थ है। वे कहा करते

थे कि ससार का उपकार या कल्याण करने के लिये इतनी व्यस्तता क्यों ? जगत का स्थायी उपकार कितना कर सकते हो ? जितना करते हो, वह स्थायी नहीं है। आत्मा की खोज का मार्ग-निर्देशन ही स्थायी उपकार है। यदि ऐसा हो पाया तो जीव के जन्म-जन्मान्तर का दुख दूर हो जाता है। वह भवरोग या सांसारिक आपदाओं से मुक्त हो जाता है। यदि जन्म नहीं तो फिर दुःख कहाँ। इसीलिये उन्होंने अत्यधिक कर्मलिप्सा के बन्धन में बँधने या कर्माशक्ति के प्रति निषेध व्यक्त किया है। उनका कहना था कि मन को हमेशा आत्म-ध्यान में तन्मय रखने से उसकी प्राप्ति होती है वह मन यदि हर समय परोपकार अथवा स्वार्थ-चिन्ता में व्यस्त रहे तो फिर समझना होगा कि मन का अपचय हो रहा है और चंचलता की वृद्धि हो रही है। जो परोपकार करते हैं वे सचमुच अच्छे लोग हैं किन्तु उससे आत्मोपलब्धि नहीं होती। ये तमाम कार्य साधना-मार्ग के केवल बहिरंग पक्ष हैं। आत्मप्राप्ति या आत्मोपलब्धि को यदि जीवन का मुख्य लक्ष्य निर्धारित करना चाहते हो तो फिर हमेशा, निरन्तर प्राण की सेवा करो, उसकी उपासना करो अर्थात् प्राणकर्म करो और आत्मध्यान में तन्मयता के साथ प्रतिष्ठित रहो प्राणकर्म में शिथिलता एवं प्रचेष्टा, प्रयास के अभाव में उस मूल्यवान महारत्न की प्राप्ति नहीं होगी। इसके लिये विवेक, वैराग्य और दृढ़ता चाहिए इसीलिए वे कभी भी उत्कट बैराग्य को प्रश्रय नहीं देते थे। उत्कट वैराग्य को वे हठकारिता के समान मानते थे। वे भाषण प्रवचन की उपयोगिता की भी बिल्कुल उपेक्षा नहीं करते थे बल्कि उनका कहना था कि पहले स्वयं आत्म साक्षात्कार करो। स्थायी स्थिति को प्राप्त करो उसके बाद भाषण-प्रवचन या जो कुछ भी करो। साधनारहित व्यक्ति जो दस-बीस पुस्तकें पढ़कर पांडित्य का प्रदर्शन करते हुए धर्म-प्रचार के उद्देश्य से घूमते-फिरते रहते हैं उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था।

वे स्वभावतः योगी थे और विशुद्ध योगी थे। इसीलिए उनकी बातें सब के मन को छूती थीं, आन्दोलित करती थीं। धर्म एव ईश्वर-साधना की आड़ में कपटता, प्रवंचना, बनावटी साधुता, छल-छद्म, अन्धविश्वास, दकियानूसी आदि के वे प्रबल विरोधी थे। इनके प्रति वे हमेशा विवेक एवं वैचारिकता के साथ खड्ग हस्त रहते थे और कभी भी इन्हें प्रश्रय नहीं देते थे।

भारतवर्ष के वीतराग एवं वाङ्मय आकाश में उनके आविर्भाव से यहाँ के लोगों के मन में एक आश्चर्यजनक आध्यात्मिक संदीप्ति का उदय हुआ था। यही कारण है कि भारतवासियों ने अपनी आध्यात्मिक

एवं ईश्वर चेतना से जुड़ी अतृप्त प्यास को बुझाने के निमित्त उन्हें अपने मन में बसा लिया। वे सत्य के यथार्थ द्रष्टा और उपासक थे। इसीलिए वे विशुद्ध भारतीय योगी हो पाये थे। उनकी दृष्टि में, हिन्दू, मुसलमान क्रिश्चियन आदि का भेद-भाव नहीं था। उनका कहना था कि समस्त मनुष्य जाति ही ईश्वर की सन्तान हैं, सभी ईश्वर साधना के अधिकारी हैं और सभी को इस योग साधना का अधिकार प्राप्त है। इसीलिए उन्होंने विश्व के समस्त पापियों को अभय देते हुए कहा कि न तो कोई पापी है और न तो कोई पुण्यात्मा ही है। कूटस्थ में मन की स्थिति होने से पाप का कहीं कोई संस्पर्श नहीं। यदि कूटस्थ में मन स्थित नहीं है तो वही पाप है। इस प्रकार की बातें वे निःसंकोच कह पाए थे। यह केवल कथन ही नहीं था बल्कि उन्होंने अपनी साधना के माध्यम से इसे यथार्थ में परिणत किया था इसीलिए सभी धर्मों के लोग समान रूप से उन्हें सम्यक दृष्टि सम्पन्न योगी के रूप में अपनी श्रद्धा निवेदित करते थे। उन्होंने अपनी साधना के द्वारा समस्त हिन्दू देव-देवियों को देखा—खुदा अल्लाह को भी देखा। और इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने बताया कि यथार्थतः ईश्वर क्या है अथवा खुदा या अल्ला क्या है? ऐसे कितने योगियों ने इस प्रकार की बातें कहने का साहस जुटा पाया है? यही कारण है कि उनकी अमृतमयी वाणी ने सबके हृदय में ईश्वर-साधना के प्रति एक अटूट एवं स्थिर, दृढ़ विश्वास की सृष्टि की है।

योगिराज कहा करते थे कि मानव समाज में प्रचलित संस्कारों को परिवर्तित करना उचित है। अनेक क्षेत्रों में वे कुसंस्कार के रूप में दीखते हैं। धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को ही एकमात्र आधार मानना उचित है। उन्होंने साथ ही यह प्रचारित किया कि प्राचीन धर्मग्रन्थों की स्वतंत्र रूप से आलोचना करके उसके भीतर से साधना द्वारा उपलब्ध यथार्थ गूढ़ तत्वों का उद्धार किया जाना चाहिए। वे इस बात को कहते ही नहीं बल्कि उन्होंने अनेक प्राचीन शास्त्रों की गूढ़ साधना के बारे में तात्विक व्याख्या भी प्रस्तुत की है जो साधकों के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है। उन्होंने गीता की यौगिक व्याख्या करके कई सौ पुस्तकें मुद्रित करवा कर भक्तों में वितरित किया था। इस प्रकार वे धार्मिक अन्धविश्वासों से कटकर उनके पुनः संस्कार की दिशा में प्रयत्नशील थे। उन्होंने ऋषियों की इस भूमि में आविर्भूत होकर एक ऋषि के रूप में सब को अपने प्राचीन आदर्शों के अनुसरण करने की प्रेरणा दी है। धर्म के यथार्थ स्वरूप एवं गृहस्थ जीवन के साथ आध्यात्मिक जीवन का समन्वय पहले अपने जीवन में स्थापित करने के पश्चात् उसे सहज एवं सरल ढंग से व्यक्त करके आज के मनुष्य को एक नये जगत

की सूचना एवं सन्धान दिया है। प्राचीन योग शास्त्रों एवं ऊँचे आदर्शों को किस प्रकार जीवन में उतारा जा सकता है उसकी उन्होंने शिक्षा दी है। सांसारिक प्रपंचों एवं व्यस्तताओं के बीच रहकर भी व्यक्ति किस प्रकार आध्यात्मिक जगत के श्रेष्ठ आदर्शों की भूमिका में जीवन का संचालन कर सकता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर पहुँचा जा सकता है—इस सन्दर्भ में उनका जीवन ही एक जीवन्त प्रमाण है। भोग-लिप्सा में मतवाले अन्धे मनुष्य के सामने उन्होंने जिस सात्विक, सहज मार्ग को प्रशस्त किया है उसे गृहस्थाश्रमी व्यक्ति कभी नहीं भूलेंगे।

इन दिनों मानव समाज में धर्म के गूढ़ रहस्य की जानकारी प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा दिखाई दे रही है। वर्तमान युग में प्रचार की दृष्टि से इस महान आध्यात्मिक शिक्षक के चरित्र एवं उपदेश की विशेष रूप से चर्चा होनी चाहिए। पुरी, काशी, हरिद्वार, बाँकुड़ा, विष्णुपुर राँची, मान्दार, फैजाबाद मालीपुर, झाड़ग्राम, देवघर, हवड़ा और कलकत्ता आदि अनेक स्थानों पर उनकी समाधि एवं स्मृति मन्दिर की स्थापना की गई हैं एवं उनके भक्त आज भी उन स्थानों पर नित्यपूजा एवं श्रद्धा प्रदर्शन के द्वारा उनकी पावन स्मृति की रक्षा कर रहे हैं। भारतवर्ष के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों में भी उनकी वाणी का प्रचार हो रहा है।

योगिराज को केवल हिन्दू समझ कर उनपर विचार करना अन्याय होगा। उनके व्यक्तित्व में कहीं कोई संकीर्णता का आभास तक नहीं था। वे मानवधर्म अथवा मानवता के मूर्त्त प्रतीक थे। वे कहा करते थे कि इस अमर योग-साधना को सम्पन्न करने के लिए एक मनुष्य जन्म और सदिच्छा की आवश्यकता है। जिनमें यह सदिच्छा है वे अनायास ही इसकी साधना कर सकते है। मनुष्य चाहे जिस भी धर्मभावना से जुड़ा हो; किन्तु उसके भीतर जो शाश्वत आत्मा विराज-मान है वह एक ही है। उन्होंने वेद उपनिषद एवं गीता की उसी महान् वाणी की पुनर्घोषणा करके विभिन्न धर्मों के संगम का पथ प्रशस्त किया है। इसीलिए देखने में आता है कि हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन आदि सभी धर्मों एवं वर्णों के लोगों ने उन्हें अपना आश्रय बनाया था। इसलिए आज के इस कलह-पूर्ण दूषित वातावरण में एकमात्र उनका आदर्श ही मनुष्य का सहारा है।

इस जड़वादी या भौतिकवादी युग में उन्होंने अध्यात्म चेतना का एक उच्च एवं जीवन्त आदर्श हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। भौतिक सम्पन्नता एवं वैभव के अतिरिक्त मनुष्य की चरम एवं परम

कामना की एक वस्तु है आत्ममुक्ति। वह आत्ममुक्ति ही मनुष्य का काम्य है और ससारी व्यक्ति किस प्रकार उस शाश्वत एवं अव्यय पद को प्राप्त कर सकता है—इस चिरन्तन सत्य की ओर उन्होंने सब की दृष्टि आकर्षित की है। इसीलिए वे गृहस्थों के मुक्तिदाता या भगवान हैं।

अनेक ऊँचे महान आदर्श हैं जिन्हें केवल मुट्ठी भर तेजस्वी व्यक्ति ही अपने जीवन में उतार पाते हैं। ये आदर्श सर्वसाधारण के पक्ष में उपयोगी नहीं हैं बल्कि हम तो उस आदर्श को ही श्रेष्ठ आदर्श मानते हैं जिसे हर वर्ग के लोग थोड़ी चेष्टा करने पर ही अपने जीवन में रूपायित कर सकें। श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय ने ऐसे ही आदर्श की चर्चा की है। वे केवल उस प्रकार के आदर्श की चर्चा करके ही निवृत्त नहीं हो गए बल्कि अपने जीवन में उसे रूपायित करके प्रमाणित भी किया है। वे कहा करते थे कि सही सटीक कर्म के माध्यम से ही अपने अपने जीवन का गठन करना होगा। संसार कर्मस्थल है। कर्म के अलावा और कोई उपाय नहीं। संसार में रहने के लिये किसी वस्तु का त्याग सम्भव नहीं और ससार का त्याग उचित भी नहीं। क्योंकि यहीं तो सभी जन्मते है और जिन्दा रहते हैं। इसलिए सबके बीच रहकर बिना किसी का त्याग किए सही कर्म द्वारा जीवन का धीरे-धीरे गठन करके जो जीवन का चरम एवं परम काम्य है किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है उन्होंने उसी का निर्दिष्ट सटीक सही तथा विज्ञान सम्मत मार्ग सबक लिये प्रशस्त किया है जो आज प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रयोजनीय है।

भारतवर्ष योगियों का देश है। सनातन अथवा शाश्वत धम का मेरुदन्ड योग है। योग के अतिरिक्त उसकी जानकारी संभव नहीं और सहज, शाश्वत और सनातन धर्म की जानकारी के अभाव में आध्यात्मिक भारत को नहीं ज़ाना ज़ा सकता। इसीलिए आध्यात्मिक भारत को जानने के लिए पहले भारत के योगियों को जानना होगा और योगियों को जानने समझने के लिए उनके द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करना होगा। यही कारण है कि भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र को योगी होने का उपदेश दिया। उन्होंने तपस्वी, ज्ञानी कर्मी सब की अपेक्षा योगी को श्रेष्ठ बताया। ऐसे सनातन भारतवष कें लोग यदि भारतीय योगियों को नहीं जानते और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुशरण नहीं करते तो यह निश्चित है कि जन्मसूत्र से भारतीय होने के वावजूद वे यथार्थतः भारतीय नहीं कहे जा सकते। योग ही भारत की मूल चेतना एवं प्राण है। योग के बिना भारत एवं भारत के अतिरिक्त योग की कल्पना सम्भव नहीं।

प्रत्येक जाति या देश की एक स्वकीय चिन्तनधारा है जिससे उस जाति का कल्याण सिद्ध होता है। भारतवर्ष की भावधारा या चिन्तन धारा अध्यात्म विद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या अथवा योगविद्या है। ऋषियों द्वारा संरक्षित एवं समादृत तथा प्रदर्शित आत्मविद्या अथवा योगविद्या जन साधारण की दृष्टि से दूर होने के वावजूद भारत-वासियों की शिराओं में अन्तःसलिला नदी की धारा जैसी सतत प्रवहमान है। वह लुप्त प्राय आत्मविद्या कुछ इने-गिने योगवेत्ताओं तक ही सीमित थी। योगिराज जानते थे कि इस आत्मविद्या रूपी महान एवं अमर योग साधना के बिना भारतवासियों का जीवन पूर्ण नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने इस जातीय अथवा राष्ट्रीय सम्पदा को पर्वत की गुहाओं से बाहर लाकर विना किसी भेद-भाव के तथा जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय से अलग सब के बीच बाँट बिखेर दिया। पहले इस आत्म विद्या की प्राप्ति के लिए अनेक लोगों को ही घर-संसार छोड़कर गुफाओं में साधना-रत साधु महात्माओं के पीछे भागना पड़ता। किन्तु योगिराज ने ही सर्व प्रथम ऋषियों द्वारा प्रदर्शित आत्म तत्त्व रूपी अमर योग साधना को उन संसारी व्यक्तियों तक पहुँचाया जिनका जीवन नाना प्रकार की समस्याओं से आक्रान्त रहा करता है। इस प्रकार उन्होंने इस कार्य के द्वारा देश एवं जाति के जीवन में प्राण का संचार किया है। उनकी ही कृपा से यह विद्या सर्वसुलभ हो पाई है। तमाम लोग उनके ही माध्यम से ऋषियों द्वारा दिखाए गये इस मार्ग को पुनः प्राप्त करके धन्य हुए हैं। उन्होंने जिस आध्यात्मिक दीप को प्रज्ज्वलित किया वह आज लाखों मनुष्यों के हृदय में प्रकाशमान है। यह अध्यात्मज्योति उनका एक अद्वितीय एवं उज्ज्वल अवदान है। सचमुच अर्जुन रूपी इस महान गृही योगी ने कृष्ण रूपी बाबाजी महाराज की प्रचेष्टाओं को क्रियान्वित करने और उसे सार्थक रूप प्रदान करने में अपने सामर्थ्य का परिचय दिया है। जीवन्मुक्त महापुरुष हमेशा त्रितापदग्ध अर्थात् दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से पीड़ित सांसारिक प्राणियों के कल्याण की कामना किया करते हैं और समय समय पर इन्हीं प्रयोजनों के कारण अपने एकान्त निर्जन साधना स्थलों से बाहर बस्तियों में आकर सांसारिकता के प्रति अत्यन्त आसक्त लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। प्रयोजन वश वे साधना की यथार्थ रूपरेखा का निरूपण एवं पथ-प्रदर्शन करने के लिए जनसाधारण की दृष्टि से दूर बाहर आकर गृहस्थों के साथ हिल मिल जाते हैं, यही भारतीय संस्कृति की धारा है। जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और चिन्मय आत्मसत्ता एक समय श्री श्री बाबा जी महाराज के सहयोगी के रूप में हिमालय की

निर्जन गुहा में समाधिमग्न थी; वही लोक कल्याण के लिए एवं लोक स्थिति की रक्षा के लिए पूर्वदेह त्याग कर श्यामाचरण के रूप में देह धारण करके इस जगत में अवतीर्ण हुई। नये प्रयासों एवं उपायों द्वारा सांसारिक बँधन में बंधे जीवों को जीवन्मुक्ति का निश्चित मार्ग दिखाने के लिए कालचक्र के आवर्तन से एवं योगोक्त सही मार्ग पर श्री श्री बाबाजी महाराज के साथ उनका पुनर्मिलन होता है एवं उनके जन्म जन्मान्तर का संचित आध्यात्मिक पुनर्जागरण होता है। वह अतिमानव साधारण मनुष्य के वेश में साधारण लोगों की तरह जीवन यापन करते हुए भ्रान्त मानव को फिर एक बार अमृतत्व प्राप्ति का सहज एवं प्रशस्त मार्ग दिखलाता है। जब भी जहाँ धर्मग्लानि की स्थिति दिखाई देती है, तभी वहाँ इन सब महात्माओं का आविर्भाव होता है एवं वे मार्ग के तमाम संकटों एवं बाधाओं को दूर करते हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों एवं पद चिन्हों का अनुसरण करने वालों को आश्वासन देते हुए कहा है—' **जिसका बोझ वह खुद उतार लेगा। जो भगवान को हमेसा ध्यान करे उसको काम उह करता ह्याय।**" अर्थात् "जिसका बोझ है, वह खुद उतार लेगा। जो भगवान का हमेशा ध्यान करता है। उसका काम वह करता है।

— समाप्त —

परिशिष्ट (क)

योगिराज की जन्म पत्रिका

सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान युगतक भारतवर्ष की मिट्टी में एक अदृश्य शक्ति की लीला आश्चर्य रूप से नीरवता के साथ भास्वर है। इस अदृश्य शक्ति को धर्मशक्ति, धर्मज्ञान आत्मज्ञान अथवा विराट ईश्वर के रूप में मनुष्य के छोटे-से आँगन में उतार लाने का प्रयास निरन्तर जारी रहा है। इसीलिए सम्भवतः भारतवर्ष का एक दूसरा नाम धर्मक्षेत्र है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम आश्वासन—'सम्भवामि युगे-युगे' इसीलिए सम्भवतः भारत के आकाश-वातास, अन्तरिक्ष और धरती के कण-कण में रूप धारण करता रहा है। हजारों वर्ष का इतिहास इसका साक्षी है।

ऐसे ही एक महामानव का आविर्भाव बंगाल के कृष्णनगर के समीप घुरणी ग्राम में बंगाब्द १२३५ आश्विन महीने की १६ तारीख दिन

मंगल अपर पक्ष की सप्तमी तिथि को श्रीयुक्त गौरमोहन लाहिड़ी के औरस पुत्र के रूप में माता मुक्तकेशी देवी के गर्भ से हुआ था। और जैसे शाश्वत गीता की वाणी मूर्त्त हो गई।

'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन॥

गीता : ६।४६

योग-साधना के इस मंत्र द्वारा ही श्यामाचरण दीक्षित हुए थे। साधना की इस वेदी पर ही उनका समस्त जीवन-तन-मन प्राण उत्सर्ग हुआ था। और वे योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी के रूप में ख्यात हुए। ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से भी उनके अध्यात्म जीवन और ज्योतिर्मय स्वरूपता का परिचय मिलता है।

इस लोकोत्तर महापुरुष के राशिचक्र का यथार्थ ज्योतिष-विचार या व्याख्या (Astrological Interpretation) करना मेरा कार्य नहीं है। उन्हीं की कृपा से जितनी भी जानकारी है साहस के भरोसे लिपिवद्ध किया है। श्रीयुक्त लाहिड़ी महाशय की लग्न तुला (Libra) है राशि मिथुन (Gemini है और नक्षत्र मृगशिरा है। मृगशिरा का धर्म अन्वेषण एवं खोज है। अर्थात् जातक जैसे किसी को खोजता है. चाहता है और न जाने क्या खोजता है। और मिथुन का आनन्द उसकी सृजनशीलता और प्रकाश धर्मिता के भीतर है। एक भाव, एक Abstract idea वह अत्यन्त concrete रूप से व्यक्त करना चाहता है। Alan leo की भाषा में—Gemini, the Synthesiser manifests the combination of the two adaptibility and intellect. So Gemini produces enthusiastic Impressionable Sympathetic and versatile men and women. The Dharma of Gemini is motive" एक बार वह चारों तरफ फैलता जा रहा है और फिर अपने भीतर ही सिमटकर वापस आ जाता है। पुरुष की सृष्टि-शक्ति और नारी की आधारशक्ति की अभिव्यक्ति एक साथ निरन्तर करता जाता है। अपने ईर्द-गिर्द की छोटी-सी छोटी बातों के सम्बन्ध में भी अत्यन्त सतर्क रहता है। सदैव जाग्रत विचार शक्ति, अनुभव क्षमता, मननशीलता, ध्यान धारणा एवं सर्वोपरि मानसिक इच्छा शक्ति का वह प्रतीक है।

लग्न तुला है। जिसकी गति वायु की गति का स्मरण करा देती है। जो काल के क्षण-विन्दु के भीतर भी अनन्तगामी है। उसके भीतर शीतलता है; कमनीयता है, कोमलता एवं युक्ति या तर्कवाद है (Rationalism)। हर समय तर्क की कसौटी पर कसकर जिसकी यात्रा

शुरू होती है। किन्तु लग्नाधिपति अथवा लग्नेश शुक्र हैं जो संजीवनी मंत्र के उदगाता हैं जिनके संस्पर्श से अचेतन जड़ भी प्राणवान हो जाता है। और जो कठिन तथा दुरूह शास्त्र ज्ञान एवं दुर्लभ अनुभूति को वास्तविक सहज, सरल प्रायोगिक कुशलता के साथ विकसित करने में सक्षम हैं तथा इन्द्रियग्राह्य पार्थिव वस्तु के प्रति जो सचेतन हैं, वस्तुतः विश्वस्त एवं सस्पृह भी हैं। उन्हीं भार्गव के प्रभाव से ही योगिराज सांसारिक बन्धन में आबद्ध जीविकोपार्जन में रत पूर्ण-काम थे। नवमस्थ तथा भाग्यस्थ चन्द के ऊपर लग्नस्थ वृहस्पति की नवम्‌दृष्टि ने उन्हें एक साथ संसारी किन्तु संन्यासी, सकाम किन्तु निष्काम; भोगी किन्तु त्यागी पार्थिव किन्तु अपार्थिव आनन्द का अधिकारी बना रक्खा है। लग्न से चौथा पंचमेश शनि सर्वप्रधान ग्रह है। जो जल की राशि कर्क में स्थित और लग्नेश शुक्र से युक्त है। शनि मृत्यु कारक; दुःखवादी; कठोर तपोव्रती (Symbols of Austerity) 'तपसादग्धदेहाय'। तीव्रतम एकाग्रता; पवित्रता; सतता निष्ठा; प्रज्ञा; ज्ञान (wisdom) मेधा; आत्माराम अवस्था कठोरतम अनुशासन (Strictest discipline) सभी कुछ शनि की देन है। शनि की कृपा बिना लाल चरणों का दर्शन असम्भव है। इस प्रकार शनि महाराज शुक्रयुक्त होकर दशम स्थान केन्द्र में चन्द्र के घर में अवस्थित होकर स्वघर में चतुर्थ स्थान में तथा मकर पर दृष्टि-पात कर रहे हैं। उनकी और दो दृष्टि कन्या और मेष में क्रमशः लग्न के बारहवें और सातवें केन्द्र में एवं उक्त दशमेश भी फिर नवम में बुध के घर में (कोने में) अवस्थित हैं। उक्त बुध फिर लग्न में। केन्द्र में वृहस्पति युक्त स्थिति में शुक्र के घर में है। केन्द्र एवं कोण का मिलन ही राजयोग है। शुक्र एवं शनि का अवस्थान एवं उसके साथ वृहस्पति बुध एवं चन्द्र के सम्बन्ध सूत्र ने ही अथवा योग ने ही जातक को योगसाधना के क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित या आसीन किया है और उस सिंहासन को सुदृढ़ किया है। शुक्र काम, शनि भी काम; इसीलिए उन्होंने आजीवन नशे की वस्तु ही खोजा है। सुख उन्होंने भी चाहा है। रूप रस गंध स्पर्श से परे जो एक अमर्त्य लोक हैं जहाँ उस आनन्दलोक में भक्त भगवान का निरन्तर मानस-मिलन होता है उसी आनन्दघन दिव्य लोक में श्यामाचरण निरन्तर तैरते रहे, विचरते रहे।

श्री गुरुदास चक्रवर्ती
१५३, महाराजा नन्दकुमार रोड (साउथ)
कलकत्ता-७०००३३

परिशिष्ट (ख)

योगिराज की वंश तालिका

Scanned by CamScanner
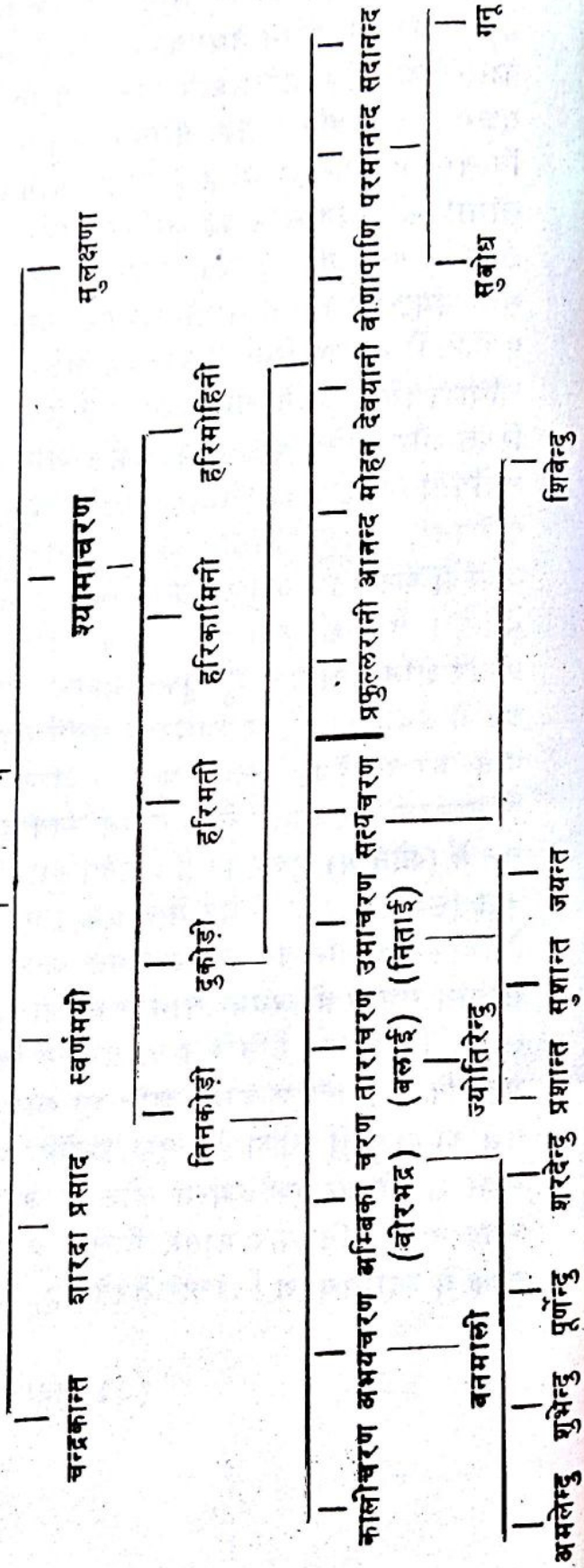
परिशिष्ट (ग)

काशीमणि देवी की वंश तालिका
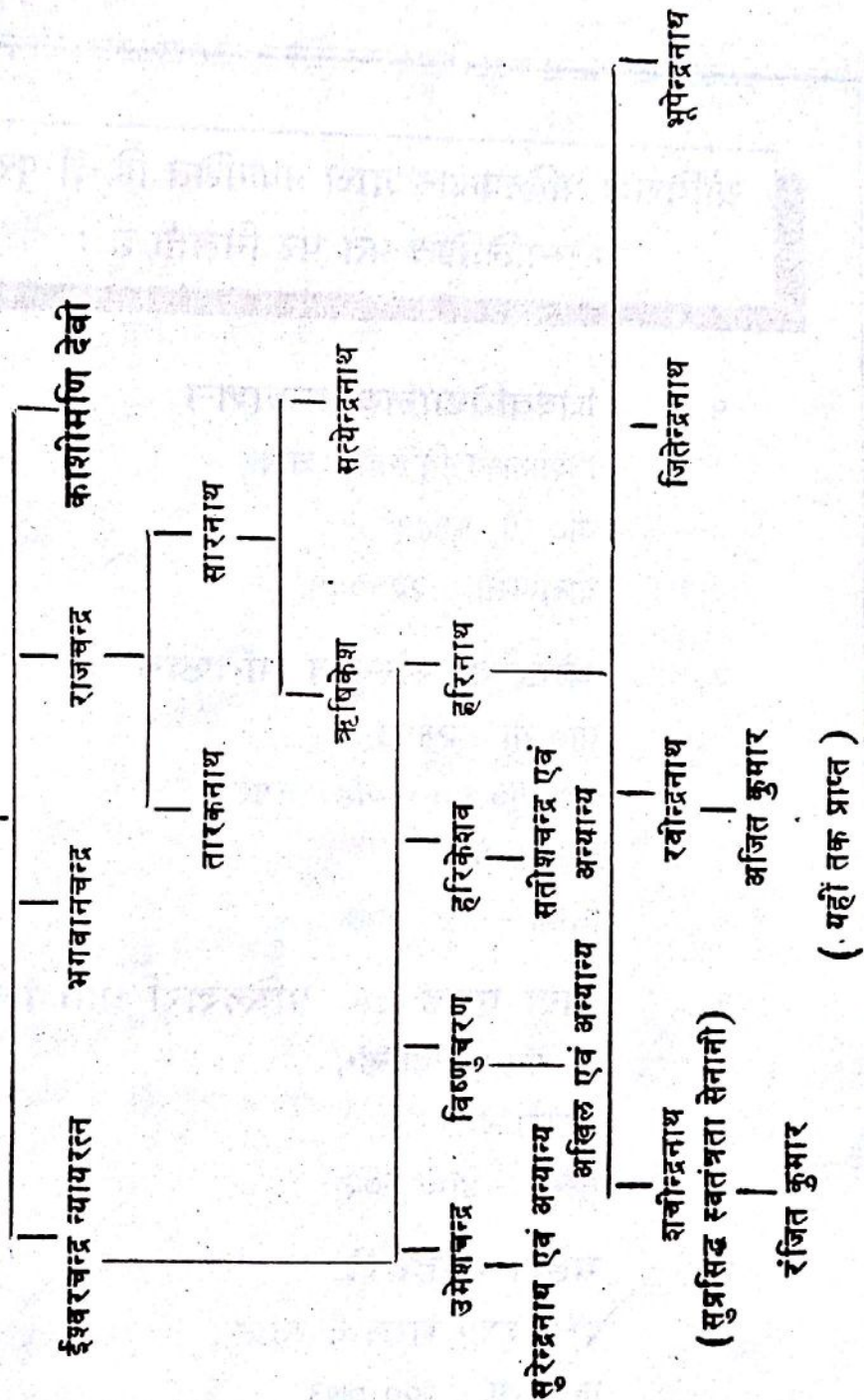
भाषाओं में इनके ग्रन्थ अनुवादित व प्रकाशित हो चुके हैं। लोग सटीक क्रियायोग का संधान पा सकें इस उद्देश्य से इन्होंने स्थापना की है द० चौबीस परगना के काकद्वीप में 'योगिराज श्यामाचरण सनातन मिशन' की। परवर्ती काल में फ्राँस के लेमों शहर के उपकण्ठ में इसकी एक शाखा खोली गयी जिसके ये Spitirual Director हैं। अगणित आर्त एवं पीड़ित जन की सुचिकित्सा एवं उनमें अन्न व वस्त्र वितरण में ये सदा ही नियोजित रहते हैं।

फ्राँस के भैल सेंट ह्यूगन शहर में महात्मा दलाई लामा की परिचालना एवं UNO, UNESCO, UNCHR के सीधे तत्वावधान में विगत सन् १९९७ में आयोजित विश्व-धर्म महासभा में एकमात्र आमंत्रित भारतीय प्रतिनिधि के रूप में योगदान कर इन्होंनें भारत के सनातन योगधर्म को उदात्त कण्ठ से विश्ववासियों के समक्ष प्रतिस्थापित किया। इनके असाधारण पाण्डित्य एवं वाग्मिता से मुग्ध हो सम्मेलन में योगदानकारी भिन्न भिन्न धर्मो के प्रतिनिधियों वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं समुपस्थित समस्त दर्शकों व श्रोताओं ने इन्हे Wise Worthy Dignified Sage, Seer, Visionary के रूप में विभूषित किया था।

इस महाज्ञानी की जागतिक मानव सेवा, अध्यात्म सेवा एवं साहित्य सेवा से मुग्ध हो तिरूपति राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय ने हाल ही में इन्हें 'वाचस्पति' (D. Litt.) उपाधि से विभूषित किया है।

(१) क्रिया सत्य है और सब मिथ्या हैं। क्रिया का अभ्यास ही वेदपाठ है। क्रिया ही यज्ञ है। यह यज्ञ सबको करना चाहिए।

(२) तुम लोगों के कूटस्थ के भीतर ही मैं सर्बदा हूँ।

(३) तुम सब यदि सच्चे विश्वास के साथ मेरी शरण का आश्रय लेते हो तो फिर मैं चाहे जितनी ही दूर कयों न रहूँ–उपस्थित होने के अलावा कोई उपाय नहीं। जो क्रिया करते हैं, मैं उनके निकट रहता हूँ।

(४) कोई पापी नहीं,कोई पुण्यात्मा भी नहीं। कूटस्थ में मनको रखने से पाप नहीं, उसमें मन न रखना ही पाप है।

(५) कोई भी म्लेच्छ नहीं मन ही म्लेच्छ है।

(६) इस शरीर में जो कूटस्थ हैं उन्हें जो गुरु के उपदेश के अनुसार नहीं देखते, वे अन्धे हैं।

(७) क्रिया करो एवं क्रिया की परावस्था में रहो। इससे अधिक कुछ नहीं।

–योगिराज